भारतीय संस्कृति के उपादान

लेखक
डी. एन. मजुमदार
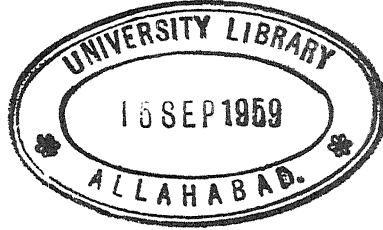
एशिया पब्लिशिंग हाउस
बम्बई · कलकत्ता · मद्रास · नयी दिल्ली

विषय-सूची

प्रजातियों के रेखाचित्र पृष्ठ ३२ और ३३ के बीचमें

प्रस्तावना

भारतीय नृतत्त्व पर एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता मैंने सदैव अनुभव की है जो भारतीय जीवन और उसकी समस्याओं को भली भाँति चित्रित कर सके। पिछले कई वर्षों से मैं ऐसे एक प्रकाशन की प्रतीक्षा करता रहा हूँ, परन्तु कोई विद्वान इस कार्य को पूरा करने के लिये सामने आते हुए दिखाई नहीं पड़े। अतएव हमने अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करना उचित नहीं समझा। साथ ही पिछले कुछ वर्षों में उत्तर भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयों ने अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को शिक्षा का माध्यम अपना लिया है। फलस्वरूप विद्यार्थियों को अंग्रेजी में लिखी गई पुस्तकों के समझने में, अत्यन्त कठिनाई होती है। यह कठिनाई वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकों को सम्बन्ध में और भी अधिक है। इसके अतिरिक्त यदि हम समाजोत्थान में नृतत्त्व की सेवाओं का पूर्ण लाभ उठाना चाहते हैं, जो कि वास्तव में सभी नृतत्त्वशास्त्रियों का प्रमुख उद्देश्य है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे शिक्षित नागरिक अधिक से अधिक संख्या में हमारे विज्ञान के मूल तथ्यों से परिचित हों। मेरे मत में विद्यार्थियों के लिये एक पाठ्यपुस्तक होने के अतिरिक्त उपर्युक्त आवश्यकता कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति एक अनूदित पुस्तक से होना सम्भव नहीं था। अतएव प्रस्तुत पुस्तक में मैंने भारतीय नृतत्त्व के आधारभूत तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पुस्तक केवल भारतीय प्रजातियों एवं संस्कृतियों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान ही प्रदान नहीं करती, वरन् इसमें आधुनिकतम अनुसन्धान के उन सब निष्कर्षों का समावेश है जिन तक पहुँचने में भारतीय एवं विदेशी दोनों ही विद्वानों ने योगदान दिया है। अतएव यह पुस्तक केवल एक अनुवाद मात्र नहीं है, यद्यपि इसमें मेरे द्वारा अन्य पुस्तकों में लिखे गये अनेक अंश सम्मिलित हैं। यह एक मौलिक रचना भी नहीं है क्योंकि इसका क्षेत्र केवल हमारे ही अनुसन्धान के निष्कर्षों तक सीमित नहीं है। यह एक पाठ्यपुस्तक भी नहीं कही जा सकती क्योंकि विषयों का चयन एवं विवेचन एक पाठ्यपुस्तक की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है। फिर भी मेरा विश्वास है कि पुस्तक उन सभी के लिये उपयोगी सिद्ध होगी, जो भारतीय जीवन की एक प्रारम्भिक रूपरेखा जानना चाहते हैं, साथ ही यह भी जानना चाहते हैं कि औद्योगिक उन्नति की ओर उन्मुख भारतीय समाज की सेवा में नृतत्त्व के अनुसन्धान और निष्कर्षों का किस प्रकार उपयोग हो सकता है।

सम्भवतः अनेक व्यक्ति हिन्दी में पुस्तक लिख सकने की मेरी क्षमता में सन्देह करेंगे। हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं है। इस भाषा का ज्ञान मैंने पिछले तीस वर्षों में

उत्तर प्रदेश में हिन्दी-भाषियों के सम्पर्क में रहकर प्राप्त किया है। परन्तु मेरी समझ में माध्यम—भाषा अथवा जो भी हो—जिसके द्वारा एक विषय व्यक्त किया जाता है उतना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितना स्वयं विषय का ज्ञान। अतएव लेखक का सबन्धित विषय का ज्ञान ही पुस्तक का मापदण्ड होना चाहिये। नृतत्त्व के क्षेत्र में तीस वर्ष तक सक्रिय रूप से लगे रहने से मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ है वह इस देश में अपेक्षाकृत कम लोगों को प्राप्त है विशेषकर जबकि नृतत्त्व हमारे देश में अभी शैशव अवस्था में ही है।

प्रस्तुत कार्य में मुझे नृतत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के अनुसन्धान के विद्यार्थियों एवं मेरे सहयोगियों से प्रेरणा मिली है। इस सम्बन्ध में मेरी रुचि को निरन्तर जागरूक रखने का श्रेय श्री रघुराज गुप्त एम. ए. को है। श्री गुप्त स्वयं समाज-शास्त्र पर अनेक उत्तम पुस्तकों के लेखक हैं। उन्होंने मेरे साथ इस पुस्तक की योजना पर विचार विमर्श किया और महीनों तक मेरे साथ बैठकर पुस्तक के पारिभाषिक शब्दों को अनूदित करने में सहायता की। पुस्तक लेखन के प्रयास में यह प्रथम चरण था। लेखन का दूसरा चरण कलकत्ता के श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन और मेरे बीच हुआ विचार विनिमय था, उन्होंने प्रथम लिपि को सुधारने का कार्य सहर्ष अपने ऊपर ले लिया। श्री रवीन्द्र कुमार जैन ने प्रेस के लिये पाण्डुलिपि तैयार की है। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी समानार्थक ढूंढ़ निकालने में बड़ी कठिनाई हुई परन्तु जिन शब्दों का प्रयोग हमने किया है उनके विषय में लखनऊ विश्व-विद्यालय से शिक्षाप्राप्त नृतत्त्ववेत्ताओं (लखनऊ स्कूल ऑफ एन्थ्रोपॉलोजी) और समाजशास्त्रियों में पर्याप्त मतैक्य है।

पुस्तक लेखन का तृतीय चरण कम महत्त्व का नहीं था। इस अन्तिम चरण में मुझे श्री कृपाशंकर माथुर एवं श्री गोपालशरण का हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ। इन्होंने इस योजना को साकार बनाने में कोई प्रयास उठा नहीं रखा। श्रीमती ईस्थर तिवारी ने प्रजातियों के एवं अन्य चित्रों को बनाकर मेरी अत्यन्त सहायता की है। श्रीमती तिवारी का सहयोग मुझे पिछले अनेक वर्षों से प्राप्त है। उन्होंने मेरी कई पुस्तकों के लिये अनेक चित्र बनाये हैं।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि मेरी पुस्तक नृतत्त्व को हिन्दी के विद्यार्थियों एवं प्रेमियों के लिये सुलभ बनाने में प्रारम्भिक प्रयास मात्र है। मेरा उद्देश्य अन्य विद्वानों का ध्यान एवं रुचि इस ओर आकर्षित करना है। यदि अन्य कुशल नृतत्त्व-विद निकट-भविष्य में इस दिशा में आगे प्रगति करेंगे, तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

लखनऊ, ५ जुलाई १९५८ डी. एन. मजुमदार

अध्याय १

प्रजाति और संस्कृति

हक्सले के अनुसार 'प्रजातीय अवधारणा को जहाँ तक मानव-समूहों पर लागू करने का सम्बन्ध है, प्रायः उसका कोई जैविकीय (Biological) अर्थ नहीं है,' क्योंकि साहित्य या समाज विज्ञानों में प्रजाति (Race) शब्द का प्रयोग किन्हीं निश्चित अर्थों में नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए, यह शब्द उस जनसंख्या विशेष के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जिसमें कुछ समान गुण या गुण-समूह पाये जाँय। श्वेत प्रजाति में ही कम से कम तीन पृथक् प्रजातीय धारायें (Strains) हैं जिनकी श्वेत त्वचा के भिन्न-भिन्न रंग हैं। अंगरेज, फ्रान्सीसी या चीनी कुछ ऐसे व्यक्तिसमूह हैं जो एक ही देश में पीढ़ियों से रहते आये हैं और इस कारण उन्हें प्रजाति कह दिया जाता है। हम पूर्ण मानव-समूह के लिए भी 'मानव प्रजाति' शब्द का प्रयोग करते हैं जिसे एकमूल्वादियों (Monogenists) या एक उत्पत्ति-स्रोत में विश्वास रखनेवालों ने एक ही पूर्वज की सन्तान माना है। सांस्कृतिक दृष्टि से समगुण (Homogeneous) समूह को भी प्रजाति कहा जाता है। हम सामरिक और असामरिक प्रजातियों की बात करते हैं मानों लड़ने की क्षमता अर्जित गुण और शिक्षा का परिणाम न लेकर जन्मजात है। प्रजाति शब्द के अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण ही हम आज यहूदी प्रजाति, एंग्लो-सेक्सन प्रजाति, जर्मन प्रजाति, इस्लामी प्रजाति इत्यादि की बात करते हैं। यदि एक प्रजाति के लोगों को शारिरिक लक्षणों से पहचाना जा सके तो वे एक प्रजाति का निर्माण करते हैं।

नृतत्त्व-साहित्य (Anthropological literature) में प्रजाति और राष्ट्र (Nation) इन दोनों शब्दों के अर्थ के बारे में काफ़ी अस्पष्टता है। कुछ नृतत्त्ववेत्ता प्रजाति और राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं मानते; किंतु कुछ इन दोनों को सर्वथा पृथक् श्रेणियाँ मानते हैं। उदाहरण के लिए, सर आर्थर कीथ प्रजाति और राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। उनके मत से राष्ट्र-प्रेम, यूथ-प्रवृत्तियों (Herd instinct), एकता की चेतना, आदि जो तत्त्व राष्ट्र के विकास के लिए उत्तरदायी हैं वही प्रजाति-निर्माण के लिए भी अनिवार्य हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में फिन (Finns) का उदाहरण दिया है। फ़िन और स्वीड (Swede) एक ही प्रजातीय स्कन्ध (Racial Stock) के हैं। फ़िनलैंड में हर दस आदमियों में से एक आदमी स्वीडिश भाषा बोलता है और फ़िनों का शारीरिक

प्ररूप स्वीडों के ही समान है। फ़िनी भाषा एशियाई परिवार की है और वह यूरोपीय परिवार से पृथक् होती जा रही है। आज फ़िनी एक राष्ट्र हैं और वे एक प्रजाति का विकास भी कर रहे हैं। वे अपने पद और स्वाधीनता की वृद्धि के लिए प्रत्येक आर्थिक हित की बलि देने को तत्पर हैं। विगत फ़िन-रूसी संघर्ष इस प्रजातीय विरोध अर्थात् प्रजाति निर्माण की दौड़ का उदाहरण है। इस प्रक्रिया को आत्मनिर्णय का मृदु नाम दिया गया है।

सर आर्थर कीथ प्रजाति और राष्ट्र को समानार्थक समझते हैं; किन्तु एच. जी. वेल्स और डा. पिडिङ्गटन उन्हें पृथक्-पृथक् चीजें मानते हैं। कीथ के मत में राष्ट्रवाद उन गुणों की अभिव्यक्ति है जो मानव-मस्तिष्क की क्रियात्मक संरचना में मूलबद्ध हैं, किंतु वेल्स उसे एक अन्ध विश्वास और युग-विरोधी चीज मानते हैं जिससे मनुष्य का यथाशीघ्र छुटकारा पाना ही अच्छा है। यूरोप में अतिशय-राष्ट्रवाद हिंसक-प्रजातिवाद के रूप में व्यक्त हुआ है, और कोई आश्चर्य नहीं कि प्रजातीय गुणों का वस्तुगत मूल्यांकन उस 'प्रजातिवाद' (Racialism) के पक्ष में त्याग दिया गया है जिसे हक्सले और हैडेन ने भयावह कल्पना की संज्ञा दी है।

परस्पर विरोधी मत रहते हुए भी प्रजाति और राष्ट्र दोनों ही जगत्-व्यवस्था और सभ्यता के विकास को प्रभावित करते रहेंगे। राष्ट्र एक प्रादेशिक कल्पना है—यह अपनी रचना में कृत्रिम और अपने बंधनों में मनोगत (Subjective) है। राष्ट्र का निर्माण करनेवाले समूह की निकटता, पीढ़ियों से अभ्यस्त जनता की एक समान भौगोलिक पृष्ठभूमि, तथा आधुनिक राजनीति द्वारा प्रोत्साहित समूह-भावना की अति-आदिकालीन भावात्मक प्रवृत्ति राष्ट्र-निर्माण के सम्मिलित तत्त्व हैं। एक राष्ट्र में विभिन्न प्रजातीय तत्त्वों का समावेश हो सकता है। अंगरेजों की भाँति यह संकर हो सकता है। जर्मनी की भाँति, यह नार्डिक (Nordic) और एलपाइन (Alpine) दो प्रजातीय प्रकारों या इटली की भाँति भूमध्यसागरीय आधार पर एल्पिनो-नार्डिक प्रजातीय तत्त्वों के समावेश का प्रतिनिधित्व कर सकता है। लोगों का खान-पान, इनकी वेश-भूषा, तीज-त्योहार, भवन-निर्माण-कला आदि राष्ट्रीय संस्कृति के भौतिक तत्त्वों का स्वभाव बहुत अंशों में भौगोलिक पृष्ठभूमि द्वारा निर्धारित होता है।

समूह-विशेष के व्यक्तियों में समगुणत्व (Homogeneity) के कारण उत्पन्न मानसिक समझौता तथा पारस्परिक आर्थिक लेन-देन और कर्त्तव्य-भावना एक प्रकार के राष्ट्रीय दृष्टिकोण को जन्म देती है जिसका अतिशय रूप यूरोप और जापान में सबसे अधिक देखा गया है। यह सब तत्त्व उस भौगोलिक समूह को अपनी छाप ही नहीं बल्कि कुछ और भी देते हैं। हाल में धर्म भी राष्ट्रीयता का एक आधार सिद्ध हुआ है और भारतवर्ष के भारत और पाकिस्तान में विभाजन ने, विशेष रूप से पाकिस्तान के लिए, धर्म की राष्ट्रीयता को स्थायी रखने का प्रबल साधन माना है।

यदि व्यक्तियों के एक समूह को समान शारीरिक लक्षणों के आधार पर अन्य समूहों से पृथक पहचाना जा सके तो चाहे इस जैविकीयसमूह के सदस्य कितने भी बिखरे क्यों न हों, वे एक प्रजाति हैं। प्रजातीय अन्तर वातावरण के प्रभावों से अप्रभावित विशेष आनुवंशिक गुणों (Hereditary traits) पर आधारित होना चाहिए।

कठिनाइयों से घिरी आज की दुनिया में अगणित समस्यायें हैं जो हमारे जीवन और हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विषम बना देती हैं। हमारे यहाँ विचारधाराओं, राष्ट्रों, दलों के भीतर और बाहर संघर्ष है; प्रजातीय और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह (Prejudices) और वर्ण-भेद हैं। जब तक कि यह केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं हमारे लिए चिन्ता का विशेष कारण नहीं है, किन्तु जब औपनिवेशीकरण (Colonialisation), प्रवास (Emigration), पृथक्करण (Segregation) या बस्तियों के सीमा-निर्धारण जैसी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक समस्याएँ संकीर्ण सूचनाओं द्वारा निर्णीत होती हैं, उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि वैज्ञानिक आगे आएँ और जनता को अपने क्षेत्र से सम्बद्ध समस्याओं के बारे में, विशेष कर जबकि उन्हें राजनीति के स्तर पर ले आया गया हो और गर्म बहस का विषय बना दिया गया हो, बतायें और समझायें। इसके अलावा भी, आनेवाली पीढ़ी के लिए मानव आनुवंशिकता (Inheritance) की समस्यायें इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि यह स्वाभाविक ही है कि जनता उनमें अभिरुचि ले। बिना प्रजातीय समस्या के ज्ञान के आधुनिक अनुवंश-विद्या (Genetics) के किसी भी विवरण की उपयोगिता सर्वथा अपूर्ण है। इसीलिए जनसंख्या में प्रजातियों और प्रजातीय तत्त्वों का अध्ययन आवश्यक हो गया है।

मापों के लिए सर्वमान्य प्रविधियों (Techniques) के अभाव और मनुष्य के विभिन्न शारीरिक गुणों के प्रजातीय महत्त्व के ज्ञान के अभाव के कारण ही प्रजाति-वैज्ञानिकों (Ethnologists) ने वर्गीकरण के लिए विभिन्न योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। लिनेअस और कुविये ने मानव समूह को तीन प्रजातियों में बाँटा है। हीकेल ने १८७३ ई. में १२ प्रजातियों की स्थापना की, किन्तु १८७८ ई. में उन्होंने इनकी संख्या ३४ तक बढ़ा दी। डेनिकर ने १३ प्रजातियाँ और ३० उप प्रजातियाँ (Sub races) ठहरायीं। सर आर्थर कीथ ने त्वचा के श्वेत, काले, पीले और भूरे रंगों के आधार पर एक चतुर्वर्गीकरण प्रस्तुत करके हमारे कार्य को सरल बना दिया और इस भिन्नता का मूल उन्होंने ग्रन्थियों (Glands) की क्रिया में ढूँढ़ा। फ़ॉन आइक्सटेड और ऑएगन फिशर यूरोपिड, निग्रिड और मंगोलिड तीन प्रजातियों को मानते हैं। पहले लेखक ने इन्हें १८ उप प्रजातियों में विभाजित किया है। ये अधिकांश योजनाएँ अंशतः शरीर रचना के गुणों (Morphological traits) और अंशतः भौगौलिक स्थिति पर आधारित हैं। कुछ वर्गीकरण विवरणात्मक लक्षणों पर आधारित हैं। डकवर्थ ने कापालिक परिमिति (Cephalic Index), जबड़ों के उभार (Prognathism) और कपाल के समावेश

(Cranial Capacity) के आधार पर मानव को ऑस्ट्रेलियन, अफ्रीकन नीग्रो, अण्डमानी यूरेशियाटिक, पॉलिनेशियन, ग्रीनलैण्डिश और दक्षिणी अफ्रीकन सात प्रजातियों में बाँटा। रोनाल्ड डिक्सन और गहरे पैठे और उन्होंने एक ही प्रजातीय स्कन्ध में भिन्न मौलिक प्ररूप (Fundamental types) पाये। जी. इलियट स्मिथ ने मानव जाति को ऑस्ट्रेलियन, नीग्रो, मंगोल, नॉर्डिक, एल्पाइन और भूमध्यसागरीय छः प्रजातियों में बाँटा और यह वर्गीकरण भावी विश्लेषण का आधार बना। मानव-समूहों के वर्गीकरण की विभिन्न योजनाओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि प्रजातियों के वर्गीकरण की समस्या का कोई हल नहीं है। किन्तु यदि हम संकरता (Hybridisation) को ध्यान में न लेते हुए एक ऐसी प्रणाली विकसित कर सकें, जिसके अनुसार संसार के लोगों को विशिष्ट समूहों में बाँटा जा सके, तो यही सम्भावना है कि यह प्रजातियाँ अतीत और आज के विभिन्न प्रादेशिक समूहों और राष्ट्रों से पृथक् होंगी।

प्राचीन लोग यूथों या क़बीलों (Tribes) के आधार पर संगठित थे। क़बीले एक भौगोलिक प्रदेश में राजनीतिक समूह थे। एक क़बीले के सदस्य एक ही भाषा बोलते थे। क़बीलों के केन्द्रस्थान नगरों में विकसित हो गये और क़बीलों की राजनीतिक शक्ति उन नगर-राज्यों में रूपान्तरित हो गई जो कि आज राष्ट्र हैं। सर आर्थर कीथ के शब्दों में 'बलात् एक साथ एकीकृत बृहत् क़बीले ही राष्ट्र हैं।' किन्तु एक ही प्रजाति विभिन्न क़बीलों के समूहों में विभक्त हो गई थी। इस प्रकार क़बीला और प्रजाति समानार्थक नहीं हैं। जबकि क़बीले की केन्द्रीय सत्ता ने नगर-राज्य को ढाला और अन्ततः आधुनिक राष्ट्रों को विकसित किया, विग्रह (Disintegration) की प्रवृत्ति ने कुलों (Clans और मूल क़बीली केन्द्रों से हट कर स्वतंत्र भाषा विकसित करने वाली प्रादेशिक इकाइयों में क़बीले के विभाजन को प्रोत्साहित किया है। भारत के सांसी, कर्याल, गोधिया, हबूड़ा इत्यादि विभिन्न खानाबदोश और भूतपूर्व अपराधोपजीवी क़बीले सभी एक या निकट प्रजातीय स्कन्ध के हैं, किन्तु विभेद द्वारा वे अनेक बार अपने नेताओं के आधीन प्रायः पृथक् भाषा-भाषी अन्तःविवाही (Endogamous) क़बीलों में पृथक् हो गये हैं। प्रदेश की स्थिति बहुत अंश तक क़बीली बंधनों को दृढ़ या छिन्न-भिन्न करनेवाली शक्तियों को ढालती है। इस प्रकार दुर्गम जंगलों और पहाड़ों में बसे क़बीलों की दूर-गम्यता और संचार (Communication) के अभाव ने उन्हें छोटी इकाइयों और टोटमी या स्वनामी कुलों (Totemistic or Eponymous clans) में विभाजित होने में प्रोत्साहित किया।

कृषि के विकसित होने पर जंगलों को पहले-पहल साफ करनेवाले भूमि के स्वामी हो गये। उनके बाद आनेवालों को प्रजा (Tenant) या दास (Serf) का दर्जा दिया गया। उस प्रकार क़बीली क्षेत्रों में आर्थिक वर्गों का दोहरा संगठन विकसित हुआ। मैदानों में जहाँ पशु-पालन ने उन्नति की या कृषि स्थिर खाद्य पूर्त्ति पर नियंत्रण

करने में सफल हुई, उनकी समृद्धि ने नये यूथों को आकर्षित किया और लोग संगठित समूहों में रहने लगे; रक्षा तथा संरक्षण की आवश्यकताओं ने राजनीतिक आकांक्षाएँ रखनेवाले संयुक्त शक्तिशाली क़बीली संगठन को स्थापित किया। सुरक्षा और छिपने के प्राकृतिक स्थानों के अभाव ने नये यन्त्रों और आक्रमण तथा रक्षा के उपकरणों के आविष्कार को प्रोत्साहित कर सभ्यता की आधार-शिला रखी। जबकि जंगलों और पर्वतों में बिखरे हुए समुदाय फले-फूले और अभी भी जीवित हैं, मिस्र, यूरोप और भारत के मैदानों में विभिन्न प्रजातियों और संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ और वहाँ से जीवन या जीवन-यापन की कला का विभिन्न दिशाओं में प्रसार हुआ। इस प्रकार अनेक क़बीले एक दूसरे के निकट आए और उन्होंने एक सम्मिलित संस्कृति, समान नियमों और प्रतिबन्धों, समान भाषा और समान चेतना का निमाण किया। इन सबने मिलकर उस राष्ट्रवाद की रचना की जो आज प्रादेशिक संकुल (Complex) कहलाता है।

* * * *

जीवित व्यक्तियों के कपाल या अन्य हड्डियों के ढाँचे के माप हमें तुलनात्मक तथ्य प्रदान करते हैं। इन प्राप्य मापों की निश्चितता ने नृतत्त्ववेत्ताओं को उन्हें अपनाने को प्रेरित किया है। प्रागैतिहासिक मनुष्य के अवशिष्ट कंकाल और उनके हाथ के बने उपकरण ही मानव वंश की उपलब्ध साक्षियाँ हैं। तुलनात्मक शारीरिकी (Anatomy) की आवश्यकताओं ने मानव-मिति (Anthropometry) और कपाल-मिति (Craniometry) को प्रोत्साहित किया है तथा उसके लिए विभिन्न प्रविधियाँ विकसित की गयी हैं। हाल में मानव-शरीर के मुलायम भागों, रक्त-समूहों (Blood-groups) यहाँ तक कि मानव-शरीर की रासायनिक क्रियाओं और दैहिकी (Physiology) के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। किन्तु अभी तक कोई भी सर्वमान्य प्रविधि विकसित नहीं की जा सकी है और तुलनात्मक सामग्री बहुत ही अल्प और अपूर्ण है।

नृतात्त्विक लक्षण दो प्रकार के होते हैं: निश्चित और अनिश्चित। निश्चित लक्षण वह हैं जिनका परिमाण आँका जा सकता है और जिन्हें गणित की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है, जबकि त्वचा, बाल या आँख का रंग ऐसे लक्षण हैं जिन्हें मापना कठिन है और जिन्हें संख्या में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि बालों के रंग या बनावट को मापने की दिशा में प्रयत्न किए गये हैं फिर भी ये प्रयत्न अल्पाधिक रूप में विवरणात्मक ही रहे हैं।

मनुष्य के शारीरिक लक्षणों की आनुवंशिकता के अध्ययन में अभी तक कपाल की लम्बाई-चौड़ाई, नाक की शक्ल या बनावट या क़द जैसे प्रजातीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

माने जाने वाले गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। 'यदि मनुष्य के जननिक (Genetic) विश्लेषण ने यथेष्ट प्रगति कर ली तो हम मानव समूहों को पृथक् करनेवाले सभी मुख्य वाहकाणुओं (Genes) के बारम्बारता (Hyphen) मानचित्र (Frequency-map) बना सकेंगे'। हाथ या पैर की अंगुलियों के असाधारण रूप से छोटे होने (Brachydactyly) या मन्दधीयता या पागलपन जैसे कुदुषजननिक (Cacogenic) अस्वाभाविक गुणों का अध्ययन हुआ है और यह पाया गया है कि वह आनुवंशिकता के मेंडेलियन नियमों (Mendelian laws) का पालन करते है। पशुओं और पौधों पर किए गए परीक्षणों का दूसरा ही दर्जा है। मनुष्य ऐसा प्राणी है जिस पर कठिनाई से ही परीक्षण किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रजातीय मिश्रण के परिणामों का अध्ययन एक या दो संकर पीढ़ियों से आगे नहीं किया जा सकता। यह भी तब किया जा सकता है जब कि इस अवधि में अन्वेषक की अभिरुचि समाप्त न हो जाय। प्रचलित विधि तो यह है कि माता-पिता और उनकी संतान, एक या भिन्न वातावरण में बढ़नेवाले भाई-बहनों या जुड़वाँ बच्चों के गुणों की तुलना की जाय। बोआस द्वारा आवासी (Immigrant) अमरीकनों के वंशजों के शारीरिक लक्षणों की प्रसिद्ध जाँच में यूरोप में जन्मे आप्रवासी और अमरीका में जन्मी उनकी संतान और पौत्र-संतान, अर्थात तीन पीढ़ियों के शारीरिक गुणों का अध्ययन किया गया था। दुर्भाग्य से नृतात्त्विक वर्गीकरण में प्रयुक्त होने वाले समस्त शारीरिक लक्षणों में जटिल बहुकारक आनुवंशिकता पायी जाती है; इनमें से प्रत्येक एक से अधिक वाहकाणुओं या इकाई कारकों से निर्णीत होता है। इस प्रकार यदि आनुवंशिकता ने इन जटिल लक्षणों का अध्ययन भी किया, तो इनका कोई पर्याप्त निर्णयात्मक मूल्य नहीं होगा।

शरीर निर्माण-क्रिया (Metabolism) और प्रजनन, रक्त में लाल कॉर्पूसल्स् (Corpuscles) की संख्या और हेमोग्लोबीन (Haemoglobin) के परिमाण, साँस की गति, जीवन-क्षमता और पेशियों की शक्ति में सामूहिक अन्तर पाये जाते हैं। इस जानकारी ने कुछ नृतत्त्ववेत्ताओं को इन लक्षणों को प्रजातीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानने की ओर प्रेरित किया है, पर क्लिनिकल गवेषणाओं ने यह सिद्ध किया है कि यह अन्तर अंशतः प्रोटीन के उपभोग, भोजन की आदतों और पोषण द्वारा निर्णीत होते हैं। शरीर की वृद्धि और प्रजातीय गुणों का नियंत्रण एक सीमा तक वृद्धि-नियंत्रण गुण-सम्पन्न हारमोन तैयार करनेवाली अधिवृक्क ग्रन्थियों (Endocrine Glands) द्वारा होता है। डबल्डे ने बताया कि वही अवस्थायें जो कि मृत्यु-दर को कम करती हैं, प्रजननता में भी कमी करती हैं। उनका कहना है कि हारमोन बीज-कोषों (Germ-cells) की प्रजननता को नियंत्रित करने में सहायता पहुँचाते हैं; अधिवृक्क ग्रंथियों द्वारा हारमोनों का उत्पादन, वातावरण द्वारा प्रभावित नाड़ी-संस्थान या चेतासंहति (Nervous System) द्वारा नियंत्रित होता है और वातावरण की क्रिया द्वारा प्रत्यक्ष प्रभावित

प्रजननता की सीमा के विपर्यय (Variations) का अनुपात चेता-शक्ति (Nervous energy) के विकास के विपरीत होता है'। सर आर्थर कीथ ने प्रजातीय अन्तरों को विभिन्न ग्रन्थियों के कार्यों में ढूँढ़ा। पौषणिक (Pituitary) ग्रन्थि की अधिक क्रियाशीलता कॉकेशी को उसका ऊँचा क़द, शरीर का भारीपन, ठोड़ी की प्रमुखता और मजबूत भौंहों का उभार प्रदान करती हैं; अन्तरालीय (Inter-stilial) ग्रन्थियों की अधि-क्रियाशीलता कॉकेशी को अधिक स्वस्थ आकृति, शरीर का द्रुत विकास और बालों की शीघ्र वृद्धि प्रदान करती है। वृक्कोपरि (Suprarenal) ग्रन्थियाँ शरीर और त्वचा के रंग की वृद्धि को प्रोत्साहित और विकास को नियंत्रित करती हैं। यह भी कहा जाता है कि रंग के बाहुल्य का अनुपात भी उस देश के प्रकाश के प्रत्यक्ष अनुपात में पाया जाता है जिसके अनुकूल मनुष्य के पूर्वजों ने सदियों और हजारों वर्षों में स्वस्थ और सक्रिय रह कर अपने को ढाल लिया है। नीग्रो का शरीर उष्ण कटिबन्ध के अधिक अनुकूल है, पर ठण्डे और समशीतोष्ण प्रदेशों में उसे उतनी ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह भी कहा जाता है कि नाक की बनावट, जो मनुष्य का सर्वाधिक स्पष्ट प्रजातीय लक्षण है, धरातल की ऊँचाई के साथ बदलती है, यद्यपि अभी तक चौड़े नथनों और ऊँचे धरातल के बीच कम सांख्यिकीय सह-सम्बन्ध (Statistical Correlation) पाया गया है। यदि हम यह मान भी लें कि ग्रन्थियों के कार्य की गति के अन्तर प्रजातीय विभिन्नताओं को समझा सकते हैं तो भी हमें यह समझना बाकी रह जाता है कि प्रजातियों के बीच और एक ही प्रजाति के सदस्यों में भी यह क्रियात्मक अन्तर क्यों पाये जाते हैं।

हाल में मनुष्य के कुछ शारीरिक गुणों का, जैसे कि कपास के लक्षणों का, जननिक दृष्टि से अध्ययन हुआ है, बहुत कुछ अभी अज्ञात है, किन्तु जितना भर ज्ञात है वह जननिक विपर्यय (Variations) को प्रजाति और प्रजातीय प्रकार पहचानने और पृथक् करने में पर्याप्त सहायक होने की सम्भावना की ओर निर्देश करता है। सह-सम्बन्ध (Correlation) के अध्ययनों ने कपाल की शक्ल की स्थिरता को सिद्ध किया है। पीयरसन और टिपेट का दावा है कि आयु का कपाल की शक्ल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, इंगलैंड में पेशेवर वर्गों के कपाल की शक्ल में विभिन्न आयु-कालों में उनकी कापालिक परिमिति (Cephalic Index) के विपर्यय की सीमा (Range) से विद्यार्थियों से अपराधियों और दस्तकारा में केवल ७८.८७–७८.११ थी। रगल्सगेट्स ने प्रजातीय अध्ययनों की खोजों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि न तो पालने (Cradle) के प्रभाव और न ही यूरोप के विभिन्न भागों से निष्क्रमण के प्रभाव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में कपाल की शक्ल के परिवर्तन की पर्याप्त साक्षी प्रदान करते हैं यद्यपि यह पाया गया है कि कुछ प्रजातियों द्वारा प्रयुक्त सख्त पालने की

किस्में कपाल के पिछले भाग को चपटा कर देती हैं। कून के अनुसार यहूदियों के चेहरे और शरीर पर एक विशेष प्रकार का भाव पाया जाता है जिसे आसानी से पहचाना जा सकता है, पर जिसे बताना मुश्किल है। पृथुकपालता (Brachycephaly) के प्रसार के सम्बन्ध में रगल्स गेट्स का कहना है कि पृथुकपालता सभी प्रजातियों में सम्भवतः निरन्तर उत्परिवर्तन (Mutation) द्वारा उदित होकर फैली है। वे पृथुकपालता में पृथुकपाल लोगों से अन्तर्मिश्रण के प्रभाव के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए केन्द्रीय यूरोप में यह ज्ञात है कि पृथुकपालता सामान्यनः दीर्घकपालता (Dolichocephaly) से अधिक प्रबल है किन्तु कुछ परिवारों में वह गौण (Recessive) भी पायी गयी है, विशेष कर अफ्रीकी प्रजातियों में डार्ट ने पृथुकपालता को दीर्घकपालता से पीछे पाया है। सबसे प्रारम्भिक लोग दीर्घकपाल थे। पृथुकपालता कपाल के चौड़े होने के बजाय सम्भवतः कपाल के सिकुड़ने से हुई है। लाप लोग (Lapps) छोटे सिर के होने के बजाय चौड़े सिर वाले हैं। गेट्स ने भी पृथुकपालता की प्रमुखता (Dominance) के महत्त्व को गलत ठहराया है। उनका कहना है कि प्रमुख (Dominant) कारक तब तक, जब तक कि गौण (Recessive) लक्षणों की तुलना में उनमें कोई लाभ न हो, नहीं फैलते। इस तरह एक प्रकार की चुनाव प्रक्रिया (Selective process) घटित होती है। जब तक ऐसा नहीं होता यह उत्परिवर्तन द्वारा दोहराई जाती है क्योंकि गौण लक्षणों के लिए उत्परिवर्तन की दर अधिक ज्यादा नहीं होती। उसकी बारंबारता (Frequency) ५०,००० या १०,००,००० में १ होती है यद्यपि किसी समय इससे अधिक उपस्थिति की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

यद्यपि हमारे पास शारीरिक गुणों या प्रजातीय महत्त्व के गुणों की आनुवंशिकता के सम्बन्ध में विश्वस्त न्यास (Data) बहुत कम हैं, हमारे पास ऐसा साहित्य प्रचुर मात्रा में है जिसमें कि मनुष्य के विभिन्न दृश्य-लक्षणों की प्रशंसा या निन्दा की गयी है। प्रजाति-वैज्ञानिकों ने इस बात के दर्शाने के सिलसिलेवार प्रयत्न किए हैं कि प्रजातियों के भिन्न गुणों में सभ्यताओं की बुनियादों को ढूँढ़ा जा सकता है। उनका दावा है कि श्वेत प्रजाति की आर्य-शाखा नॉर्डिक प्रजाति अन्य प्रजातियों की तुलना में उतनी ही श्रेष्ठ है जितना कि गली के सामान्य कुत्ते की तुलना में शिकारी कुत्ता। नॉर्डिक प्रजाति के लोग महत्त्वाकांक्षी हैं और वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए निरंतर प्रयत्न करते हैं। वे मानसिक और शारीरिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं और इस प्रकार जीवन-संघर्ष में जीवित रहने के सर्वाधिक योग्य हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में साम्राज्यवाद ने यूरोपी-अमरीकी ढंग के व्यक्ति-वादी-पूंजीवादी आर्थिक ढाँचे को विकसित करने के अतिरिक्त तीन अन्य परिणामों को को जन्म दिया। वह थे : प्रजातिवाद के सिद्धान्त, प्रसार (Diffusion) का सामाजिक

सिद्धान्त जो कि साम्राज्यवाद के समानान्तर था और उसका औचित्य सिद्ध करता था, और आदिम (Primitive) प्रजातियों के अधिक सावधानीपूर्ण और सही अध्ययन पर जोर, ताकि ज्योफ्रे गोरर के शब्दों में, 'साम्राज्यवादी अपनी औपनिवेशिक बस्तियों में बिना रक्तपात किए पराधीन प्रजा पर राज्य कर सकें'। श्वेत लोग उष्ण देशों में सस्ते मजदूर, बाजार और दास तथा समशीतोष्ण प्रदेशों में बसने के लिए स्थान चाहते थे। यह दोनों बातें इस पर निर्भर थीं कि तनाव और संघर्ष को हटाया जा सके और इसीलिए आदिम और पिछड़ी हुई जातियों के शासन के दायित्व के भार से मुक्त सरकारों में आदिम जातियों के अध्ययन को व्यावहारिक पद प्राप्त हो सका। प्रसार का यह सिद्धान्त कि सब सामाजिक उन्नति एक मूलस्थान (प्रायः मिस्र) से प्रारम्भ हुई है, एक विजेता शक्ति, प्रायः इंग्लैंड या जर्मनी द्वारा इस प्रक्रिया को दोहराने की एक बड़ी कैफियत थी। आदिम संस्कृतियों के हाल के अध्ययन; अब भी अर्द्धसभ्य माने जानेवाले मूलवासियों के प्रति गोरी जातियों की धारणा; भारत, मैले-नेशिया और आस्ट्रेलिया की आदिवासी (Aboriginal) जनसंख्या के वे अध्ययन दिखाते हैं कि आदिवासी परम्परागत प्रथाओं या संरक्षणात्मक पुरावृत्तों (Myths) से अरक्षित रहकर यौन विगठन या पारिवारिक विरोध को बर्दाश्त नहीं कर सकते—ये सब इस बात की साक्षी के रूप में प्रस्तुत किए गये हैं कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ औपनिवेशिक शासन में अत्यन्त योग्य हैं।

वाशे द लापूजा ने अपनी पुस्तक 'ला एर्यन सन रोल सोशल' *(L' Aryan son role Social)* में आज से लगभग पचास वर्ष पहले यह भविष्यवाणी की थी, "मेरा विश्वास है कि बीसवीं शताब्दी में लाखों व्यक्ति कपालसूचक अंकों में एक या दो अंशों का अन्तर रहने के कारण एक दूसरे का वध करेंगे। इस लक्षण द्वारा, जो कि बाइबिल के नारे और सम्बन्धी भाषा को हटा देगा, सम्बन्धित प्रजाति के लोग एक दूसरे को मान्यता प्रदान करेंगे और यह नई भावनाएँ राष्ट्रीय उच्छेद की सीमा तक ज पहुँचेंगी।" हाउस्टन स्टयूवर्ट चेम्बरलेन का कहना है कि शाश्वत पशुता से पीड़ित मानवता के उद्धार में जर्मन कबीलों की भूमिका के महत्त्व की उपेक्षा एक ऐतिहासिक असत्य है। हर्मन गाख का विश्वास था कि केवल नॉर्डिक प्रजाति ही, जो कि जर्मनी की आर्य प्रजाति है, शुद्ध उच्चारण कर सकती है और स्पष्ट आवाज निकाल सकती है जबकि अन्य प्रजातियाँ केवल पशुओं की भाँति हल्ला मचाती हैं। गोबल्स ने कहा: यहूदी एक आदमी है पर किस प्रकार का आदमी है? मक्खी भी एक पशु है। आर्थर गोबिनो का विचार था कि श्वेत प्रजाति की नॉर्डिक प्रशाखा के पास मूलतः सौंदर्य, बुद्धि, और शक्ति का एकाधिकार था किन्तु निम्न प्रजातीय स्कन्धों (Stocks) से मिश्रण द्वारा सौंदर्य के साथ शारीरिक बल की कमी, शक्ति के साथ बुद्धि की कमी, और बुद्धिमत्ता के साथ कुरूपता का सम्मिलन हुआ। पहली शताब्दी ई. पूर्व में सिसरो ने ऐटिकस से

कहा कि वह ब्रिटेन से दासों को ग्रहण न करे, क्योंकि वह इतने मूर्ख और शिक्षा के अयोग्य हैं कि उन्हें एथेन्स के घरों में स्थान नहीं दिया जा सकता।

विचारवान प्राणि-शास्त्रियों का मत है और अधिकांश नृतत्त्ववेत्ता उनसे सहमत हैं कि आनुवंशिकता (Heredity) के नियमों के समुचित ज्ञान के बिना प्रजातीय समस्याओं की विवेचना सम्भव नहीं है। साथ ही आधुनिक अनुवंश विद्या (Genetics) को मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रजाति समस्या की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अन्यथा प्रजाति शब्द से उत्पन्न भ्रांति जनता पर अपना बुरा और प्रतिकूल प्रभाव डालती रहेगी। आनुवंशिकता और प्रजातीय सम्बन्ध के बारे में यह भ्रांति कितनी खतरनाक हो सकती है? नाज़ीब्रान्ड के प्रजातिवाद से, जिसके परिणामस्वरूप लाखों यहूदियों और पोल लोगों को मौत के घाट उतारा गया, भली-भाँति प्रदर्शित हो चुका है। केवल नाज़ी और फासिस्ट ही इसके दोषी नहीं हैं। प्रजातीय पूर्वाग्रहों और प्रजातीय दंगों ने अमरीका को भी प्रभावित किया है। पिछले महायुद्ध में ऑस्ट्रेलियनों को जापानी स्त्रियों से मिलने की अनुमति नहीं थी और ऑस्ट्रेलिया और अमरिका में अन्तर्प्रजातीय विवाह मान्य नहीं है। शिंतो विवाह-पद्धति के अन्तर्गत विवाह करके ऑस्ट्रेलियन सिपाही सामाजिक विधान के उल्लंघन के दण्ड से बच जाते थे और जबकि जापान और ऑस्ट्रेलिया के बीच प्रजातीय सम्बन्ध अच्छे नहीं थे, जापानी ऐसे विवाहों को रखेल-प्रथा की भाँति तुच्छ दृष्टि से देखते थे। पिछले वर्षों में प्रजातीय दंगे अमरिका में काफी बढ़े हैं और उन्होंने इस समस्या की ओर अमरीकनों का ध्यान आकर्षित किया है। इस शोचनीय अवस्था पर अपने विचार प्रकट करते हुए प्रो. ऐशले मांटेग्यू ने लिखा : "अमरीका में हमें आशा है कि हम अपने यहाँ से प्रजातिवाद को खत्म कर देंगे किन्तु केवल आशा ही पर्याप्त न होगी। हमें क़दम उठाना होगा। ऐसा करने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि यह रोग क्या है और इसका सर्वोत्तम उपचार क्या है?" प्रत्येक विवेकशील स्त्री-पुरुष को प्रजातीय समस्या सम्बन्धी तथ्यों से अवगत होना चाहिए, ताकि वह बुद्धिमत्ता, योग्यता और मानवता की दृष्टि से उन पर विचार कर सके। जबकि प्रजातीय समस्या के वैज्ञानिक मूल्यांकन की आवश्यकता को अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है, अनेक जातियों में प्रजातीय पूर्वाग्रह और प्रजातीय अहंकार विकसित हो गया है जिसे वैज्ञानिक ज्ञान द्वारा शमन करने की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है जबकि हम प्रजातीय समस्या से सम्बन्धित तर्क और कुतर्क में भेद कर सकें। विभिन्न देशों में प्रजातीय मिश्रण पर पाबन्दी लगा दी गयी है, आवासन नियमों ने जनसंख्या की गतिशीलता को सीमित कर दिया है, काले अल्पसंख्यक लोगों के प्रति सेना, उद्योग और सामाजिक मेल-मिलाप में भी भेद-भाव किया जाता है। यहाँ तक कि इन देशों के सही सोचनेवाले व्यक्ति स्वयं अपने देशों में होनेवाले इन अन्यायों से अपने को लज्जित अनुभव करते है।

इस सम्बन्ध में सबसे बड़े अपराधी नृतत्त्ववेत्ता हैं। मनुष्य के परिमाणात्मक विवरण ने मानवमिति (Anthropometry) और कपालमिति (Craniometry) को विकसित किया, किन्तु कपाल की शक्ल का उद्देश्य शायद कभी भी सामाजिक पद, राजनीतिक अधिकारों और विशेषाधिकारों का निर्णय करना न था। नृतत्त्ववेत्ता प्रजातीय वर्गीकरण की किसी एक योजना से सहमत नही हैं, यह तथ्य स्वयं मानव प्रजाति को मापने की पद्धतियों की सीमितता को दर्शाता है। मानवमिति या मानवशरीरमिति (Somatometry) के प्रजातिवादियों द्वारा उन्हें प्रदत्त कार्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। उदाहरण के लिए एक प्रमुख अंग्रेज नृतत्त्ववेत्ता ने व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए मानवशरीरमिति की उपयोगिता को प्रदर्शित किया है। यह बताया जाता है कि युद्धकाल में इंग्लैंड की एयर मिनिस्ट्री की मेडिकल डायरेक्ट्रेट द्वारा की गयी मानवमितिक गवेषणा मुख्यतः चिकित्सा के बाहर की समस्याओं से सम्बन्धित थी। उदाहरण के लिए उड़ाके कार्यकर्त्ताओं की सुरक्षा, कल्याण और कार्यक्षमता उनकी शारीरिक अनुकूलता तथा उड़ाकों को जिन असाधारण अवस्थाओं में कार्य करना पड़ता है, उनकी परीक्षा और जानकारी और साथ ही हवाई जहाजों की बनावट उपकरणों इत्यादि पर निर्भर है। आधुनिक युद्धों की परिस्थितियों के लिए योग्यता और शारीरिक अनुकूलता की कठिन परीक्षाएँ आवश्यक हो गयी हैं ताकि विशिष्ट कार्यों के लिए उसके अनुकूल संरक्षित कार्यकर्त्ता नियुक्त किए जा सकें।

आज की प्रजातीय समास्याएँ प्रवास (Migration) और विभिन्न जनसमूहों के सम्पर्क का परिणाम हैं। पिछली तीन-चार शताब्दियों में उन्होंने एक रोग का रूप धारण कर लिया है। राजनीतिक इकाइयों ने पृथ्वीतल को आपस में बाँट लिया है। इनमें से कुछ हजारों, अन्य लाखों वर्गमील बड़ी है; कुछ इकाइयों में अत्यन्त उपजाऊ मैदान हैं जबकि अन्य रेगिस्तानों, दलदलों और पहाड़ों से भरपूर हैं। जनता के भौगोलिक को हमें प्रजातीय विस्तार से नहीं मिला देना चाहिए, क्योंकि आज के राष्ट्र मिश्रित प्रजातियों से बने हैं। यद्यपि शक्तियों के, विशेषकर श्वेतप्रजाति के सामूहीकरण में त्वचा के रंग का निर्णायक हाथ रहा है; आर्थिक विचारधाराओं ने विभिन्न प्रजातियों को एक ही राजनीनिक दायरे में ला दिया है और स्वयं एक ही प्रजाति राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए परस्परविरोधी दलों में बँट गई है। इसलिए जैविकी आधार पर राष्ट्रों का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता और न ही इसे सैद्धांतिक दृष्टि से सही कहा जा सकता है। एक जनता द्वारा एक भू-भाग पर बस जाना मात्र ही अनिवार्यतः बड़ी समस्याओं को जन्म नहीं देता। जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर विभिन्न वर्गों का प्रभाव और दबाव सम्भवतः विभिन्न समूहों में विरोध और संघर्ष की सृष्टि करता है। जनता की या शांतिप्रियता युद्ध को अनिवार्य या शांति को प्रमुख बनाती है। साम्राज्यवाद का शोषण-यन्त्र

प्रभुता और दासता दोनों को जन्म देता है तथा साथ ही संचार-साधनों का द्रुत विकास लोगों को एक दूसरे की उपस्थिति से अवगत कराता है। जन-संख्याओं की वृद्धि, उद्योगों का उत्थान और परिणामतः कच्चे माल की मांग, शहरों का विकास, योग्यता के मानों, क्रियान्वित कार्यों और रहन-सहन के स्तरों की वृद्धि; इन सबों ने संसार की जनता में एक असुरक्षा की भावना जागृत कर दी है; जिसने कि, उनमें हीनता और श्रेष्ठता के संकुल (Complexes) उत्पन्न किए हैं जो सामाजिक अभिवृत्तियों प्रजातीय अहंकार और वर्ग-संघर्ष को निर्धारित करते हैं। यह कहना कठिन है कि कहाँ तक नई आर्थिक विचारधाराएँ मनोविश्लेषण के पितृ-केन्द्रीकरण (Father-fix t on) पर आधारित हैं। फिर भी मनोविश्लेषक पूंजीपतियों या साम्राज्यवादियों से प्राधिकारानुवर्तनवादी (Authoritarian) कार्यों में अधिकार विहीन या निर्धनों के संरक्षक बनने की इच्छा देखते हैं। यह अधिकार विहीन और निर्धन लोग पितृ संकुल और उस सुरक्षा के विरुद्ध जो कि गरीबों को अधिक गरीब और धनवानों को अधिक धनवान बनाती है, विद्रोह करते हैं। कोई भी उस देश या राष्ट्र में निष्ठा नहीं रखेगा जो कि अपनी अतीत की सफलताओं, वीरता या श्रेष्ठता पर गौरव अनुभव न करे। किन्तु जब किसी देश के लोग पृथकता के नारे लगाने लगते हैं और पिछड़े लोगों पर अपने राजनीतिक विस्तार के लिए नये रास्ते अपनाने लगते हैं तो आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक प्रभुता दासता की कष्टदायक बेड़ियां बन जाती हैं। पृथक्करण (Segregation) की आदिम या शिशु-सुलभ प्रवृत्ति ने एक प्रजातीय और सांस्कृतिक समूह, एक बहुसंख्यक और अल्पसंख्य वर्ग, एक प्रजातीय साम्प्रदायिक या धार्मिक समूह में एकता की चेतना (Consciousness of kind) उत्पन्न कर दी है और विरोध और घृणा का प्रसार, सहिष्णुता, पारम्परिक विश्वास और सम्मान के अन्तिम चिह्नों को नष्ट कर रहा है। यदि साम्राज्यवाद ने कुछ किया है तो वह राष्ट्रीय पृथक्करण को दृढ़ करना है। इसी का दूसरा नाम आत्मनिर्णय (Self-determination) है। साम्राज्यवाद ने प्रजाति की दीवारों को ढाह दिया है और उसके स्थान पर विशेषाधिकार, पसन्द और पूर्वाग्रह (Prejudice) पर आधारित नये समूहों को उत्पन्न किया है। यही कारण है कि प्रजाति और वर्ग, रंग और योग्यता व्यवहार में एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

प्रजातिवादियों का कहना है कि सांस्कृतिक भिन्नताएँ भिन्न प्रजातीय आनुवंशिकता (Heredity) और साधन (Equipment) द्वारा निर्धारित होती हैं। श्रेष्ठ प्रजातियाँ श्रेष्ठ संस्कृतियों की सृष्टि कर सकती हैं। श्वेत प्रजाति की आर्यशाखा श्रेष्ठ प्रजाति है; अतः उसकी आकांक्षाएँ श्रेष्ठ हैं और इसीलिए वह सभ्यता की स्रष्टा है। प्रजातीय मिश्रण ने आज ऐसे मेल और संकरता उत्पन्न किये हैं, जिनसे कि हीन प्रजातीय स्कन्ध (Stock) उत्पन्न हुए हैं जो कि अपने दायित्व को पूरा करने के अयोग्य हैं। अतः सुप्रजननशास्त्रविरोधी चयन (Dis-eugenic selection) के कारण सभ्यता का पतन अवश्यम्भावी है।

सुप्रजननशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित प्रजातिवाद विभिन्न राष्ट्रीय समूहों के रोगों की रामबाण औषधि है। इसके विपरीत संस्कृतिशास्त्रियों (Culturologists) का कहना है कि प्रजातियाँ, उपप्रजातियों में बँट चुकी हैं। काकेशी प्रजाति में ही यदि अधिक नहीं तो कम से कम तीन धाराएँ (Strains) विद्यमान हैं। अन्तर्प्रजातीय (Inter racial) अन्तरों से प्रजात्यंतरवर्ती (Intra-racial) अन्तर कहीं अधिक दृष्टिगत होते हैं। हम यह भी जानते हैं कि एक ही प्रजाति ने विभिन्न कालों ओर स्थानों में विभिन्न संस्कृतियों में योगदान किया है और अब भी कर रही हैं। विभिन्न प्रजातियाँ एक ही संस्थान (Pattern) का निर्माण करती पायी गयी हैं। जबकि प्रजातीय गुण अपेक्षाकृत स्थिर हैं; अधिकांश अवस्थाओं में संस्कृति में पूर्ण रूपान्तरण हो गया। संस्कृति संचय से बढ़ती है : यह संचयात्मक है और सामाजिक विरासत है। अतः सांस्कृतिक प्रगति का कारण प्रजाति में न ढूँढ़ कर वातावरण में ढूँढ़ा जाना चाहिए।

वैज्ञानिक मत उक्त दोनों के प्रायः बीच में है। कुछ विद्वान आनुवंशिकता की साक्षी की उपेक्षा नहीं करते फिर भी उन्हें उत्कट प्रजातीय अपील में अल्प औचित्य नजर आता है। हक्सले और हैडेन इस पर एकमत हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में पृथक् प्रजातीय प्रकार विद्यमान थे किंतु वह आज मिश्रित हैं। हम स्वयं अपनी आँखों के सामने दो प्रजातियों के मिश्रण (Cross) का परिणाम देख रहे हैं। मिश्रित संतान दो प्रकारों का औसत नहीं होती किन्तु वह विभिन्न प्रजातीय प्रकारों को जन्म देती है। प्रकारों के मेल ने विशुद्ध प्रजातीय धारा को दुर्लभ बना दिया है। संस्कृतियों को प्रजातियों से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। प्रवास और संस्कृति के प्रसार (Diffusion) के तथ्य सर्वविदित ही हैं। इसके अतिरिक्त वर्गीकरण की किसी एक योजना द्वारा हम संसार की जनता के शारीरिक लक्षणों की व्याख्या नहीं कर सकते। बुद्धि-परीक्षाएँ और मानव दैहिकी (Physiology) के अध्ययन मानव समूहों के वर्गीकरण में असफल रहे हैं। इसलिए नॉर्डिक अवधारणा एक कोरी गप्प है।

आज हम गुंथर के समान यह कह सकते हैं कि सांस्कृतिक या राष्ट्रीय गुणों को शारीरिक प्रकारों के साथ संयुक्त करना निरर्थक है। पैनीमेन के शब्दों में शारीरिक मापों में प्रयुक्त न्यासों (Data) की भाँति शारीरिक और मनोवैज्ञानिक न्यासों के लिए सर्वमान्य मापदण्डों का विकास और उपन्यासों को संख्यात्मक पद्धति द्वारा परिमाणात्मक (Quantitalively) प्रयोग में लाना सम्भव नहीं है। हम सम्भवतः मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक गुणों को शारीरिक रूप से संयुक्त कर कैप्टन पिट-रिवर्स की भाँति प्रजातीय मूलशास्त्र (Ethnogenics) प्रजाति, जनसंख्या, और संस्कृति के परिवर्तन की दृष्टि से मानव इतिहास का अध्ययन नहीं कर सकते।"

यह सत्य है कि प्रजातियाँ मिश्रित हुईं, घुलीमिली और पृथक् हुई है और इस प्रकार उन्होंने विभिन्न प्रजातीय समूहों को, जिनमें से कुछ कई संकर-समूहों

(Hybrid) की भाँति समगुण (Homogeneous) भी हैं, उत्पन्न किया है। डा. एननडेल द्वारा संकलित मानवमितिक न्यासों की साक्षी पर मेहालनोवीस इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कलकत्ते की एंग्लो-इंडियन जनसंख्या समगुणत्व की ओर उन्मुख है। प्रजातियाँ कभी एक समान नहीं रही हैं जैसा कि संस्कृतिवादियों का दावा है। प्रागैतिहासिक काल से ही प्रजातीय मिश्रण या प्राकृतिक मौन या विनाशात्मक चुनाव के प्रभाव के कारण उनमें संशोधन होते रहे हैं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् फ्रान्स में सेना के रंगरूटों का क़द एक इंच घट गया, पर आज फ्रान्स या अन्य यूरोपीय देशों में वह एक इंच या उससे भी अधिक बढ़ गया है। सुप्रजननशास्त्रीय प्रयत्नों, चेतन और अचेतन जनमत और प्रजातीय चेतना ने जीवन साथी के चुनाव में नई धारणाओं को प्रोत्साहित किया है और यह आशा की जाती है इससे प्रजातीय आनुवंशिकता सुधरेगी या स्थिर हो जायगी। गाल्टन ने लिखा—"जब तक कि योग्य व्यक्ति योग्य व्यक्तियों से विवाह करते हैं, योग्य संतानों का अधिक अनुपात निश्चित है और भौतिक सम्पत्ति की तुलना में, जो कि देर सबेर उसे मिलती है, योग्यता परिवार के लिए अधिक मूल्यवान विरासत (Heirloom) है।" एक प्रकार से यह सत्य भी है। राष्ट्रों का भविष्य भले ही भविष्य में पृथक् न हो किन्तु संसार में युद्ध-जनित आपदाओं के उपरांत भी, परिवार की धाराएँ (Strain) स्पष्ट दिखाई देती हैं।

प्रजाति के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति को विभिन्न दृष्टिकोणों से, जिनसे कि प्रजातीय सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है, व्यक्त किया जा सकता है। वे व्यक्ति जो सांस्कृतिक या सुप्रजननशास्त्रीय दृष्टि से संकरता (Hybridisation) के विरुद्ध हैं, वर्तमान प्रजातीय (Racist) स्थिति का समर्थन करते, उसके औचित्य को सिद्ध करते और उसको युक्तिसंगत बताते हैं। यदि संकरता और जातिमिश्रण लाभप्रद नहीं हैं तो पृथक्करण (Segregation) को स्वीकार करना ही हमारे लिए एकमात्र रास्ता रह जाता है। प्रत्येक प्रजाति साथ साथ रहते हुए भी पृथक रहे तथा जीवन के अवसरों में समान साझीदार बने किन्तु प्रजातीय सीमा के भीतर परिवर्तन को सीमित करके वह सांस्कृतिक स्वायत्त को बनाये रखे। अन्य लोग हैं जो कि पृथक्करण के पक्ष में हैं तो सही पर तभी तक जब तक उनके विरोधी विचार उसका औचित्य सिद्ध करते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग प्रजातीय सम्बन्धों के प्रसंग में परिवर्तित दृष्टिकोण की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं तथा अमरीका और अफ्रिका में प्रजातीय सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति को असह्य मानते हैं। उनके सोचने में एक प्रकार की भावुकता है। वह परिवर्तन चाहते हैं, चाहे उसके परिणाम कुछ भी हों। नीति-निर्माता इससे सहमत हैं कि प्रजातीय सम्बन्धों की स्थिति वस्तुतः असह्य है, किन्तु उनके मत में कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे कि एकदम खलबली मच जाय। शिक्षा, मतदान, अन्तर्प्रजातीय सम्पर्कों, विश्वास और पारस्परिक

सम्मान की वृद्धि द्वारा इसका समाधान हो सकता है। वह मानते हैं कि प्रचलित धारणाओं को एकदम समाप्त नहीं किया जा सकता। धर्मशास्त्री प्रजातीय भिन्नता में एक उद्देश्य छिपा देखते हैं। क्या ईश्वर ने मनुष्य को विभिन्न कार्य सम्पन्न करने के लिए नहीं बनाया है? किन्तु वह भी मनुष्य के भ्रातृत्व की आवश्यकता को अनुभव करता है। मनुष्य की शक्ति सीमित होने के कारण विश्व-समाज का संगठन नहीं किया जा सकता किन्तु यह ऐसा उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति की हमें हार्दिक कामना करनी चाहिए। इस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए, हमें प्रजातीय भिन्नताओं को अल्प महत्त्व देना चाहिए और अपने से पृथकता (Unlikeness) के प्रति सम्मान में वृद्धि करनी चाहिए। ऐसे भी लोग हैं जो कि विभिन्न प्रजातीय मेलों, मिश्रणों और समगुणत्व (Homogeneity) में विश्वास रखते हैं और प्रजातीय तथा सांस्कृतिक विरोधों के समाधान के लिए मिश्रण की प्रक्रिया (Melting pot process) चाहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कि विविधता विजातीयता (Heterogeneity) और बहूद्देश्यीय (Plural) समाज में, जो कि विभिन्न पृथक् समूहों के समान सहयोग पर आधारित है, जिसमें कि प्रत्येक समूह धर्म, भाषा, भोजन, पेशा, मूल्यों और आदर्शों की स्वाधीनता के साथ अपने जीवन और मान्यताओं का उपयोग करते हैं, विश्वास रखते हैं। यह सत्य है कि प्रजातीय समस्याओं के समाधान की कोई एक दवा नहीं है। केवल एक दवा जो कि आज विद्यमान देशों और राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्धों के प्रसंग में सार्थक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है, वह है प्रजातियों के सम्बन्ध में अपनी जानकारी को बढ़ाना तथा प्रजाति के सम्बन्ध में क्या वैज्ञानिक और क्या मिथ्या वैज्ञानिक (Pseudo-Scientific) तथ्य हैं, यह जानना तथा वैज्ञानिक तथ्यों का प्रचार और मिथ्या वैज्ञानिक तथ्यों की रोकथाम। प्रजातियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथ्यों के ज्ञान द्वारा पर्याप्त सौहार्द उत्पन्न हो सकता है और नृतत्त्व-वेत्ता इस तथ्य से परिचित हैं कि यह ज्ञान अविश्वास और भ्रांति को दूर करता है। नृतत्त्ववेत्ताओं के वर्गीकरण सदैव वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित नहीं हैं और वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा उनका समर्थन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, संकरता के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान अभी तक अपूर्ण और दुर्भावनापूर्ण है। संकर सदैव ही बुरा नहीं हो सकता है। संकर विशुद्ध प्रकार की तुलना में अधिक स्वस्थ और वातावरण के अधिक अनुकूल हो। नृतत्त्ववेता को जनता को यह बताने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि प्रजातियाँ भिन्न हैं और प्रजातीय भिन्नताओं के जैविकीय चुनाव में कुछ विशिष्ट लाभ हैं। किन्तु यह मिश्रण के लाभों को भी स्वीकार करता है और वह इसके लाभों को भी, यदि उसकी कोई हानियाँ हैं, तो उसका निर्देश करते हुए, बताए। प्रजातीय विरासत सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत के समान महत्त्वपूर्ण नहीं है और प्रजातियों के शारीरिक या उनके सांस्कृतिक लक्षणों के बजाय प्रजातियों के बीच विद्यमान सम्बन्धों

पर जोर देना चाहिए। प्रजातियों के सम्पर्क और अन्तर्क्रिया द्वारा ही सांस्कृतिक प्रगति सम्भव है। सामूहिक जीवन और सामूहिक व्यवहार में प्रजातीय दृष्टि से तटस्थ दृष्टिकोण ही प्रजातीय सम्बन्धों को पारस्परिकता की दिशा में ले जाने का आवश्यक आधार जुटाएगा। यह कार्य प्रजातीय श्रेष्ठता या हीनता के विचारों तथा प्रचलित प्रजातीय धारणाओं को बनाए रखकर सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

अध्याय २

प्रागैतिहासिक भारत में प्रजातियाँ

पृथ्वी पर मनुष्य का निवास लाखों वर्ष, शायद दस लाख वर्ष, से अधिक पुराना है किन्तु इस सम्बन्ध में हमें जो प्रमाण प्राप्त हैं वह पूर्ण या निर्णयात्मक न होकर मुख्यतः अनुमान पर ही आश्रित हैं। भारत के सम्बन्ध में सर हर्बर्ट रिज़्ले ने लिखा था कि "यहाँ पर आदिम मनुष्य के जीवन के उतार-चढ़ावों का चित्रण करनेवाली न कोई गुफाएँ, समाधियों के टीले, हड्डियों के ढेर, झीलों के तटवर्ती निवास या आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान में ज़मीन से खोदे जा रहे क़िले नुमा नगर ही हैं और न ही हाथ की गढ़ी हड्डियाँ या हथियार प्राप्त हुए हैं।" यह वाक्य लगभग आधी शताब्दी पहले लिखा गया था। गर्म जलवायु, कीड़े-मकोड़ों और पशु-पक्षियों ने हमारे बहुत से प्रमाण नष्ट कर दिए है पर शायद जलवायु, जमीन और खनिजों के प्रभाव को बहुत अधिक आँका गया है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे यहाँ फावड़े और बेलचे का पर्याप्त उपयोग नहीं हुआ है और हमारे देश जैसा ग़रीब देश केवल खुदाई के निमित्त खुदाई की विलासिता में मग्न भी नहीं हो सकता था। यह सत्य है कि जो हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं वे जीवाश्मन (Fossilization) की विकसित अवस्था को व्यक्त नहीं करतीं। भारत जैसे उपमहाद्वीप में हड्डियों के जीवाश्मन की अवस्थाएँ सर्वत्र न तो एक समान हैं और न ही हो सकती हैं। न तो ऐतिहासिक स्थानों से प्राप्त २००० वर्ष पुरानी हड्डियाँ ही और न ही मोहेंजोदड़ो से निकाली गयी हड्डियाँ जीवाश्मित (Fossilized) अवस्था को पहुँची हैं। कुछ लोगों के मत में चूने का प्रांगीय (Lime carbonate) हड्डियों को नष्ट कर देता है, किन्तु भारत के अनेक पुरातात्विक (Palaentological) अवशेष चूने की गुफाओं से प्राप्त हुए हैं। जो भी हो, भारतीय प्रागैतिहासिक काल के अभी तक प्राप्त समस्त ज्ञान को एक आने के डाक-टिकट की पीठ पर लिखा जा सकता है। पिछले पैंतीस सालों में ही प्रागैतिहासिक और पुरा-ऐतिहासक (Proto-historic) पुरातत्त्व (Archaeology) ने हमारे निष्कर्षों के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कंकालीय (Skeletal) और भौतिक अवशेष खोद कर निकाले हैं। हाल में भारतीय प्रागैतिहास और पुरा-इतिहास की प्रचुर उपयोगी सामग्री हमारे हाथ पड़ी है और अब हम उसकी सहायता से, भले ही धुँधले रूप में सही, अपने देश के

हजारों साल के सांस्कृतिक इतिहास को आलोकित कर सकते हैं। यद्यपि पहले की भाँति अब भी यह बहुत कुछ अनुमान पर आश्रित है, फिर भी आज यह हमारे विस्मृत इतिहास के हजारों वर्ष के अभिमान को चित्रित करने के लिए अनिवार्य है।

एक तथ्य स्मरणीय है और वह यह कि हम भारत के प्रागैतिहास को बाकी एशिया के प्रागैतिहास से पृथक् नहीं कर सकते। मानव प्रजातियों के विस्तार में एशिया के भौगोलिक स्वरूप का मुख्यतः इस महादेश के मेसोपोटामिया के निचले मैदान और भारत, चीन और मंचूरिया इन दो बड़े भागों में विभाजन का बड़ा हाथ रहा होगा। एशिया के पाँच में से दो भाग दो बड़े पठारों से घिरे हुए हैं। यहाँ स्टेपी और रेगिस्तान जैसे प्रदेश भी हैं जहाँ कोई स्थायी जीवन सम्भव नहीं है। दलदल के जंगलों से ढँके साइबेरिया के निचले मैदान भी सम्भवतः स्थायी बस्तियों के अनुकूल नहीं हैं। क्रोपाटकिन के विचार में सभ्यता के उद्गम का सबसे अनुकूल स्थान मेसोपोटामिया रहा होगा। हैडन के मत में मनुष्य का उद्‌विकास दक्षिणी एशिया के किसी स्थान पर हुआ होगा और सम्भव है कि प्रारंभिक समूह एक दूसरे के असमान न रहे हों। किन्तु उनमें भोगोलिक स्थिति या पृथक्करण द्वारा नियंत्रित और निर्देशित परिवर्तन की प्रवृत्ति रही होगी।

भारत में नदी-उत्तलों में अनेक प्रकार के पत्थर के औज़ार और उपकरण प्राप्त हुए हैं। इनकी तुलना सम्भवतः यूरोप और अफ्रीका में प्राप्त ऐसे ही उपकरणों से की जा सकती है। यूरोप और अफ्रीका के मध्यपाषाणकालीन (Mesolithic) उद्योगों की तुलना हम भारत के लघुपाषाण (Microlithic) उद्योगों से कर सकते हैं यद्यपि इन उद्योगों का काल-क्रम अभी तक अनिश्चित है। लघुपाषाण उपकरण भारत के विस्तृत भागों में पाये गये हैं। मध्य प्रदेश की महादेव पहाड़ियों, आंध्र के दक्षिणी-पूर्वी तट, मैसूर, मध्य भारत और सांस्कृतिक गुजरात, यहाँ तक कि सिंध और पंजाब तक के खोदे गये स्थानों में छोटे पत्थर के औज़ारों की भरमार है और यह हमें अस्थायी रूप से इस संस्कृति के काल-निर्णय के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रदान करते हैं। एच. डी. संकालिया के अनुसार, गुजरात की लघुपाषाण (Microlithic) संस्कृति मोहेंनजो-दड़ो से अधिक पुरानी है जबकि अपेक्षाकृत उच्चतर स्तरों में लघुपाषाण उपकरणों का नवपाषाण उपकरणों (Neoliths) के साथ पाया जाना और मैसूर के निम्नतर स्तरों में केवल लघुपाषाण उपकरणों की उपस्थिति इस संस्कृति के मूल की निरन्तरता और उसके क्रम की समस्या को प्रस्तुत करती है। अभी तक प्राप्त स्तरीय (Stratigraphical) साक्षियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्लीस्टोसीन प्रातिनूतन-युगीन (Early Pleistocene) स्तर पर मानव निर्मित कोई औज़ार नहीं मिले हैं किन्तु विभिन्न पत्थरों और उनके फ्लेक (Flake) के उद्योग अनुमानतः मध्य और उच्च प्लीस्टोसीन स्तर (Middle & Upper Pleistocene) के कहे जा सकते हैं। हाल की

प्रागैतिहासिक गवेषणाओं ने एक समान प्राचीन काल में उपकरणों के निर्माण की दो भिन्न परम्पराओं की रूपरेखा प्रस्तुत की है, इनमें से एक सिंधु ओर सोहन के किनारे और दूसरी दक्षिण भारत में पलार नदी के उद्गम के समीप विकसित हुई। सोहन उद्योग ने, जिसका कि मुख्य केन्द्र उत्तर था, चॉपर (Chopper) तथा क्लैक्टो-लेवल्वायशियन (Clacto-Levalloisian) प्रकार के फ्लेक (Flake) और कोर (Core) उपकरण बनाये और इस परम्परा ने अपनी विशिष्ट शैली विकसित की। दूसरी परम्परा पत्थर के कोर (Core) पर बनाए औज़ारों की या हाथ की कुल्हाड़ी (Hand-axe) की थी। मद्रास के आसपास का भाग इसका मुख्य केन्द्रस्थल था। सम्भवतः यह यूरोप और अफ्रीका के कू-द्-पोंआँ (Coup-de-poing) उद्योग से सम्बन्धित थी। भारत में नवपाषाणकालीन (Neolithic) स्थान ऊपरी सिंधु और सोहन की घाटी, उत्तरी पंजाब और उत्तर-पूर्व में आसाम की पहाड़ियों में फैले हुए हैं। पुरातन पाषाण (Palaeolithic) उद्योग अधिकतर दक्षिण में केन्द्रित हैं। उत्तरी और पश्चिमी भारत में पुरा-नवपाषाण (Proto-neolithic) काल के क्रम (Phase) पाये गये हैं, किंतु पुरा-नवपाषाणकाल के क्रम विंध्य मेखला के दक्षिण में हैं; उत्तर भारत में तो वह बहुत ही कम हैं।

प्रागैतिहासिक मनुष्य के स्थूल उपकरणों की विवेचना करते समय ही हमारा आधार दृढ़ होता है। यद्यपि जो पत्थर के उपकरण हमें प्राप्त हैं वह ज़मीन की सतह से इकट्ठे किए हुए हैं, फिर भी हम भौतिक पदार्थों और मानवीय उपकरणों की साक्षियों की सहायता से सांस्कृतिक इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। प्राचीनतम पत्थर के उपकरण प्रायः बड़े और भोंड़े फ्लेक हैं, जो कि सिंधु और सोहन नदी के उत्तलों पर बड़े पत्थरों के रूप में पाये गये हैं। ज्वायनर के काल-निर्णय के अनुसार इन फ्लेक उपकरणों की तिथि सम्भवतः निम्न प्लीस्टोसीन (Lower Pleistocene) काल का अन्त ठहराई जा सकती है। इस प्रकार सम्भव है कि यह उपकरण द्वितीय हिमायन (Ante-penultimate glaciation) में बनाये गये हों जब कि चीनी मानव (Hcmo Pekinensis) भी हुआ माना जाता है। पश्चिमोत्तर भारत में इस भोंड़े फ्लेक उद्योग के बाद नदी के गोल पत्थरों (Pebbles) पर बने बड़े फ्लेक और कोर पाये गये हैं। इन उपकरणों के क्रम को इसके अन्वेषकों डी टेरा और पैटरसन ने 'प्रारम्भिक सोहन' का नाम दिया है। इन्हीं के साथ-साथ कुछ स्थानों में इस प्रकार की हाथ कुल्हाड़ियाँ पायी गयी हैं जो कि यूरोपीय एश्यूलियन संस्कृति का स्मरण दिलाती हैं। कुछ बाद में सम्भवतः तृतीय हिमायन (Penultimate glaciation) में पहले लेवल्वायज़ (Levallois) के समान धुंडीदार फ्लेकों और बाद के सोहन में नदी के गोल पत्थरों के उपकरणों की तुलना में लेवल्वायज़-समान फ्लेकों की अधिकता है।

यह लेवल्वायज़ियन-सम उद्योग अंतिम हिमामन तक विद्यमान रहे, और इसके बाद

उच्च पुरातनपाषाणकाल (Upper Palaeolithic) में फलक-उद्योग विकसित हुए जो कि सम्भवतः फिलस्तीन की ऑरिग्नेशीय (Aurignacian) संस्कृति के समकालीन थे और शायद ५०,००० से ६०,००० वर्ष पुराने थे।

जो भी हो, भारत की पुरातन-पाषाण और नव-पाषाण संस्कृतियों को अच्छी तरह खोजा जा रहा है, और चाहे किन्हीं लोगों ने इन संस्कृतियों का निर्माण किया हो, ये विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई थीं। सम्भवतः पुरातन-पाषाणकालीन लोग सबसे पहले प्रायद्वीपीय भारत (Peninsular India) में बसे और वह निरन्तर उत्तर भारत की, और पंजाब में सोहन की घाटी की, ओर बढ़ते रहे। पर अधिकांश नव-पाषाण संस्कृति के स्थान भारत के पूर्वीय भागों में मिले हैं। इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं: या तो पुरातन पाषाणकालीन लोगों ने पूर्व की ओर निष्क्रमण किया या दक्षिण-पूर्व से नवपाषाणकालीन लोगों ने वहाँ अपना अधिकार किया। भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के उपलब्ध ज्ञान से हम अभी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते।

जैसा हम पीछे बता चुके हैं, भारत की उष्ण जलवायु शारीरिक अवशेषों को संरक्षित रखने के अनुकूल नहीं है और यह मानव कंकालीय सामग्री के अभाव का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। भारत में थोड़े ही कपालीय (Cranial) और कंकालीय (Skeletal) प्रजातीय प्रकार प्राप्त किए जा सके हैं; और जो प्राप्त भी हुए हैं वह बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। अतः प्रजातीय मूल के सम्बन्ध में हमें अनुमान की ही साक्षी पर निर्भर करना पड़ता है। एक कपाल गंभीर नदी के तट पर बयाना-आगरा रेलवे के बयाना नामक स्थान में नदीतल की जलोढ (Alluvial) परत के ३५ फीट नीचे पाया गया। इसके साथ किसी अन्य स्तनधारी (Mammalian) जीव की हड्डियाँ या किसी प्रकार के उपकरण नहीं मिले। दूसरा कपाल १९१२ में लैफ्टिनेंट क्यू. डब्ल्यू. जी. जी. हिंगस्टन ने पंजाब के स्यालकोट जिले में सिन्धु नदी के जल-क्षेत्र के अन्तर्गत पास के बोए हुए खेत के स्तर से ६ फीट नीचे एक गहरे नाले में बिना किन्हीं अन्य साक्षियों के पाया। इन दोनों कपालों के बहुत प्राचीन होने में सन्देह है। बयाना में प्राप्त कपाल और स्यालकोट में प्राप्त कंकाल की हड्डियों का रंग मटमैला भूरा था। यह बहुत आसानी से टूटनेवाली और अपने घनत्व और दृढ़ता में इंग्लैंड के काँस्य (Bronze) युग की समाधि से प्राप्त परिवर्ती काल के मानवीय अवशेषों के अत्यन्त समान थीं। सर् आर्थर कीथ के अनुसार, जिन्होंने बम्बई की नृतात्विक सभा की प्रार्थना पर इन दोनों कपालों की जाँच की थी, इन कपालों के चेहरे के भाग और कई हड्डियाँ उपलब्ध नहीं थीं पर बयानावाले कपाल में नाक की हड्डियाँ विद्यमान थीं। कीथ के मत में ये कपाल पुरुषों के थे पर इनका आकार छोटा था। बयाना के कपाल की अधिकतम लम्बाई १७८ मिलीमीटर और स्यालकोट वाले की १८० मिलीमीटर है। दोनों ही नमूनों के कपालों की चौड़ाई प्रायः बराबर थी;

बयानावाले की १२७ और स्यालकोटवाले की १२८ मिलीमीटर। दोनों कपालों की मेहराबों (Vaults) के माप भिन्न थे; बयानावाले कपाल की मेहराब का माप १०८ मि. और स्यायालकोट वाले की ११९ मि. थी। आधुनिक कपाल की भाँति दोनों कपालों की मेहराबों की मोटाई ३.५ से ७ मि. के बीच में थीं। कीथ के अनुसार इन दोनों कपालों की शक्ल और आकार आज के पंजाबवासियों से मिलते जुलते हैं और बयानावाले कपाल की संकीर्ण नाक की हड्डियों की साक्षी पर कीथ ने उन्हें 'संकीर्ण प्रमुख आर्य टाइप' (Narrow-prominent Aryan type) माना है। बयाना और स्यायालकोट के कपालों के साथ हमें किन्हीं पशुओं की हड्डियाँ या कोई मानव कलाकृतियाँ नहीं मिलीं, पर नाल में खोदे गये समाधि-पात्रों (Urn-Burials), चिड़ियों और पशुओं की हड्डियाँ, बर्त्तनों के टूटे टुकड़ों, और हड्डी के पिनों (Bone-pin) की साक्षी पर हम उनका काल निर्धारित कर सकते हैं। कभी कभी समाधियाँ समूहों में बनाई जाती थीं अतः उनका तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। नाल में प्राप्त हड्डियाँ सामान्य लक्षणों में स्यायालकोट और बयाना की हड्डियों से मिलती-जुलती हैं।

भारत के प्राचीन मानव अवशेषों का प्रजातीय स्तर पता लगाना सरल नहीं है, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मोहेंनजोदड़ो, हड़प्पा तथा उपर्युक्त अन्य स्थानों में प्राप्त अवशेष कई प्राजातीय प्रकारों की ओर संकेत करते हैं। इन्हें पुरा-ऑस्ट्रेलीय (Proto-Australoid) और भूमध्यसागरीय (Mediterranean) प्रजातियों में और एल्पाइन प्रजाति की अर्मीनी (Armenoid) शाखा में रखा जा सकता है। मोहेंनजोदड़ो में पुरा-ऑस्ट्रेलीय प्रजाति के उपलब्ध तीन कपालों को फ्रेडरिक और मुलर ने वेड्डायड (Veddoid) बताया है और हड़प्पा के क़ब्रिस्तान की दो तहों में विशेषतः निचली तह में प्राप्त कपाल ऑस्ट्रेलीय सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। तिन्नेवाली कपाल भी पुरा-ऑस्ट्रेलीय निकटता दर्शाते हैं। जुकरमैन और इलियट स्मिथ के अध्ययन भी इसी ओर संकेत करते हैं। नाल और स्यालकोट के भूमध्यसागरीय प्रजातीय स्कन्ध (Stock) से मिलते या मुख्यतः मिलते हैं जबकि बियाना के अवशेषों को मिश्रित प्रकार का माना जा सकता है। बहुत से नृतत्त्ववेत्ता इस निष्कर्ष से सहमत हैं। किश और मकरान जैसे अन्य नमूने उपयुक्त वर्णित तीनों प्रकारों से पारिवारिक समानता दर्शाते हैं। सर आरेल स्टाइन द्वारा मकरान में संग्रहीत समाधि-पात्रों में पाये गये कपाल भी पीले-भूरे रंग के और नाज़ुक-खस्ता हालत में और इस प्रकार नाल और मोहेंनजोदड़ो से प्राप्त कपालों से मिलते-जुलते हैं। मकरान के कपाल (B) की मेहराब ऊँची और नाल के कपाल के सदृश है किन्तु मकरान के कपाल की पतली नाक उसे कैस्पियन या नॉर्डिक प्रकार से मिलाती है। डड्ले बक्स्टन ने किश के अवशेषों में दो प्रजातीय प्रकार पाये जिन्हें उन्होंने एल्पाइन और भूमध्यसागरीय कहा है। हैदराबाद में रायचूर जिले के मस्की

नामक स्थान में बड़ी संख्या में समाधि-पात्र प्राप्त हुए हैं। इनमें उपलब्ध कंकालों में दो प्रजातीय धारायें (Strains) पायी गयी है: एक भूमध्यसागरीय और दूसरी पश्चिमी एल्पाइन की आर्मीनी (Armenoid) शाखा।

पुरा-ऑस्ट्रेलीय तत्त्व भी सर्वथा अनुपस्थित नहीं है [यद्यपि मस्की में यही दो प्रकार प्रबल हैं] कंकालीय साक्षियाँ इसकी पुष्टि करती हैं। मस्की की वर्तमान जनसंख्या लम्बे तथा चौड़े सिर और पतली नाकवाली है पर कभी-कभी लम्बे सिर के साथ चपटी नाक का पाया-जाना उन्हें पुरा-ऑस्ट्रेलीय प्रकार से संयुक्त कर सकता है।

मोहेंनजोदड़ो सभ्यता का काल ३,२५० और २,७५० ई. पू. के बीच निश्चित किया गया है और सम्भवतः इस सभ्यता के मुख्य लक्षण मैसोपोटामिया से आए थे। भारत में बृहत् (समाधि)-पाषाण-सम्प्रदाय (Megalithic cult) और, यह सम्भव है, कि भूमध्यसागरीय लोग समुद्र के मार्ग से आए हों। यदि प्रायद्वीपीय भारत के साथ जलमार्ग से उनका सम्पर्क भी सिद्ध किया जा सके तो भी मेसोपोटामिया से स्थलमार्ग द्वारा उनका आना सम्भव है। सिंचाई के साधन, कृषि के उद्देश्य से बाँधों का निर्माण, बलोचिस्तान के नाल स्थान में प्राप्त मिट्टी के बर्त्तनों का सादृश्य, कांसे की वस्तुएँ और पकाई हुई मिट्टी की छविकृतियाँ निःसन्देह उत्तर-पश्चिम से भूमध्य-सागरीय संस्कृति के प्रवेश को सिद्ध करती हैं। मोहेंनजोदड़ो सभ्यता का मूल द्रविड़ रहा होगा और मोहेंनजोदड़ों के लोगों का प्रमुख प्रजातीय प्रकार संभवतः भूमध्यसागरीय था। जिस समय कि 'द्रविड़' लोग सिंधु घाटी में एक नागरी सभ्यता का निर्माण कर रहे थे भारत के सर्वप्रथम मूलवासी पुरा-ऑस्ट्रेलीय नव पाषाणकालीन अवस्था में थे। मोहेंनजोदड़ो सभ्यता में मूर्त्तिपूजा की विशेषता ने सारे वाद-विवाद को ही समाप्त कर दिया है, क्योंकि पुरा-ऑस्ट्रेलीय निर्वैयक्तिक शक्ति में विश्वास करते रहे हैं और आज तक भी वह इस शक्ति को देवताओं या उनको व्यक्त करनेवाली मूर्त्तियों को स्थूल रूप देने में सफल नहीं हुए हैं। भूमध्यसागरीय लोग मातृक (Matriarchal) रहे होंगे और मालाबार के प्रबल मातृक लोगों के प्रभाव में आनेवाले कुछ लोगों को छोड़ कर कोई भी पुरा-ऑस्ट्रेलीय न तो मातृक हैं या न कभी पुरा-ऐतिहासिक काल में ही रहे हैं।

सिन्धु घाटी की सभ्यता या हड़प्पा सभ्यता ने, जैसा कि आर. ई. एम. ह्वीलर ने भी कहा है, भारतीय सभ्यता के इतिहास को तीन हजार ई. पू. पीछे फेंक दिया है। हड़प्पा संस्कृति की केन्द्राभिमुखी सभ्यता अरब सागर और शिमला पहाड़ियों के बीच के बड़े भाग में फैली हुई थी और इसके नागरी केन्द्र हड़प्पा और मोहेंनजोदड़ों के शहर, भारत में किन्हीं आर्य-भाषी लोगों के आगमन से पहले उन्नति कर रहे थे। इनकी संस्कृति इलाम और सुमेर से भी श्रेष्ठ थीं। सिन्धु घाटी की सभ्यता ने सफलता के उच्च स्तर को छुआ। इस सभ्यता की क्रमिक अवस्थाएँ जिनमें से कम से कम चार प्रधान, अमरी, हड़प्पा, झूकर और झंगर तो ज्ञात हैं, सिन्धु जल-स्रोत में परिसीमित

एक सभ्यता के उत्थान और पतन को "मोहेंनजोदड़ो और हड़प्पा जिसके पूर्व विकसित रूप हैं," दर्शाती हैं। हड़प्पा अवस्था में अवश्य सुमेर के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहे होंगे और वह निश्चित रूप से मेसोपोटामिया से प्रभावित थी। अधिकारी नृतत्त्ववेत्ताओं के विचार में इसने पश्चिम से अनाज और खनिज पदार्थ प्राप्त किए, किन्तु इस संस्कृति के अधिकांश पहलुओं का मूल स्वदेशी था।

यह खेद का विषय है कि इतनी अधिक उन्नत सभ्यता परित्यक्त नगरों, भग्न मंदिरों और जीर्ण दुर्गों में परिणत हो गयी। किन्तु यह बिना सन्देह के कहा जा सकता है कि इस संस्कृति के विनाश में आर्यों का कोई हाथ न था। सिंधु घाटी की सभ्यता और भारत पर आर्यों के आक्रमण के बीच एक व्यवधान है जिसके लिए हमारे पास कोई पुरातात्त्विक साक्षी नहीं है। हमें 'एक नगर-विहीन अर्ध-सभ्यता एवं कृषक-सम अद्ध-कुलीन संस्कृति' के आगमन के बारे में अनुमान लगाना पड़ता है। यद्यपि इस सभ्यता में काँसे और ताँवे का प्रचुर प्रयोग, अनाज, दुधारू पशु, घोड़े, रथ, और गाड़ियों, हल, ऊन और बुनाई, सोना, पैतृक मुखिया और क़बीली समाज भी था और प्रकृति की पूजा, पुरावृत्त और बलि के अनुष्ठान भी थे। हिन्द-आर्य सभ्यता का अमूर्त्तिपूजक (Aniconic) लक्षण इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि हिन्दआर्य भूमध्यसागरीय और एल्पाइन लोगों से पंजाब में मिले; उन पर शासन किया और उन पर अपनी संस्कृति भी थोपी। वेदों में अपने शत्रुओं के लिए निन्दा के शब्द प्रयुक्त किए गये हैं; जो शारीरिक दक्षता से संरक्षित उनकी असहिष्णुता को व्यक्त करते हैं। इस बात को मानने के कई कारण हैं कि जैसे ही हिंद-आर्य-सभ्यता के पैर पंजाब में जमे और वह गंगा के मैदान में फैली, भूमध्यसागरीय लोगों ने वैसे ही अपनी श्रेष्ठता को घोषित किया और उन्होंने खानाबदोश और अमूर्त्तिपूजक सभ्यता को मूर्त्तिपूजक सभ्यता में रूपान्तरित कर दिया। तभी अनुलोम (स्वीकृत विवाद) और प्रतिलोम (निषिद्ध विवाह) के आधार पर कुलीन विवाहों के द्वारा प्रजातियों के मिश्रण ने एक सांस्कृतिक संश्लेषण उत्पन्न किया जिसका परिणाम मन और भावना की एकता, एकता की चेतना थी जो कि राष्ट्रवाद का मुख्य और मूलभूत आधार है। हिन्द-आर्य दो दिशाओं में फैले। एक तो हिमालय की निचली पहाड़ियों के साथ, दूसरे पंजाब के दक्षिण से दो धाराओं में बँटे; एक तो उत्तर भारत की नदियों का अनुसरण करते हुए तथा दूसरी ओर दक्षिण में। वे जहाँ कहीं से भी गुज़रे, लोगों को आर्य बनाते गये।

मस्की, मैसूर और भारतीय प्रायद्वीप के अन्य केन्द्रों की प्रागैतिहासिक प्राप्तियाँ दक्षिण के ३००० या उससे भी पुराने सांस्कृतिक इतिहास को बताती हैं। मस्की में प्राप्त समाधि-पात्र और उपकरण संस्कृतियों के कम से कम तीन स्तरों की साक्षी देते हैं। याज़दानी ने अंत्येष्टि में प्रयुक्त मिट्टी के वर्त्तनों, पॉलिश किए पत्थर के औज़ारों और समसैकाश्म फ्लेकों (Chert-flakes) का समय १००० ई. पू. या उससे भी

पहले निश्चित किया है। उनके मत में मनके और शंख (Chank) की वस्तुएँ तथा कुछ पकी मिट्टी की स्त्री-मूर्त्तियाँ ५०० से ३०० ई. पू. पुरानी हैं जबकि मुहरों की छाप चित्रकारीयुक्त मिट्टी के बर्त्तन और कुछ पकी मिट्टी की पुरुष-छविकृतियाँ ५०० से ६०० ई. पू. पुरानी हैं। प्रागैतिहासिक और पुरा-ऐतिहासिक दोनों ही कालों में मस्की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र रहा होगा। हर हालत में यह मनके और शंख (Chank) उद्योग का बड़ा केन्द्र था। ब्रूस फुट (Bruce Foote) ने इस काल में एक शीशे के उद्योग का भी ज़िक्र किया है। किन्तु याज़दानी के मत में सतह पर इकट्ठे किए गये नमूने वास्तव में 'मिट्टी से मिले स्फटिक (Felspars) हैं जिनकी शक्ल शीशे के सदृश है'। मस्की में पाये गये विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चा माल, विशेष कर सीप और मनके सुदूर स्थानों, यहाँ तक कि फ़ारस, से भी लाए जाते रहे होंगे। इस प्रकार हमें यह भी पता चलता है कि मस्की के व्यापारियों का समुद्र-व्यापार अरब सागर के तट और कार्थेज, रोम व अरब के आधीन भूमध्यसागरीय तट से भी होता था। व्यापार और साहचर्य ने दूरस्थ देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहित किया। मिश्र का प्रभाव भारत और सुदूरपूर्व तक में प्रविष्ट हुआ और यूरोप ने भी अपने कुछ सांस्कृतिक तत्त्व जैसे काँसे, अनाज और पशुपालन का ज्ञान, यहाँ तक कि धार्मिक पूजा-पद्धतियाँ (Cults) भी निकट पूर्व से ही प्राप्त कीं। मस्की में सोने के काम के भी चिह्न मिले हैं। मस्की नदी के रेतीले किनारे पर मिले सोने के कणों ने अवश्य निकट और दूर के प्रवासियों को उसका उद्योग में उपयोग करने और स्वदेशी परम्पराओं के ऊपर एक नागरी संस्कृति का निर्माण करने को प्रलोभित किया होगा। ह्वीलर ने पुरातत्त्व विभाग द्वारा मैसूर के ब्रह्मगिरि स्थान में खोदे गये अनेक गड्ढों के क्रम द्वारा उद्घाटित संस्कृतियों के क्रम (Sequence) को निम्न तालिका में दिया है जिसे नीचे से ऊपर की ओर पढ़ना होगा।

१ :—ब्रह्मगिरि की पत्थर-कुल्हाड़ी संस्कृति—एक भोंड़ी ताम्र-पाषाण (Chalcolithic) संस्कृति जो कि अधिक से अधिक प्राकृतिक सतह से ९ फीट की ऊँचाई तक विस्तृत है और स्वयं प्रारंभिक और परवर्त्ती दो कालों में उपविभाजित है।

२ :—बृहत् (समाधि)–पाषाण (Megalithic) संस्कृति—स्थानीय बृहत् (समाधि)–पाषाण मकबरों (Tomb) और गड्ढों के दायरों (Pit Circles) से मिलती हुई लौहयुग की संस्कृति, जो ३/४ फ़ीट की अगली ऊँचाई तक विस्तृत है।

३ :—आंध्र-संस्कृति—जो कि और २½ से ३ फीट की ऊँचाई से लेकर ज़मीन की सतह तक विस्तृत है।

उक्त तीनों संस्कृतियाँ महत्त्वपूर्ण रीति से एक दूसरे को सीमांतरित करती हैं। ह्वीलर के मत में आंध्र संस्कृति ब्रह्मगिरि में पहली शताब्दी के मध्य में प्रारम्भ हुई और स्थानीय बृहत् (समाधि)–पाषाण (Megalithic) संस्कृति उस समय या उस समय

के निकट समाप्त हो गयी। बृहत् (समाधि)–पाषाण संस्कृति के प्रारम्भ का काल-निर्णय कठिन है, क्योंकि स्तरों (Strata) की गहराई के आधार पर कोई भी काल का माप बनाने का सैद्धान्तिक प्रयास दोष-रहित नहीं है, केवल उसका अनुमान लगाया जा सकता है। ह्वीलर ने ३/८ फीट के स्तर संचय या पर्याप्त भूमि क्षेत्र पर मिट्टी के जमने की साक्षी पर दो शताब्दी का समय सुझाया है। दूसरे शब्दों में, अनुमान के आधार पर मैसूर की ब्रह्मगिरि बृहत् (समाधि)–पाषाण-संस्कृति को तीसरी से दूसरी ई. पू. काल का कहा जा सकता है।

अध्याय ३

भारत का रक्त मान-चित्र

नृतत्त्ववेत्ताओं ने प्रजातीय समूहों के अन्तर-सम्बन्धों की परीक्षा के लिये एक नई प्रविधि अपनाई है। यह रक्त-समूहों (Blood-Groups) के वितरण पर आधारित है। रक्त-समूह एक जनक गुण (Genic Character) है जो आनुवंशिकता के मेंडेलियन नियम का अनुसरण करते हुए आनुवंशिकता द्वारा संक्रामित होता है। रक्त-समूहों पर विचार किये बिना प्रजाति-अध्यन का कोई भी विवरण अधूरा रह जाता है।

भारत में रक्त-समूहों के वितरण की चर्चा करते हुए जे. एच. हटन ने १९३१ में सुझाया था कि जाति के अनुसार रक्त-समूहों की समुचित जाँच महत्त्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत करेगी। इस प्रकार की छान-बीन जारी है, और हम जाति के अनुसार रक्त-समूहों के विषय में विश्वस्त न्यास (Data) पाने की आशा रखते हैं। यह देखने के लिये कि वह कहाँ तक प्रजातीय प्रकार और प्रजातीय मिश्रण के बारे में बता सकते हैं, हम प्राप्त न्यासों का उपयोग कर रहे हैं।

मानव अन्तरों का जननिक अध्ययन अभी तक संभव नहीं हो सका है। प्रजातियों के बीच चार प्रकार के अन्तर स्वीकार किये गये हैं। त्वचा के रंग, बालों की बनावट आदि के अन्तर संभवतः बहुत कम वाहकाणुओं (Genes) पर आश्रित हैं। आधुनिक और प्राचीन मनुष्य के प्राप्त कंकालीय (Skeletal) गुणों में से अधिकांश एक जैसे हैं और उनके आधार पर अन्तरों का निर्णय अत्यन्त कठिन हो जाता है। संस्कृतियों में अन्तर उत्पन्न करनेवाले योग्यता और स्वभाव के अन्तर वातावरण द्वारा इतने अधिक प्रभावित होते हैं कि उनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। ऐसे जीवकाणुओं को छोड़कर जो मनुष्य के कुछ गिने चुने शारीरिक लक्षणों के समूह को जन्म देते हैं, अन्य मानव-मितिक (Anthropometric) गुणों के विश्लेषण द्वारा इस दिशा में विशेष प्रगति संभव नहीं है। केवल रक्त-समूह ही एक ऐसे अपवाद हैं जो मानव जाति में सरलता से पहचाने जाने वाले वाहकाणुओं द्वारा निर्णीत होते हैं। मानव आनुवंशिकता के अध्ययन की एक और विधि वंशावलियों और पारिवारिक धाराओं के अध्ययन की है। किन्तु यह विधि पूरी तरह से सही नहीं हो सकती और अनेक असामान्य व्यक्तियों की आनुवंशिकता के सम्बन्ध में इसके द्वारा पाये गये परिणाम निर्भ्रान्त सिद्ध नहीं

हुए हैं। प्रजातीय सम्बन्धों के चिह्नों के रूप में रक्त-समूह को मानवमितिक गुणों की तुलना में श्रेष्ठता प्राप्त है। रक्त कोषों में पाये जानेवाले लसीय (Serological) अन्तर विशुद्ध रूपेण शारीरिक हैं। वह आनुवंशिकता द्वारा निर्णीत होते हैं और उन पर वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह पदार्थ जो कि रक्त-समूहों को बताते हैं, शरीर के प्रत्येक संतंतु (Tissue) में विद्यमान हैं और घुलनशील रूप में सीरम (Serum), थूक और मूत्र में भी पाये गये हैं।

मनुष्य में रक्त-समूहों की विभिन्नता कुछ जटिल है क्योंकि इस लक्षण (रक्त-समूहों) को निर्णीत करनेवाले वाहकाणुओं के एलीलोमॉर्फो (Allelomorphs) की संख्या तीन, या अन्तिम सूचनाओं के आधार पर, चार है। इन एलीलोमॉर्फो की अन्तर्क्रिया चार रक्त-समूह उत्पन्न करती है जिन्हें १, २, ३, ४ या अधिक प्रचलित भाषा में A, B, O और A B का नाम दिया गया है।

लैंडस्टीनर और उनके शिष्यों ने १९०२ में A, B, O रक्त-समूहों की खोज की। उन्होंने पता लगाया कि मानव-प्राणियों को सामान्य (Normal) मानव सीरम (लसी) में पतले लाल कोषों के साथ दिखनेवाली एग्लूटिनीन (Agglutinin) अन्तर्क्रिया के अनुसार चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। उनका तरीका बहुत सादा था। उन्होंने एक व्यक्ति के सामान्य सीरम को अन्य सामान्य व्यक्तियों के रक्त में मिलाया और यह देखा कि कुछ अवस्थाओं में गौण अन्तर्क्रियाओं के स्थान पर, जिसकी उन्हें आशा थी, कुछ व्यक्तियों के सीरम ने अन्य व्यक्तियों के लाल रक्त कॉर्पस्यूलों (Corpuscles) को आपस में जमा (Clump) दिया। अन्य अवस्थाओं में यह रक्त अप्रभावित रहा। यह प्रतिक्रियाएँ कोषों की सतह पर विद्यमान पदार्थों, जिन्हें A और B कहा जाता है और जो कि लसीशास्त्रीय (Serological) भाषा में पॉलीसेकराइड कहलाते हैं, के होने या न होने पर निर्भर हैं। यह A और B पदार्थ एण्टीजेन (Antigen) या एग्लूटीनोजेन (Agglutinogen) वर्ग हैं। A कोष केवल A और B कोष केवल B, और AB कोष दोनों को और O कोष इनमें से किसी भी वाहकाणु को नहीं ले जाते। किसी भी व्यक्ति के लाल कोष अपने रक्त-समूह की रचना और प्रतिक्रिया में एक समान होते हैं। मानव सीरा (Sera) में यह दोनों या इन दोनों में से कोई ऐंटीबॉडी (Antibody) या हीमैग्लुटिनीन (Haemagglutinin) ऐंटी-A या ऐंटी-B, विद्यमान या अविद्यमान हो सकते हैं। एक सीरम में विद्यमान ऐंटी-A पदार्थ अपने को A कोषों के A पदार्थ से मिला सकता है। उस स्थिति में वह उनके गुणों को इस प्रकार परिवर्तित कर देता है कि वे एक दूसरे से चिपक जाते हैं (Agglutinate)। B कोषों के साथ ऐंटी-B का व्यवहार भी ऐसा ही होता है। किसी भी रक्त में ऐसी ऐंटीबॉडी नहीं होती जो कि उसके लाल कोषों को चिपकने दे, पर इसके विपरीत समस्त रक्तों में समस्त संभव ऐंटीबॉडी विद्यमान रहती है। इस एग्लूटिनेशन (Agglutination) परीक्षा के आधार

पर लैंडस्टीनर ने मानवप्राणियों को तीन समूहों तथा स्टर्ली (Sterli) और डीकास्टेलो (Decastello) ने १९१० में चार समूहों में बाँटा। फ़ॉन डुंगर्न (Von Dungern) और हज़्फ़ेल्ड ने यह निश्चित रूप से सिद्ध किया कि चारों रक्त-समूह पित्रागत (Inherited) होते हैं, किन्तु इनकी आनुवंशिकता की सही विधि का पता १९२५ में बर्नस्टीन ने लगाया। फ़ॉन डुंगर्न और हर्ज़स्फ़ेल्ड ने १९११ में A और B रक्त-समूहों के उपविभाजनों की उपस्थिति की खोज की, जबकि लैंडस्टीनर और लेविन ने मानव रक्त में तीन नये व्यक्तिगत गुणों का पता लाया। A, B, O प्रणाली की अनुवंश-विद्या (Genetics) तीन एललिक (Allelic) के सेट पर जिन्हें A, B, O या कभी P, Q, R भी कहा जाता है, आधारित है। वाहकाणु A एक या दोनों संबंधित वर्णसूत्रों (Chromosomes) में विद्यमान होने पर लाल कोषों में A पदार्थ या ऐण्टीजेन की उपस्थिति का निर्णय करता है। यदि विद्यमान एललिक वाहकाणु ऐंटीजेन उत्पन्न करने वाला A और B है तो O वाहकाणु उन दोनों में से किसी की उपस्थिति का दमन नहीं करता। इस प्रकार समूह A का रक्त प्रजननरूप (Genotype) A, A और A, O; रक्तसमूह B का B, B या B, O हो सकता है, पर समूह O रक्त का प्रजनन रूप केवल O, O और AB रक्त का प्रजनन रूप केवल AB हो सकता है। A ऐंटीजेन दो समूहों A_1 और A_2 जिनके A और AB समूहों के अनुसार क्रमशः पुनः दो उपविभाग—A_1, A_2 और A, B, A_2B हैं। दोनों ऐंटीजेनों पर सामान्य ऐंटीबॉडी, ऐंटी—A की प्रतिक्रिया होती है। A पर ऐंटी—A की प्रतिक्रिया होती है जबकि A_2 पर ऐसा नहीं होता। सदा की भाँति ऐंटीजेनों की प्रतिक्रिया एग्लूटिनेशन द्वारा व्यक्त होती है। इसके अतिरिक्त एललिक वाहकाणुओं द्वारा नियन्त्रित कुछ अन्य विरल समूह भी हैं, जैसे कि A_3, A_4 और शायद A_5 भी जो कि ऐंटी A_1 द्वारा कोई प्रतिक्रिया नहीं करते और जो A_2 की तुलना में समान एंटी—A द्वारा बहुत दुर्बल प्रतिक्रिया दिखाते हैं।

A, B, O के अतिरिक्त अन्य रक्त प्रणालियों की भी खोज की गई है। लैंडस्टीनर और लेविन ने १९२७ में MN रक्त-समूह की खोज की। वाल्श और मॉण्टगुमरी द्वारा खोजे गये Ss उपसमूह की खोज ने जिसे कि रेस और सैंगर ने स्पष्ट किया, MNSs प्रणाली के वर्गीकरण के महत्त्व में पर्याप्त वृद्धि की। इस प्रणाली को एक वर्णसूत्र के दो निश्चित स्थानों (Loci) के रूप में समझाया जा सकता है। एक निश्चित स्थान का स्थान M या N और दूसरे का S और s लेते हैं। प्रत्येक वाहकाणु MNSs अनुरूप ऐंटीजेन को जन्म देता है जिसे कि उपयुक्त ऐंटीबॉडी द्वारा लाल कोषों के एग्लूटिनेशन द्वारा पहचाना जा सकता है। इस प्रकार तीन MN आकृति-रूप (Phenotypes) हैं। M, N और N क्रमशः प्रजननरूप (Genotypes)

MM, MN और NN से मिलते हैं। S की खोज ने आकृति रूपों की संख्या को दुगुना और प्रजनन रूपों की संख्या को १० कर दिया है। नृतात्विक वर्गीकरण के लिये ऐंटी—S अभी सामान्यतः उपलब्ध नहीं है। मोटे तौर पर ABO और Rh रक्त समूहों की तुलना में MN की बारंबारता (Frequency) में कम अन्तर पड़ता है। अधिकांश जनसंख्याओं में M वाहकांणु की बारंबारता ५० से, ६०% के बीच है। सर्व प्रथम लैंडस्टीनर और वीनर ने रिसस बंदर (Macaca Mullato, जिसे पहले Macaca Rhesus भी कहते थे और जिससे कि इस समस्त रक्त-प्रणाली को यह नाम दिया गया) के लाल कोषों से प्रभावमुक्त (Immunized) खरगोशों और पालतू सुअरों के सीरम द्वार Rh ऐंटीजेन का पता लगाया था।

जहाँ तक कि MNSs और Rh प्रणाली को नृतत्त्व के व्यवहार में लाने का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि इनके न्यास ABO रक्तसमूह की भाँति पूर्ण नहीं हैं। अधिक M बारंबारता (Frequency) क्षेत्र पूर्वी बाल्टिक देशों से शुरू हो योरोपीय रूस, दक्षिणी एशिया और जावा तक विस्तीर्ण है। अमरीकन इंडियनों और एस्किमो लोगों में M की अत्यधिक विद्यमानता है। समस्त प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में, जिसमें कि ऑस्ट्रेलिया भी सम्मिलित है, N की विद्यमानता अत्यधिक है। न्यूगिनी में M की मात्रा सबसे अधिक है। N की सबसे अधिक बारंबरता लैप लोगों (Lapps) में मिलती है। यूरोप की जनसंख्या में आधे M वाहकाणु S और आधे s, जबकि N वाहकाणु ¼ S और बाकी s ले जाते हैं। भारत में यद्यपि यूरोप की तुलना में M अधिक सामान्य है, S पुनः M के साथ पाया जाता है। अफ्रीका की भूमि पर MN की उपस्थिति यूरोप के ही समान है, s अधिक विरल और प्रायः M और N में बराबर बंटा हुआ है। ८५% अमरीकी और श्वेत प्रजा के लाल रक्त कोषों में Rh मिलता है। भारतीयों में Rh का अत्यन्त अभाव है। खनोलकर द्वारा जाँच किये गए भारतीयों में से केवल दो ही ऐसे थे जिनमें कि Rh था। इन दोनों में भी एक पारसी और दूसरा इसाई था। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अनुवंश-विद्या विभाग (Genetics Department) द्वारा प्रदत्त सीरम द्वारा मजुमदार लखनऊ की जनता में ५·१७ प्रतिशत Rh—निगेटिव पा सके। Rh की खोज का महत्त्व इस बात में है कि एक स्त्री जिसका Rh—निगेटिव है, गर्भवती होने पर यदि उसके भ्रूण (Foetus) में Rh हो तो उसके अन्दर एग्लूटिनोजेन के विरुद्ध ऐंटीबॉडी विकसित हो जाती है। इसी प्रकार एक Rh—निगेटिव व्यक्ति को Rh—पॉज़िटिव रक्त देकर उसमें ऐंटीबॉडी विकसित की जा सकती है। पीलिया, दुर्बलता इत्यादि रोगों से पीड़ित या मृत जन्मे बच्चों की Rh की इस दृष्टि से जाँच की जानी चाहिये। रिसस कारक (Factor) की अनुवंश विद्या और उसकी जानकारी में हाल में पर्याप्त वृद्धि हुई है और जैविकीय नृतत्त्ववेत्ता (Physical Anthropologists) Rh कारक और उसके

उप-प्रकारों और M और N एग्लूटिनोजेनों के प्रजातीय महत्त्व की जानकारी की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं।

यदि हम एग्लूटीनिनों को ∝ (आल्फा) और β (बीटा) (∝ ऐंटीA और β ऐंटी B) और एग्लूटिनोजेनों को A और B द्वारा व्यक्त करें, तो हम जान सकते हैं कि किस प्रकार चार रक्त समूह बनते हैं। एग्लूटिनिन ∝ एग्लूटिनोजेन A पर प्रतिक्रिया कर एग्लूटिनेशन या जमने की स्थिति उत्पन्न करता है। इसी प्रकार एग्लूटिनिन β पर प्रतिक्रिया करता है। एक ही व्यक्ति में A और ∝, β और β साथ साथ नहीं रह सकते। किसी व्यक्ति को रक्त देते समय रक्त के चुनाव में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि A और ∝ या B और β एक दूसरे से न मिल जायें।

जीवकोषों में चिपकने वाले पदार्थ (Agglutinable Substances in cells)		सीरम में एग्लूटिनिन
O	(कुछ नहीं)	∝β
A	A	β
B	B	∝
AB	AB	(कुछ नहीं)

पहले पहल गोरिला और शिम्पैंज़ी में केवल A रक्त-समूह ही पाया गया, किन्तु १९४० में B की उपस्थिति भी सूचित की गई। ७६ परीक्षा किये गए शिम्पैंज़ियों में से ७१ A और केवल ५ O थे और ४ परीक्षा किये गये गोरिलाओं में से सब A थे। ११ एशियाई ओरंगउटनों में से ४ में A, ५ में B और २ में AB, तथा १० गिब्बनों में से २ में A, ६ में B और २ में AB पाया गया। इस प्रकार अफ्रीकी मानवसमों (Anthropoids) में से कुछ में O की उपस्थिति को छोड़कर समस्त मानवसमों में A का प्राधान्य था जबकि उनके एशियाई साथियों में B की प्रबलता है। ओरंग में (५+२) B और AB तथा गिब्बन में (६+२) B और AB का अनुपात है। लैंडस्टीनर और मिलर जिन्होंने यह पता लगाया कि वानरों (Apes) का एक सीरम उसी जाति के अन्य सदस्यों के इरोथ्रोसाइट्स (Eroythrocytes) को जमा सकता है, निम्न वानरों में मानव एग्लूटिनों को ढूढ़ने में सफल नहीं हुए।

जनसंख्या के विभिन्न न्यादर्शों (Samples) में चारों रक्त-समूहों की सापेक्ष बारंबारता (Relative frequency) का पता लगाया जाता है और इससे वाहकाणु एलीलोमॉर्फो (Allelomorphs) की सापेक्ष बारंबारता का अनुमान लगाया जाता है। वाहकाणु A, B और O की सापेक्ष बारंबारता क्रम से p, q और r

संकेतों की सहायता से निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त की जाती है :— $r = \sqrt{O}$, $p = \sqrt{O+A} - \sqrt{O}$, $q = \sqrt{O+B} - \sqrt{O}$ रक्त-समूहों के प्रजातीय महत्त्व का समुचित मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है, किन्तु रक्त-समूहों का भौगोलिक वितरण उनके प्रजातिशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने की ओर इंगित करता है। नृतत्त्ववेत्ता यह जानने को उत्सुक हैं कि रक्त-समूहों के न्यास मानवमिति और कपालमिति के निष्कर्षों की कहाँ तक पुष्टि करते हैं। हमें विदित है कि "रक्तसमूहों का अध्ययन एक विशेष प्रणाली द्वारा ही किया जा सकता है और यह (रक्त-समूह) एक दूसरे में इस सीमा तक मिले जुले हैं कि इनके द्वारा प्रजातीय अन्तरों का पता केवल कुछ सौ व्यक्तियों की जनसंख्या में ही लगाया जा सकता है।" इसलिये प्रजातियों के वर्गीकरण के लिये यह आवश्यक है कि हम बहुत से मानवमितिक, कपालमितिक और जीव-रसायनिक (Biochemic) लक्षणों का सर्वेक्षण करें।

१९१९ में हर्ज़फ़ेल्ड ने अनेक राष्ट्रों के सैनिकों के रक्त की परीक्षा की। उससे पता चला कि सभी प्रजातियों में O का अंश बहुत अधिक है। शुद्ध रक्त के अमरीकी इंडियनों में उसका अनुपात शत प्रतिशत तक पहुँच जाता है। यदि हम वाहकाणु बारंबारता (Gene Frequencies) को लें, तो हमें p और q वाहकाणुओं का अभाव मिलता है। आइनू लोगों में अवश्य p और q की मात्रा (Value) अधिक और r की कम है। यूरोप और उत्तर-पूर्वी एशिया में p वाहकाणु की अत्यन्त अधिकता है, पर जैसे ही हम पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हैं q की उपस्थिति बढ़ती जाती है, पर जब हम दक्षिण की ओर चलते हैं तो वह एकदम कम हो जाती है। ऑस्ट्रेलियन आदिवासियों में q की मात्रा बहुत ही कम है। टीब्ट और मैकानल के अनुसार यह ४·४ प्रतिशत तथा क्लीलैंड के अनुसार शून्य है।

उत्तरी अमरीकी इंडियनों में शत प्रतिशत O पाया गया है, यद्यपि मैटसन और श्रेडर ने ब्लैकफ़ीट और ब्लड्स दो संबंधित इंड़ियन क़बीलों में उच्च अनुपात में A पाया। इन दो क़बीलों में A के एकत्रीकरण को समझाने की आवश्यकता है। गेट्स का सुझाव है कि यह क़बीले A के उत्परिवर्तन (Mutation) के नये केन्द्र थे। उत्परिवर्तन की अवधारणा (Hypothesis) पर हम बाद में विचार करेंगे। गेट्स ने अपने लेख 'एस्किमों में रक्त-समूह और आकृतिशास्त्र (Physiognomy)' में बताया कि परीक्षा किये गये शुद्ध एस्किमो प्रकार के चेहरेवाले व्यक्तियों में O समूह और श्वेतांग और इंडियन मिश्रित प्रकार के एस्किमो लोगों में A समूह पाया गया। यह गेट्स का भाग्य था कि वह इस प्रकार का सह-सम्बन्ध पा सके, किन्तु हमें विभिन्न आदिवासी चेहरों और और रक्तविशेष के साथ सह-सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता नहीं मिली है। रक्तसमूहों के बारंबारता वितरण (Frequency Distribution) को आँकने में इस सह-सम्बन्ध की साक्षियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

अमरीकी इंडियनों में पाई जानेवाली काकेशीय समता ने उनके प्रजातीय सम्बन्ध की कठिनाइयों को बढ़ा दिया है और ब्लूमैनबाख़ (१७७५ ई०) जैसे कुछ विद्वानों ने उन्हें पृथक् प्रजाति की कोटि में रखा है। ऑस्ट्रेलियनों में मुख्यतः A के साथ O पाया जाता है (क्लीलैंड १९२९, न्यादर्श-आकार २२६, O ४३·८८, A ५६·२०)। इसी लेखक ने १८३० में २६६ ऑस्ट्रेलियनों में ४१·६ O और ५८·४ A पाया। ली को निम्न प्रतिशत प्राप्त हुए: ३७७ में ६०·३ O, ३१·७ A, ६·४ B और ९·६ AB, जबकि मैकोनल को १,१७६ में ५२·६ O, ३६·९ A, ८·४ B और २·० AB प्राप्त हुए। फ़िलिप्स के अनुसार माओरियों तथा निग के अनुसार हवाइयनों में A का अनुपात पर्याप्त ऊँचा है (क्रमशः ३९·५ तथा ६०·८ प्रतिशत), जबकि क्लीलैंड को ऑस्ट्रेलियनों में ५६ से ५८ प्रतिशत A मिला। टीबट और मैकॉनल को केवल ३१ से ३८ प्रतिशत के अनुपात में A मिला।

उपर्युक्त पड़ताल से यह तो स्पष्ट है कि ऑस्ट्रेलियनों, हवाइयों और माओरिओं में B बहुत ही कम या नहीं ही है। उत्तर पश्चिमी यूरोप और उसी भाग में स्थित अमरीकनों में ऑस्ट्रेलियनों और ओशेनियावासियों की तुलना में A का अनुपात अधिक है। कुछ लेखकों के अनुसार यूरोप में अधिक A का पाया जाना श्वेत प्रजाति का प्रजातीय गुण माना जा सकता है, यद्यपि ऐल्पाइन या भूमध्यसागरीय जननीय समूह की तुलना में नार्डिक A में कम समृद्ध हैं। आदिकालीन समूहों में B अधिक विस्तृत रूप से नहीं फैला हुआ है। B का प्रतिशत अनुपात बांटुओं में १·९२ (पाइपर १९३०); अमरीकी नीग्रो में २० (स्नाइडर); सोलोमन द्वीपवासियों में १६·८ (हॉवेल्स १९३३), समोअनो में १३·७ (निग); पापुओं में १३·२ (बिज्लमेर १९३२), फ़ीजियनों में ९·४ (हॉवेल्स, १९३३); मद्रास के प्राग्द्रविड़ क़बीलों में ९·० (मैक्फ़रलेन); पनियनों में ७·६ (अइयप्पन); अंगामी नागाओं में ११·५ (मित्र) तथा कोनयक नागाओं में १०·२ (ब्लड ग्रुप्स पर ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन रिसर्च कमेटी) है। उपर्युक्त न्यासों से ऐसा प्रकट होता कि आदिवासी क़बीलों में B तत्त्व अपनी निजी विशेषता नहीं हैं और संभवतः वह अन्य बाहरी स्रोतों से आया है, या जैसा कि गेट्स का कहना है, B उनमें बहुत बाद में प्रकट होने लगा है।

उत्तरी भारत के हिन्दुओं में हर्ज़स्फ़ेल्ड ने B का बहुत अधिक, यहाँ तक कि १४ प्रतिशत, अनुपात पाया। बैस और वरहौफ़ ने दक्षिणी भारत के हिन्दुओं में ३१·६ प्रतिशत B पाया। मैलोन और लाहिरी ने २,३५७ हिन्दुओं की परीक्षा कर उनमें से ३७·२ प्रतिशत, B पाया। इन सभी लेखकों ने हिन्दू शब्द का प्रयोग हिन्दुस्तान में रहनेवाले समस्त लोगों के लिए किया है। B के इस प्रबल एकत्रीकरण ने B के संभावित स्रोत के संबंध में अनेक कल्पनाओं को जन्म दिया है। उक्त सभी न्यादर्शों की विजातिता (Heterogeneity) को ध्यान में रखना भी आवश्यक है।

बाएँ से दाएँ : *(ऊपर)* (१) करवाल (उत्तर प्रदेश का अपराधोपजीवी क़बीला)
(२) संथाल (छोटा नागपुर) (३) संथाल स्त्री
(बीच में) (४) इरूला (दक्षिण भारत) (५) वेद्दा (श्रीलंका)
(६) कडर पुरुष (दक्षिण भारत)
(नीचे) (७) भील (८) उराँव (९) उराँव कन्या

बाएँ से दाएँ : *(ऊपर)* (१) खावा युवती (क़बीला, उ. प्र., सीमांत आसाम)
(२) नुंग पुरोहित (बर्मी क़बीला) (३) खासी (आसाम)
(बीच में) (४) उरली (तिरुवांकुर) (५) मालाआर्यन (तिरुवांकुर)
(६) पलियन (दक्षिण भारत)
(नीचे) (७) गूजर स्त्री (हिमाचल प्रदेश) (८) गूजर पुरुष
(९) उज़बेक (ताशकंद)

बाएँ से दाएँ : *(ऊपर)* (१) बिरहौर (२) बिरहौर स्त्री (३) हो स्त्री
(बीच में) (४) थारू (५) खस स्त्री (जौंसार-कावर) (६) थारू स्त्री
(नीचे) (७) हबूड़ा (उत्तर प्रदेश की अपराधोपजीवी क़बीला)
(८) कोरवा (उत्तर प्रदेश) (९) कोरवा स्त्री

बाएँ से दाएँ : *(ऊपर)* (१) मरिया स्त्री (बस्तर राज्य) (२) सिंगाड़ा या पहाड़ी मरिया (३) बोंड़ परजा (आंध्र)
(बीच में) (४) नागा (आसाम की पहाड़ियाँ) (५) खासी (आसाम) (६) नागा स्त्री
(नीचे) (७) हो (छोटा नागपुर) (८) राजगोंड (हैदराबाद) (९) कूकी युवती (आसाम)

बाएँ से दाएँ : *(ऊपर)* (१) भाटिया (२) वघेर (गुजरात) (३) ब्राह्मण (गुजरात) *(बीच में)* (४) खोजा (५) कुनबी पट्टीदार (६) खड़वा (गुजरात) *(नीचे)* (७) लुहाना (गुजरात) (८) नुनिया (राजपूत) (९) काठी (काठियावाड़)
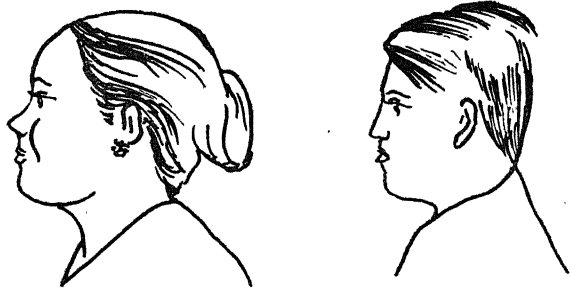
बाएँ से दाएँ : *(ऊपर)* (१) बंगाली कायस्थ (२) बंगाली वैदिक ब्राह्मण.
(३) राजपूत परमार
(बीच में) (४) मराठी चित्पावन ब्राह्मण (५) तमिल ब्राह्मण
(नीचे) (६) उत्तर प्रदेशीय ब्राह्मण (७) गुजरात नागर ब्राह्मण स्त्री

बर्नस्टीन ने एक मौलिक विशुद्ध प्रजाति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें न A और न B एग्लूटिनोजेन उपस्थित थे। वह R प्रजाति थी। इस R प्रजाति से AB प्रजाति एशिया के किसी स्थान में तथा A प्रजाति यूरोप में कहीं विकसित हुई। यदि यह सिद्धान्त सिद्ध किया जा सकता, तो यह प्रजातियों के जननिक (Genetic) वर्गीकरण का आधार बनता। गेट्स ने अपने उत्परिवर्तन के सिद्धान्त से इस अवधारणा को पुष्ट किया है। उनके अनुसार A और B, O के स्वाधीन उत्परिवर्तन हैं। संख्याशास्त्री उत्परिवर्तन अवधारणा के प्रति सन्देह उत्पन्न करते हैं। उनका कहना है कि वर्तमान चार रक्त-समूहों की उपस्थति को उत्परिवर्तन द्वारा उत्पन्न होने में कम से कम ढाई लाख वर्ष लगेंगे। कुछ पृथक् और सीमान्त लोगों की प्रारंभिक जाँचों में चारों रक्त-समूह नहीं मिले, पर बाद की गवेषणाओं ने मानव जाति में ही नहीं प्रत्युत मानवसम वानरों में भी रक्त-समूहों की उपस्थिति सिद्ध की है।

ओटनबर्ग ने १९२५ में लसीय न्यासों (Serological Data) के आधार पर संसार की जनसंख्या को छः स्पष्ट रूप से भिन्न जातियों में बाँटा। यह प्रकार थे: (१) यूरोपीय, (२) माध्यमिक (Intermediate), (३) हूनान, (४) हिन्द-मंचूरियाई, (५) अफ्रिकी दक्षिणी-रशियाई, और (६) प्रशान्त अमरीकी। सिंडर ने वाहकाणु बारंबारता (Gene frequency) या p q कारकों के आधार पर सात प्रकार पाये: (१) योरोपीय, (२) माध्यमिक, (३) हूनान, (४) हिन्द-मंचूरियाई (५) अफ्रीकी-मलायेशियाई, (६) प्रशान्त-अमरीकी और (७) ऑस्ट्रेलीय। इन सब लसीय वर्गीकरणों में यूरोपीय को पृथक् लसीय प्रकार बताया गया है क्योंकि उसमें A का अनुपात अत्यधिक है, जबकि हिन्द-मंचूरियाई में B के अनुपात की अधिकता है। यदि A और B दोनों O के उत्परिवर्तन हैं तो हम लसीशास्त्र के निष्कर्षों की सहायता से प्रजातीय भिन्नताएँ नहीं समझ सकते। भारत की विभिन्न जातियों में B का प्रतिशत काफी अधिक पाया जाता है, और जैसे ही हम पूर्व की और बढ़ते जाते हैं इसका अनुपात बढ़ता जाता है। पर जहाँ पुरा-ऑस्ट्रेलीय क़बीले पनियन में ६०·% A और २०%B पाया गया है, भारत के अधिकांश आदिकालीन क़बीलों में B की विद्यमानता बहुत कम है। हर्ज़फ़ेल्ड द्वारा बनाये गये जीव–रासायनिक देशनांक (Biochemical index) से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश अन्य प्रजातियों की तुलना में यूरोपियनों का जीव-रासायनिक देशनांक अधिक ऊँचा है। विभिन्न लेखकों के आधार पर हम निम्न तालिका में भारत की विभिन्न जातियों और क़बीलों के जीव-रासायनिक देशनांक प्रस्तुत कर रहे हैं।

जीव-रासायनिक देशनांक (Biochemical index)

२ से अधिक		२ और १ के बीच में		१ से नीचा। कम	
कोनयक नागा	३·१	खासी	१·०	बंगाली कायस्थ	·८३
पनियन	४·१	ऐंग्लो-इंडियन	१·७	बंगाल के महसिया	·५९
अंगामी नागा	२.८	बंगाली ब्राह्मण	१·०	बंगाल के शहरी मुस्लिम	·९६
लुशाई	२·२५	हिमालय के खस	१·०५	,, ,, ग्रामीण ,,	·६५
		कोरवा	१·४६	,, ,, बागड़ी ,,	·७५
		भोकसा	१·८६	उत्तर प्रदेश के कायस्थ	·७१
		मुंडा	१·०२	चमार	·५४
		चेंचू	१·७३	डोम	·६२
		नायर	१·५०	यारू	·६३
				अपराधी	६४
				भाटू	
				,, करवाल	·६५
				शिया	·७८
				सुन्नी	·६६
				क्षत्रिय	·८५
				ब्राह्मण	·९३
				कुर्मी	·६८
				टोडा	·६३
				राजपूत	·८९
				पठान	·९४
				मारिया गोंड	·८२
				मराठा	·८३
				सीरियन इसाई	·९३

भारतीय न्यासों के आधार पर निकाले गये जीव-रासायनिक देशनांक किसी ऐसे प्रजातीय वर्गीकरणों का समर्थन नहीं करते, जिनमें कि यूरोपियनों को पृथक् लसीय श्रेणी में रखा जाय, क्योंकि कुछ ऐसे समूह जिनका लसीय देशनांक २·५ या उससे अधिक निकला पनियन, कोनयक नागा और अंगामी नागा थे। दूसरे शब्दों में इस प्रकार मंगोलीय, ऑस्ट्रेलीय या पुरा-ऑस्ट्रेलीय क़बीले, सभी हर्ज़स्फेल्ड के 'यूरोपीय

टाइप' के अन्तर्गत आ जाते हैं। लुशाई, चेंचू, भोकसा, कोरवा, ऐंग्लोइंडियन और नायर O से १·९ के बीच आते हैं तथा अन्य समूहों का देशनांक एक या उससे भी कम है। अतः जीव-रासायनिक देशनांक के वितरण से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। निर्धारित सीमाएँ मनमानी हैं। वैलिश ने वाहकाणु बारंबारता के आधार पर संशोधित प्रजातीय देशनांक प्रस्तुत किया, परन्तु वह भी संतोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। ओटनबर्ग ने रक्त-समूहों को उन समूहों में आश्चर्यजनक रूप से स्थिर पाया जिनमें अल्प या बिल्कुल भी प्रजातीय मिश्रण नहीं हुआ। स्नाइडर के अनुसार सीमांत या पृथक् लोगों में O का अधिक अनुपात इस बात की ओर इंगित करता है कि जिन लोगों में ५०% से अधिक O का अनुपात है वह द्वीपवासी या पृथक्कृथत हैं, जहाँ कि अन्तर्मिश्रण की कम संभावनाएँ हैं। भारत के विभिन्न न्यादर्शों में O प्रतिशत के अन्तर निम्नतालिका में दिये गये हैं।

परीक्षा किये न्यादर्शों में O का प्रतिशत
(विभिन्न लेखकों के आधार पर)

चमार	३६·६७	खत्री	३२·००	जाट	३२·३०
कायस्थ	३६·०४	मुंडा	३३·३३	अंगामीनाग	४६·०६
डोम(पहाड़ी)	३६·०	चेंचू	३७·००	लुशाई	३२·६३
शिया	३५·८५	पनियन	२०·००	कोनयक नागा	४५·७०
ब्राह्मण	३४·३०	मारिया गोंड	२८·४६	खासी	३५·१७
मुसलमान (सामान्य)	३२·५८	टोडा	२९·५०	ऐंग्लोइंडियन	३७·२८
खस	३०·४९	काले यहूदी	७३·६०	बंगाली ब्राह्मण	३५·२०
क्षत्रिय	३०·८४	नायर	३८·८०	,, कायस्थ	३२·००
कुर्मी	३४·५८	सीरियन ईसाई	३६·४०	,, महीसिया	३२·५०
भोकसा	३०·५५	मराठा	२९·२५	,, मुसलमान	२८·३३
कोरवा	३१·९७	राजपूत	२८·८०	मुसलमान शहरी	३३·१०
भांतू	२७·४३	पठान	२९·३०	बंगाल के बागड़ी	२९·९३
थारू	२८·०५				

उक्त न्यासों के आधार पर यह सामान्य निश्कर्ष निकलता है कि भारत में O का अनुपात समस्त प्रान्तों में प्रायः समान और एक तिहाई है। क़बीली समूहों में

कोनयक और अंगामी आदि नागा क़बीलों में सबसे अधिक अनुपात में O है; पनियनों को छोड़कर अन्य सब पुरा-ऑस्ट्रेलीय क़बीलों में भी इसकी मात्रा ३०% से अधिक है। निम्न जातियों की तुलना में उच्च जातियों में O का अनुपात अधिक है और दक्षिण के काले यहूदियों में तो इसकी मात्रा ७३·६०% तक पहुँच गई है। पनियनों में O निम्नतम है। यदि यह मान लिया जाए कि O वह रक्त-समूह है जिसमें से कि अन्य सब रक्त-समूह निकले हैं, तब इस संख्या में O का वितरण उसमें विशुद्धता की मात्रा को सूचित कर सकता है। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ऐसी प्रस्थापना ठीक नहीं है।

उत्तर-प्रदेश और गुजरात की नृतात्त्विक पड़तालों में हमने रक्त-समूहों के प्रजातीय महत्त्व को जानने का प्रयास किया था। सामाजिक समूहों के बीच प्रजातीय दूरी नापने के लिये लसीय साक्षी पर्याप्त नहीं है, पर यदि इसे मानवमितिक न्यासों के साथ मिलाकर पढ़ा जाये, तब हम सामान्य रूप से प्रजातीय संबंध और दूरी जान सकते हैं। उत्तर प्रदेश में २१ न्यादर्शों की परीक्षा की गई और उनके अन्तर्सम्बन्धों की जांच की गई। यह देखा गया कि प्रजातीय श्रेष्ठता के क्रम के आधार पर विभिन्न समूहों को पद-क्रम से रक्खा जा सकता है। हमने दो मिश्रित न्यादर्श लिये और दूरी के आधार पर उन्हें क्रम से रखा। हमने देखा कि एक ओर जातीय समूह और दूसरी ओर क़बीली समूह पृथक् हो गये। पर जब हमने विभिन्न जातियों की आपस में तुलना करनी चाही तब अधिकांश अवस्थाओं में उनके अंतर सांख्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न थे। इससे संभवतः स्पष्ट हुआ कि प्रजाति और पेशे के बीच स्वल्प संबन्ध है चूँकि अधिकांश जातियाँ सामान्यतः विभिन्न पेशेवर समूह हैं।

रक्त-समूहों के अध्ययन से आज यह स्पष्ट है कि यूरोप में A और एशिया में B की उपस्थिति का अधिक अनुपात है, जबकि आदिवासी और सीमान्त लोगों में B और AB की मात्रा अत्यल्प या नगण्य है। मैलोन, लाहरी, मैकफ़रलेन और मजुमदार ने, जिन्होंने भारत में विस्तृत लसीय पड़तालें की है, भारत में B का पर्याप्त अधिक एकत्रीकरण पाया। चीन, जापान और मलायेशिया में भी B की अधिकता देखने में आती है। भारत में जाति और साम्प्रदायिक आधार पर हुए कुछ हाल के रक्त-समूह पड़तालों के अध्ययन से यह प्रकट हुआ कि जैसे जैसे हम उच्च जातियों से निम्न जातियों की ओर चलते हैं A घटता जाता है और निम्न जातियों में B की प्रबलता है, हालाँ कि क़बीली समूहों में यह नहीं मिलता। मैकफ़रलेन और मजुमदार दोनों ने ही मिश्रित जातियों में वर्णसंकरता (Hybridization) को B का एकत्रीकरण निर्धारित करने का महत्त्वपूर्ण कारण सुझाया है। इसके अलावा मजुमदार ने यह भी पता चलाया कि भारत के अस्वास्थ्यकर या मलेरिया-प्रधान क्षेत्र में बसनेवाले सामाजिक समूहों, जातियों और क़बीलों में B का अधिक प्रतिशत विद्यमान है।

वूलार्ड और क्लीलैंड के अनुसार यूरोप में रक्त-समूहों के हेरफेर यदि कुछ सिद्ध करते हैं तो यह, कि यूरोपवासी पूर्णतः मिश्रित हैं। भारत में हुई लसीय पड़तालों से एक यह निष्कर्ष निकलता है कि उन प्रान्तों में जहाँ कि प्रजातीय तत्त्व बहुत भिन्न नहीं हैं, विभिन्न सामाजिक समूहों में विभिन्न रक्त-समूहों के प्रतिशतों के अन्तर अल्पाधिक रूप से समानान्तर हैं। गुजरात में, जहाँ कि मुसलमान उच्च जातियों में से दीक्षित हुए हैं, उनमें रक्त की उपस्थिति उच्च हिन्दू जातियों के समान है। इसके विपरीत बंगाल में, जहाँ कि अधिकांश मुसलमान, आदिवासी या अर्ध-आदिवासी जनसंख्या में से दीक्षित हुए हैं, लसीय दृष्टि से वह उन्हीं से मिलते हैं। पर रक्त-समूह केवल एक नृतात्त्विक लक्षण है, और उससे हम प्रजातीय समूहों के बारे में सब कुछ नहीं जान सकते। मैलोन और लाहिरी ने उत्तर भारत के दो हजार से अधिक न्यादर्शों की रक्त-परीक्षा की, पर उन्होंने विभिन्न जातियों और क़बीलों के न्यासों को पृथक् नहीं रखा। जैसा कि मैकफ़रलेन ने निर्देश किया है, इससे हम उन समूहों में किसी विशेष रक्त-समूह की उपस्थिति को नहीं जान सकते। चूँकि भारतीय जातियाँ सदियों के सम्पर्क के बाद भी अन्तर्विवाही (Endogamous) हैं, जातिवार वाहकाणु बारंबारता का विवरण अत्यन्त उपयोगी होता। बाइस और वैरहॉफ़ द्वारा १९२८ में सुमात्रावासी तमिल कुलियों से संबंधित न्यासों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। ये कुली दक्षिण भारत और लंका की विभिन्न निम्न और अछूत जातियों के सदस्य थे। यद्यपि हिन्दुओं में B की प्रतिशत उपस्थिति के सम्बन्ध में हर्ज़फ़ेल्ड के न्यास संदिग्ध हो सकते हैं, फिर भी भारत के रक्त-समूहों के हाल के न्यासों से यह निश्चित है कि भारत में B का प्रतिशत बहुत ऊँचा है। नीलगिरि के टोडा में ३८·० (पंडित, १९३४); पठानों में ३०·० (मैलोन और लाहिरी); मराठों में ३४·० (कोरिया, १९३४); जाटों में ३७·२ (मैलोन और लाहिरी); संथाल, मुंडा और उराँव में ३६·८ (मैलान और लाहिरी); बंगाल की दलित जातियों में ४२·७ (मैकफ़रलेन); बंगाल के मुसलमानों में ४०·० (मैकफ़रलेन); उत्तरप्रदेश के चमारों में ३८·३ (मजुमदार); उत्तर-प्रदेश के दो पूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों, भाँटू और करगालों में, क्रमशः ३९·८ और ४०·६ (मजुमदार); उत्तरप्रदेश और बिहार के डोमों ३९·४ प्रतिशत B पाया गया।

बिज्लमार के अनुसार मध्यभारत में B अत्यधिक है और जैसे-जैसे हम चारों दिशाओं में बढ़ते हैं, वह कम होता जाता है। भारत के पश्चिम में यह सबसे कम है और अरब तथा अफ्रिका के दक्षिण-पश्चिम में तो यह नगण्य हो गया है। भारत और मंगोलिया में बसे विभिन्न प्रजातीय वर्गों में B की अधिकता को समझने की जरूरत है। जापान और चीन में B का अनुपात ऊँचा है। १९२७ में स्टीफैन, वलिश और मियाजु द्वारा परीक्षा किये गये २९,४८० व्यक्तियों में से ३०% व्यक्तियों में O,

२२% में A, ३८% में B और १०% में AB पाया गया। पश्चिमी चीन के सेंचुआन प्रांतवासी च्वान म्याओ क़बीले में B का अधिक एकत्रीकरण—३८% (यांग, बेह और मोर्स) पाया गया। च्वांग म्याओ निस्संदेह बहुत ही पृथक् और निर्धन समूह हैं। वह पहाड़ियों में रहते हैं और उनका यूरोपियनों से कोई सम्पर्क नहीं हुआ है। वह बहुत कम माँस और सब्ज़ियाँ खाते हैं तथा मक्का और चावल ही उनका मुख्य भोजन है।

उपर्युक्त न्यासों के अवलोकन से भारत में B की प्रभुता बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। यदि भारत को B लक्षण का केन्द्रस्थल मान लिया जाये, तो अवश्य ही उसके प्रसार में उसका बड़ा हाथ रहा होगा। संभव है कि वह पश्चिमी भारत द्वारा अफ्रीका और पूर्व की ओर मलय द्वीपसमूह और आगे पूर्व में फैला हो। ऑस्ट्रेलियनों, अमरीकी इंडियनों और विशुद्ध पॉलिनेशियनों में B की अत्यन्त अल्प या नगण्य प्रतिशत मात्रा यह प्रदर्शित करती है कि इन क्षेत्रों से, न कि भारत से इनकी ओर, B का प्रसार हुआ है। हॉवेल्स के अनुसार B लक्षण मध्य एशिया और भारत द्वारा इंडोनेशिया होता हुआ फ़िलीपीन तक एक हज़ार ईस्वी पूर्व तक हिन्दू प्रभाव के विस्तार के साथसाथ फैला और यूरोप में तो व्यापारिक सम्बन्धों द्वारा और देर में प्रविष्ट हुआ। मध्य एशिया से यूरोप की ओर चलते हुए B का बराबर घटते जाना रोचक है, क्योंकि ऐसा विश्वास है कि भारत में जहाँ B का सबसे अधिक केंद्रीकरण है, आर्य-भाषी प्रजाति या श्वेत प्रजाति की शाखा के लोग बसे हुए हैं। बंगाल की दलित जातियों और उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों में B की प्रबलता और आसाम, बर्मा व तिब्बत की जनसंख्या में उसकी अल्प उपस्थिति इसकी ओर संकेत करते हैं कि भारत B के प्रसार का केन्द्रस्थल रहा है। पिछले सालों में बड़ी संख्या में रक्त-परीक्षाएँ हुई हैं और पहले की तुलना में हम आज रक्त-समूहों के वितरण के संबंध में अधिक अधिकार के साथ कह सकते हैं।

मैकफ़रलेन ने उत्तर-पश्चिम में बसे औरंगाबाद जिले के कन्नड़ तालुके में ४४ भील स्त्री-पुरुषों के रक्त की परीक्षा की। उनमें उन्हें ३१·५ प्रतिशत O, १३·६ A, ५२·३ B तथा २·३ प्रतिशत AB मिला। यदि इसकी पुष्टि हो सके तो यह निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है। मैकफरलेन का मत है कि यह हो सकता है भीलों में भारत के B रक्त-समूह का संग्रह-भंडार (Reservoir) है, जिसमें से छनकर यह उच्च जातियों में पहुँचा है, क्योंकि भीलों में सैनिक और दस्तकार होने की प्राचीन परम्परा है। गुजरात रिसर्च सोसायटी और बम्बई विश्वविद्यालय के सहयोग में लेखक ने स्वयं १९४१ में ३६९ भील स्त्री-पुरुषों के रक्त की परीक्षा की। लेखक को भीलों में निम्न प्रतिशतताएँ प्राप्त हुई: ३७·५% O, २७·५% A, २६% B और १९% AB | १९४३ में लेखक ने राजपीपला के भील क्षेत्र का दौरा किया और सतपुड़ा पहाड़ी के मालसभोट पठार के १५६ भीलों की

रक्त परीक्षा की। इससे प्राप्त न्यासों से हमारे पहले न्यासों की पुष्टि हुई। इस प्रकार मैकफ़रलेन के B एकत्रीकरण के अनुमान की पुष्टि न हो सकी। अतः हमें B के संग्रह-भंडार के भीलों को छोड़कर अन्यत्र कहीं खोज करनी होगी। हाल में श्रीमती उमा बासु ने भीलों के कुछ समूहों की परीक्षा की। उनके परिणामों से भी लेखक द्वारा प्राप्त परिणामों की पुष्टि हुई। भीलों को आदिवासी समूह कहा गया है, पर अब वह समय आ गया है जब हमें अपनी संस्कृतिशास्त्रीय शब्दावलि में परिवर्तन की आवश्यकता है। जहाँ तक रक्त-समूहों के वितरण या अन्य प्रजातीय गुणों का सम्बन्ध है, भीलों में आदिवासी गुणों का पर्याप्त अभाव है। लेखक के मत में कोल और संथालों के साथ भीलों का वर्गीकरण केवल 'कोल, भील, संथाल,' की ताल मिलाने के लिये है, न कि किन्हीं मूलभूत प्रजातीय समताओं पर आधारित है।

यद्यपि सभी देशों में चारों रक्त-समूह भिन्न अनुपातों में पाये जाते हैं, किसी देश में उनमें से किसी एक या उससे अधिक रक्त-समूहों की अल्पत्व या प्रबलता की व्याख्या की जरूरत है। O यों तो सभी प्रजातियों में मिलता है, पर केवल अमरीकी इंडियनों में वह शुद्ध रूप में पाया जाता है। हाल ही में यह पता चला है कि मिश्रित अमरीकी इंडियनों में A का अत्यधिक केन्द्रीकरण है। पश्चिमी यूरोप के लोगों में A तथा एशिया के लोगों में B की प्रबलता है। उक्त तथ्यों ने रक्त प्रकारों (Blood types) के उद्गम के निम्न सिद्धान्त को एक विश्वसनीय-सा रूप प्रदान किया है। 'मूलतः मनुष्य में O गुण विद्यमान था, A बाद का उत्परिवर्तन (Mutation) या जो सर्वप्रथम पश्चिम में प्रकट हुआ या बाद में पूर्व में फैला।' A के उत्परिवर्तन के और भी केन्द्र हो सकते हैं, जैसे कि हिन्द-चीन। संभव है B एशिया में उत्पन्न हुआ हो और वहाँ से प्रवास द्वारा अन्यत्र फैला हो किन्तु यह तथ्य कि A और B मानवसम वानरों (Anthropoid apes) में मिलते हैं। उत्परिवर्तन के सिद्धान्त के संबंध में संदेह उत्पन्न करता है। पर जैसा कि स्नाइडर का कहना है, मनुष्य और वानर में स्वतन्त्र समानान्तर उत्परिवर्तन भी हो सकते हैं। गेट्स का कहना है कि यह अवधारण आधुनिक जननिक कल्पनाओं के सर्वथा अनुरूप है। यह तथ्य कि अनेक आदिकालीन और सीमान्त लोगों में O और A विद्यमान हैं, इस बात की ओर संकेत करता है कि A एक आदिकालीन लक्षग है और वह B से पहले विकसित हुआ है। यदि चारों रक्त-समूह प्रारम्भ से ही मनुष्य में विद्यमान रहे हैं, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, तो रक्त-समूहों के आधुनिक अंतर संभवतः पृथक्करण (Isolation) और प्रवास द्वारा समझाये जा सकते हैं।

यह अनुमान लगाया गया है कि रक्त-समूह जैसे लक्षणों के, जिनका कि कोई चुनाव संबंधी महत्त्व नहीं है, उत्परिवर्तन की दर आज विद्यमान उसकी अधिकतम उपस्थिति को

समझाने में असमर्थ है। यदि A और B, O से उद्भूत उत्परिवर्तन हैं, तो वाईमैन और बॉयड के अनुसार A और B वाहकाणुओं को वर्तमान उपस्थिति प्राप्त करने में ७,४५,००० वर्ष लगेंगे। गेट्स ने फ़िशर की सहायता से सिद्ध किया है कि यदि O से A की उत्परिवर्तन दर १,००,००० में एक हो, तो बिना चुनाव (Selection) के बीच में आये, जनसंख्या में १० प्रतिशत A आने में २,५०,००० वर्ष लग जायेंगे। जैसा कि हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, कि रक्त-समूहों से प्राप्त न्यास अभी वर्तमान किसी अवधारणा को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। जब कभी किसी लेखक ने एक ही समूह के दो ऐसे वर्गों का अध्ययन किया है जिनमें से एक पृथक् या अन्तर्जनित (Inbred) है और दूसरा बहिर्जनित है, एक मैदान में रहनेवाला और दूसरा पहाड़ों पर रहनेवाला है, तो उसे भिन्न परिणाम प्राप्त हुए हैं।

अभी तक उपलब्ध रक्त-समूहों के तथ्यों की तुलना से यह प्रकट होता है कि उन सामाजिक समूहों में जो कि क़बीली अवस्था पार कर जाति पद को प्राप्त कर चुके हैं, या जो वर्णसंकर (Hybrid) जातियों के रूप में प्रसिद्ध हैं, B का एकत्रीकरण बहुत स्पष्ट है। बंगाल की दलित जातियों और उत्तर प्रदेश के पूर्व अपराधोपजीवी क़बीलों में B का उच्च एकत्रीकरण पाया गया है। पनियनों, नागा क़बीलों में अंगामी और कोनयकों, तथा भीलों में B की निम्न प्रतिशतता पायी गई है। पर जैसे ही हम अपनी पड़ताल में उन क़बीलों को सम्मिलित कर लेते हैं, जिनमें कि अन्तर्क़बीली विवाह या जिनके पड़ोसी क़बीलों या जातियों के साथ यौन संबंध विद्यमान हैं, B की प्रतिशतता तत्काल बढ़ जाती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए अधिक न्यासों की आवश्यकता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णसंकरता का जनसंख्या में किसी रक्त को बढ़ा देने से अवश्य कुछ संबंध है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रक्त-समूह केवल एक लक्षण है और जब तक हम इसे मानवमितिक और अन्य अनिश्चित और त्वचा के लक्षणों के साथ मिलाकर नहीं देख लेते, हम भूल करेंगे। यदि हम समस्त भारतीय क़बीलों और समूहों से उपलब्ध A और B के लसीय मूल्य (Seriological value) की तालिका बनायें, तो हमें अगले पृष्ठ पर दिए हुए ऋण-मूल्य (Negative values) प्राप्त होंगे।

जाति या क़बीला	A–B	जाति या क़बीला	A–B
हज़ारा	१४	बंगाली कायस्थ	११·७
जाट	११	,, ब्राह्मण	१२·०
खत्री	५	,, महिशिया	१९·४
राजपूत	५	,, अछूत हिन्दू	१७·८
उ. प्र. के हिन्दू	१२·७	मुसलमान	१६·७
,, कायस्थ	१२·७	संथाल	१४·६
,, खत्री	९·१	मारिया	८·१
,, चमार	२०·६	चेञ्चू	१९·०
,, डोम	१६·६	गोआनी	६·५
,, डोम(पहाड़ी)	१३·८	मराठा	७·३
,, भाट्टू	१५·१	नायर	१३·१
,, करवाल	१८·०	पनियन	५२·८
,, थारू	२०·६	सीरियन ईसाई	२·२
		तमिल	५·४
		टोडा	१८·५
		भील	१·४
		पटेल	१·५

–५ और उससे अधिक, –५ से –१५ और –१५ और उससे भी कम A–B मूल्यों में उक्त जाति और क़बीलों को बाँटे तो हमें निम्न वर्गीकरण प्राप्त होता है:—

(–५ और उससे अधिक)	(–५ से–१५ तक)	(–१५ और उससे भी कम)
पनियन (दक्षिण भारत)	तामिल (दक्षिण भारत)	अछूत हिन्दू (समस्त भारत)
चेञ्चू ,,	खत्री (पंजाब)	मुसलमान (बंगाल)
नायर ,,	राजपूत (मध्य भारत)	महिशिया ,,
सीरियन ईसाई ,,	हज़ारा (पंजाब)	डोम (उत्तर प्रदेश)
भील ,,	जाट ,,	भाट्टू ,,
पटेल ,,	बंगाली कायस्थ (बंगाल)	करवाल ,,
	,, ब्राह्मण ,,	टोडा (नीलगिरि)
	गोआनी (गोआ)	थारू (उत्तर प्रदेश)
	मराठा (बंबई)	

इस प्रकार A-B के उच्चतम ऋण मूल्य अछूत या बहिर्जातीय हिन्दुओं, थारुओं, पूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों, बंगाल के मुसलमानों और महिशियाओं में मिलता है। जैसा कि हमें ज्ञात है, इन जातियों और क़बीलों का मूल मिश्रित है। थारू एक मंगोलीय क़बीला है, जिनमें अमंगोलीय गुण भी मिश्रित हैं। वह अपने को राजपूत और नेपालियों का संकर वंशज बताते हैं। बंगाल के मुसलमान अनेक ऐसे ही जातीय समूहों से लिये गये हैं और धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान बने हैं। उत्तर प्रदेश के मुसलमानों में O की प्रतिशतता का आधिक्य और B की कमी (मजुमदार) संभवतः उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के अधिक पृथक्करण और प्रजातीय शुद्धता की ओर संकेत करती है। मैकफ़रलेन द्वारा परीक्षित बंगाल और उत्तर भारत के शहरी मुसलमानों के रक्त-समूह के वितरण से भी इसकी पुष्टि होती है। भारत के बाहर के मुसलमानों में B की कमी और A की अधिकता उन्हें भारतीय मुसलमानों से पृथक् करती है। मूलतः आदिवासी मूल के महिशिया अपने अन्दर अनादिवासी लक्षण लाने में समर्थ हुए हैं और बंगाल के अछूत हिन्दू निस्संदेह समजातीय समूह नहीं हैं। डोम, करवाल और थारू भी मिश्रित समूह हैं। अतएव या तो संकरता से B के उत्परिवर्तन की गति बढ़ जाती है या B की प्रबलता का अन्य कोई कारण है जिसके जाँच की जरूरत है।

मैकफ़रलेन ने विस्तृत खोजों के बाद बताया कि एक बस्ती के दो सम्बधित समुदायों में से निम्नजातीय समुदाय में या उसमें जिसमें अधिक द्रविड़ रक्त का मिश्रण हुआ है, B की अधिक उपस्थिति पायी जाती है। यद्यपि द्रविड़ शब्द का प्रयोग ग़लत है, तथापि यदि उक्त तथ्य सत्य है तो उत्परिवर्तन अवधारणा (Mutation hypothesis) का विशेष स्थान नहीं है। अनेक मानवमितिक परीक्षाओं की भाँति जीव-रासायनिक साक्षियों को भी बहुत सावधानी से प्रयुक्त करने की आवश्यकता है।

इन्डियन स्टैटिस्टिकल इन्स्टिटयूट, कलकत्ता के तत्त्वावधान में १९४६ में संग्रहीत कुछ हज़ार लोगों के रक्तों को हमने विभिन्न जातियों और हिन्दू-मुस्लिम संप्रदायों के आधार पर वर्गीकृत किया। यद्यपि हम जातिवार तथ्य संग्रहीत करना चाहते थे, पर जातिनाम अनेक बार असली जाति का परिचय न देते थे क्योंकि कुछ निम्नजातियों ने अपने पद को छिपाने और उठाने के लिए उच्च जाति के नाम रख लिये थे। हमारी सम्मति में रक्त-समूहों का प्रादेशिक वर्गीकरण भी आज उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा, जितना कि जातिवार वर्गीकरण। एक क्षेत्र में रहनेवाली जातियों में विद्यमान घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध हमें वहाँ की जनसंख्या के जननिक संतुलन (Genetic equilibrium) के बारे में कुछ संकेत दे सकते हैं। इससे पहले कि हम रक्त-समूहों के विभिन्न प्रतिशत वितरण की तुलना करें, हमें ऐसे प्रत्येक क्षेत्र के लिए विभिन्न रक्त-समूहों की उपस्थिति की औसत निकालनी होगी।

उत्तर प्रदेश की जातियों में A रक्त-की उपस्थिति में पर्याप्त भिन्नता है। निम्न जातियों में क्रमशः उसका अनुपात कम होता जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उत्तर प्रदेश की विभिन्न जातियों और क़बीलों के रक्तसमूहों की प्रतिशतताओं से यह प्रकट होता है कि रक्तसमूहों और मानवमितिक लक्षणों के बीच एक सह-संबंधी विद्यमान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लसीय गवेषणा का प्रजातीय प्रकारों की जाँच में प्रयोग किया जा सकता है। ब्राह्मण और उच्च जातियां तथा क़बीली समूहों, मुसलमानों और दस्तकार जातियों के बीच महत्त्वपूर्ण लसीय दूरी (Serological distance) पायी जाती है। पर जब कि क़बीली समूह उच्च जातियों की तुलना में दस्तकार जातियों के अधिक निकट हैं, मुसलमान और दस्तकार जातियाँ उच्च जातियों और क़बीली समूहों के बीच में आती हैं। पूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों और क़बीली समूहों के बीच कोई विशेष समता नहीं है। मानवमितिक और लसीशास्त्रीय दोनों दृष्टियों से ही भूतपूर्व अपराधोपजीवी क़बीले उच्च जातियों के ही सहवर्ती हैं। अन्तर इतना ही है कि वह उच्चजातियों की तुलना में अधिक मिश्रित है।

उपसंहार में हम भारत में प्राप्त रक्त-समूहों के ज्ञान के आधार पर यह मान सकते हैं कि भारत में विभिन्न रक्तों के अनुपात का हेर-फेर विभिन्न प्रजातीय और सांस्कृतिक समूहों के पर्याप्त मिश्रण की ओर संकेत करता है और भारत में प्रवास किसी एक ओर से नहीं हुआ है। पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर की ओर B के ह्रास को कपालीय (Cephalic) और नासिकीय (Nasal) निर्देशनाओं के साथ मिलाकर देखना प्रजातीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकता है और जब तक हमें रक्तों के वितरण पर और विस्तृत न्यास प्राप्त नहीं होते, हम प्रजातियों के प्रवासों के मानचित्र बनाने में सफल नहीं हो सकेंगे।

न्यादर्शों का छोटा आकार, क़बीलों और जातियों के प्रादेशिक वर्गीकरण की कठिनाई, परीक्षित न्यादर्शों में से पारिवारिक धाराओं के हटाने के गम्भीर प्रयत्नों का अभाव और तथ्यों की अपूर्णता हमें देश के भाग विशेष में विशेष रक्त-समूह के मूलस्थान के बारे में अनुमान लगाने से रोकते हैं। हमें अधिक न्यासों की परीक्षा करनी चाहिए।

सन् १९५० में मैकफरलेन, ग्रेवल और चन्द्रा ने कलकत्ते में मुसलमानों के रक्तसमूहों को निश्चित किया। पहले अन्वेषक ने २४ परगना ज़िले के बजबज क्षेत्र के १२० और कलकत्ता के १३६ शहरी मुसलमानों, तथा दूसरे अन्वेषकों ने रक्तदान सेवा के सम्बन्ध में ३२१ मुसलमानों की, जिनमें से अधिकांश शहरी थे, परीक्षा की। इसके अतिरिक्त हमने लखनऊ के ४०० मुसलमान विद्यार्थियों के रक्त का वर्गीकरण किया।

साथ की तीन तालिकाओं में हम लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और पूर्वी तथा पश्चिमी जिलों में बसे उनके सहधर्मियों तथा अंतिम तालिका में उत्तर प्रदेश की जातियों और क़बीलों की ABO प्रतिशतताएँ दे रहे हैं।

तालिका १

मुसलमानों के रक्त-समूह और उनकी वाहकाणु बारंबारता
(Gene Frequencies)

	O+A	p	q	r	लेखक
१. तुर्क	७४·८०	·२५६	·१३५	·६६७	हर्ज़फ़ेल्ड
२. अरब	७२·००	·२३८	·१५१	·६१६	अल्तोनयान
३. सीरियन मुस्लिम	८४·९०	·२५२	·०८१	·६६९	बॉयड और बॉयड
४. ट्यूनिस के मुस्लिम	७८·८८	·२११	·११२	·६८१	कैलो और दिसदिए
५. पठान	६०·६०	·२०९	·२२२	·५४१	मैलोन और लाहिरी
६. हज़ारा	५७·००	·१५७	·२५४	·५६६	,,
७. उ. प्र. के मुसलमान	५७·०६	·१७७	·२४५	·५८४	मजुमदार
८. शिया	६१·३२	·१६५	·२१८	·५९८	,,
९. सुन्नी	५५·०९	·१५९	·२५९	·५७५	,,
१०. बजबज के मुसलमान	५१·६०	·१७४	·२८२	·५८२	मैकफ़रलेन
११. शहरी मुसलमान	६२·५०	·२००	·२०९	·५०२	,,
१२. कलकत्ते के मुसलमान	५४·१०	·१८८	·२६४	·५४३	ग्रेवल और चन्द्रा

तालिका २

उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के रक्त-समूह

	O	A	B	AB
मुसलमान (३२६)	३४·०५	२३·०१	३३·७३	९·२०
शिया ,, (१०६)	३५·८५	२५·४७	३३·९६	४·७०
सुन्नी ,, (२२०)	३२·७३	२१·३६	३६·८२	९·०९

तालिका ३

रक्त-समूह

	B+AB	O	A	B	AB	लेखक
१. तुर्क (५००)	२५·२०	३६·८०	३८·००	१८·६०	६·६०	हर्ज़स्फ़ेल्ड
२. सीरियन अरब (१,१४९)	२८·००	३८·००	३४·००	२०·००	८·००	अल्तुन्यान
३. सीरियन मुसलमान (१९९)	१५·१०	४४·७०	४०·२०	११·६०	३·५०	बॉयड और बॉयड, कैलो और दिसदिए
४. ट्यूनिस के मुसलमान (५००)	२१·२०	४६·४०	३२·४०	१५·८०	५·४०	दिसदिए
५. पठान (१५०)	३९·४०	२९·३०	३१·३०	३३·३०	६·१०	मैलोन और लाहिरी
६. हज़ारा (१००)	४३·००	३२·००	२५·००	३९·००	४·००	,,
७. उ. प्र. के मुसलमान (३२६)	४२·९४	३४·०५	२३·०१	३३·७४	९·२०	मजुमदार
८. शिया (१०६)	३८·६८	३५·८५	२५·४७	३३·९६	४·७२	,,
९. सुन्नी (२२०)	४५·९१	३२·७३	२१·३६	३६·८२	९·०९	,,
१०. बजबज के मुसलमान (१२०)	४८·३०	२८·३०	२३·३०	४०·००	८·३०	मैकफ़रलेन
११. शहरी मुसलमान (१३६)	३०·५०	३३·१०	२९·४०	३०·९०	६·६०	,,
१२. कलकत्ते के मुसलमान (३२१)	४५·००	२९·५०	२४·६०	३६·४०	९·३०	ग्रेवल और चन्द्रा

तालिका ४

आदिम समूहों में B

बाण्टू	१९·२%	(पाइपर, १९३०)
अमरीकी नीग्रो	२०·०%	(स्नाइडर)
सॉलोमन द्वीपवासी	१६·८%	(हॉवेल्स, १९३३)
पापुअन	१३·२%	(बिज्लमार, १९३३)
फ़िजी	९·४%	(हॉवेल्स, १९३३)
समोअन	१३·७%	(निग)
मद्रास के पूर्व-द्रविड़ क़बीले	९·०%	(मैकफ़रलेन)
मद्रास के पनियन	७·६%	(अय्यपन)
अंगामी नागा	११·५%	(मित्र)
कोनयक नागा	१०·२%	(ब्रिटिश एसोसियेशन की ब्लड ग्रुप्स पर रिसर्च कमेटी)
खोंड (म. प्र.)	१०·८%	(मजुमदार)
ऑस्ट्रेलिया के मूलवासी	८·५%	(टीबट और मैकोनल)
ऑस्ट्रेलिया के मूलवासी	६·४%	(ली)
कोरवा (उ. प्र.)	२०·४%	(मजुमदार)

तालिका ५

भारत में B

हिन्दू	४१·२%	(हर्जस्फ़ेल्ड)
दक्षिणी हिन्दू	३१·६%	(बैस और वरहौक)
उ. प्र. के हिन्दू	३७·२%	(मैलोन और लाहिरी)
पठान	३०·०%	(,,)
मराठे	३४·०%	(कोरिया)
जाट	३७·२%	(मैलोन और लाहिरी)
संथाल, मुंडा व उराँव	३६·८%	(,,)
बंगाल की निम्न जातियाँ	४२·७%	(मैकफ़रलेन)
बंगाल के मुसलमान	४०·०%	(,,)
चमार (उ. प्र.)	३९·३%	(मजुमदार)
भाटू (,,)	३९·८%	(,,)
करवाल (,,)	४०·६%	(,,)
डोम (,,)	३९·७%	(,,)
थारू	३७·५%	(,,)
टोडा	३८·०%	(पंडित)
मुसलमान (उ. प्र.)	३३·७%	(मजुमदार)

तालिका ६

	न्यादर्श आकार	O	A	B	AB
१. उ. प्र. के कायस्थ	१११	३६·०४	१९·८२	३२·४३	११·७१
२. ,, खत्री	१२५	३२·००	२४·००	३३·६०	१०·४०
३. ,, चमार	१५०	३६·६७	१८·६७	३९·३३	५·३३
४. ,, डोम	१७९	३२·९६	२२·९०	३९·६७	४·४७
५. ,, डोम (पहाड़ी)	१२५	३६·००	२०·००	३३·५०	१०·४०
६. ,, थारू	२४०	२७·०८	१७·०८	३७·५०	१८·३३
७. ,, भाटू	११३	२७·४३	२४·७८	३९·८२	७·९६
८. ,, करवाल	१५५	२५·८१	२२·५८	४०·६४	१०·९७
९. ,, कोरवा	१४७	३१·९७	३५·३७	२०·४१	१२·२५
१०. ,, मुस्लिम	३२६	३४·०५	२३·०१	३३·७४	९·२०
११. ,, शिया	१०६	३५·८५	२५·४७	३३·९६	४·७२
१२. ,, सुन्नी	२२०	३२·७३	२१·३६	३६·८२	९·०९
१३. ,, आई. टी. कॉलेज की विद्यार्थी लड़कियाँ	२०२	३४·६५	२१·७८	३८·६१	४·९५
१४. उ. प्र. के खस	२४६	३०·४९	३०·०८	२८·०५	११·३२
१५. ,, खस (कारीगर)	१०८	२५·००	२४·०७	४०·७४	१०·१९
१६. ,, क्षत्रिय	४१५	३०·५४	२६·७५	३२·७७	९·६४
१७. ,, ब्राह्मण (बस्ती)	२०३	३१·५३	२९·०६	३१·५३	७·८८
१८. ,, ब्राह्मण (लखनऊ के विद्यार्थी)	८१६				

अध्याय ४

परिवार और विवाह

परिवार आज एक मान्य सामाजिक इकाई है और किसी न किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पायी जाती है। समय-समय पर पारिवारिक समूह का रूप बदलता रहा है और विभिन्न समाजों में विभिन्न कालों और स्थानों पर इसके विभिन्न रूप देखे गये हैं। हमें मातृक (Matriarchal) और पैतृक (Patriarchal), बहुपतिक (Polyandrous) और बहुपत्नीक (Polygynous), स्वैच्छिक और परेच्छिक एक-विवाह (Monogamy), समूह और परीक्ष्यमान (Trial) विवाह के विभिन्न रूप मिलते हैं। यह संदेहास्पद है कि किसी अन्य सामाजिक संस्था ने इतनी अधिक समस्याओं को जन्म दिया है जितना कि परिवार ने।

बैखोफ़न और कुछ अन्य विद्वानों ने समूह-विवाह में मातृसत्ता और पुरुष के व्यक्तित्व के विकास या सम्पत्ति की कल्पना के विकास में पितृसत्ता के मूल को ढूँढ़ा। मॉर्गन ने आदिकालीन कामाचार (Promiscuity) से परिवार के विकास को प्रस्तुत किया। मार्क्स और एँगिल्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर परिवार के उद्गम के सिद्धान्त को विकसित किया और इनके अनुसार मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक संबंध और उत्पादन प्रणाली परिवार के स्वरूप को निश्चित करते हैं। उन्होंने आज की वैवाहिक नैतिकता की भर्त्सना की और एक-विवाह के आदर्श को अस्वाभाविक और अस्पष्ट मध्यवर्गीय धारणा बताया। इसके विपरीत, वेस्टरमार्क का मत है कि एक-विवाही परिवार समाज के सभी स्तरों पर विद्यमान रहा है और यहाँ तक कि कुछ चिड़ियाँ और पशु तक भी एक विवाही हैं जबकि अन्य विद्वानों ने एक विवाह के साथ-साथ ही बहुपत्नीक विवाहों को भी देखा तथा निकटाभिगमन (Incest) को अपवाद नहीं, प्रत्युत नियम बताया है।

निचले हिमालय के क़बीलों में एक-विवाह के साथ बहुपत्नी प्रथा, यहाँ तक कि एक प्रकार के सामूहिक विवाह (Group-marriage) की प्रथा भी विद्यमान है। उदाहरण के लिए यहाँ पर कई भाई मिलकर अनेक स्त्रियों से विवाह करते हैं और किसी भी भाई का पत्नी विशेष पर कोई एकाधिकार नहीं होता। कुछ नृतत्त्ववेत्ताओं ने परिवार की प्राथमिकता और उसके विस्तार के औचित्य के संबंध में वेस्टरमार्क को

चुनौती दी है और उसको अस्वीकार किया है। उनके अनुसार यह मनुष्य को पशु से पृथक् दिखाने, मनुष्य की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने तथा उसकी संस्कृति स्थापित करने के प्रयत्न का युक्तिकरण (Rationalisation) मात्र है। एक माने में मैलिनॉस्की ने वेस्टरमार्क की स्थिति को स्वीकार किया है। उन्होंने मनुष्य और पशु में इस माने में भेद किया है कि स्तनपेयी पशुगणों में गर्भाधान की ऋतु होती है, जबकि मनुष्यों में नहीं। यह अन्तर मनुष्य और पशु के एक मौलिक भेद को व्यक्त करता है। हैमिल्टन इस जैविकीय अवधारणा को स्वीकार नहीं करते हैं। ई० कैम्पट् का कहना है कि आधानकों में कोई गर्भाधान ऋतु नहीं है, वह सब समय संभोग करते हैं। सोक्तोवस्की विंघम, हार्टमान, गैरिट मिलार और हैमिल्टन भी कैम्प्ट् के मत का समर्थन करते हैं। मैलिनॉस्की अपनी पुस्तक *(Sex and Repression in Savage Society)* (असभ्य समाज में काम और दमन) में कहते हैं कि परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है। वह यौन कामाचार की संभावना से भी इन्कार करते हैं। उनके अनुसार समुदाय में रहने की प्रवृत्ति मानव संगठन का मूल नहीं है। जिस जैविकीय अवधारणा पर इस प्रकार के निष्कर्ष आधारित हैं, यदि वही विद्यमान नहीं है तो वेस्टरमार्क द्वारा निर्मित नैतिक विचारों का समस्त ढाँचा ही धराशायी हो जाता है। बहुत से विद्वान वेस्टरमार्क की एक विवाह की अवधारणा को अपनी निजी इच्छा पूर्ति का विचार मात्र समझते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि मध्यमवर्ग की प्रथम महायुद्ध में सफल और सम्पूर्ण सिद्ध हुई। नैतिकता की स्वीकृति में इसका मूल है। उन्नीसवीं शताब्दी की नैतिकता मुक्त व्यापार की अर्थव्यवस्था के विघटन और विकासवाद की निरंकुश धारणा में विश्वासहीनता ने सामाजिक विज्ञानों पर अत्यन्त प्रभाव डाला। फलस्वरूप सामाजिक विज्ञानों ने ऐसी सापेक्षिकता का सहारा लिया जिसमें परिवार को प्रगति का केन्द्र माना गया।

मॉर्गन, मार्क्स और एंगिल्स परिवार का उद्गम यौन साम्यवाद और सामाजिक उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में खोजते हैं। यद्यपि ये उक्तियाँ परस्पर विरोधी स्वार्थ लिए हुए वर्गसत्ता प्रधान समाज को प्रभावित करती हैं, तथापि इनकी पुष्टि सांस्कृतिक वितरणों द्वारा नहीं होती। वस्तुतः जिस प्रकार असभ्य क़बीलों में एक-विवाही प्रथा का पाया जाना उसकी सार्वभौमिकता को सूचित नहीं करता उसी प्रकार वहाँ पर यौन स्वाधीनता या काम संबंधी विच्युतियाँ प्रारम्भिक अवस्था में कामाचार की पुष्टि नहीं करतीं। किन्तु आज वेस्टरमार्क और मॉर्गन के सिद्धान्त जीवित हैं इसलिए नहीं कि वे सत्य हैं प्रत्युत् इसलिए कि यह परिवार की गतिशील कल्पना पर आधारित हैं। इन सिद्धान्तों को पुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है, इसलिए नहीं कि इन्हें सामाजिक विज्ञान स्वीकार करते हैं प्रत्युत् आज परस्पर विरोधी वर्ग स्वार्थों के प्रसंग में दोनों ही

व्याख्यायें इस युग की उत्पादन प्रणाली द्वारा उत्पन्न की गयी सामाजिक स्थिति को आंशिक रूप में समझाती हैं। मध्यम-वर्ग, परिवार की संस्था में शक्ति और स्वामित्व देखता है। श्रमिक, मार्क्स और एंगिल्स की भाँति पुराने नैतिक और यौन सम्बन्धी विधान में वर्गीय भ्रान्त धारणाओं की अभिव्यक्ति देखते हैं। यह दोनों ही दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण हैं और इसीलिए परिवार आज भी है जैसा कि पहले था, परन्तु ऐसा नहीं था जैसा आज है।

किन्तु अपवाद इस बात को असिद्ध नहीं कर सकते जिसे अन्यथा सरलता से सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम एक-विवाही प्रकार के पैतृक परिवार की धारणा के इतने अभ्यस्त हैं कि हम उसे परिवार का समानार्थक मान बैठे हैं और यही हमारी भूल है। परिवार व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो एक ही घर में रहते हैं और रक्त एकता की भावना, समान स्वार्थ, सहवास और परस्पर कर्त्तव्यों के आधार पर एक दूसरे से सम्बन्धित है। सुरक्षा तथा आक्रमण दोनों ही अवसरों के लिए यह एक संगठित इकाई है। समान साम्पत्तिक अधिकार और सहवास के कारण उसका स्वामित्व स्वीकृत है। यही कारण है कि भाई अलग हो कर अलग परिवार बसाते हैं, लड़कियाँ व्याही जा कर उच्च परिवारों की हो जाती है जबकि दूर के सम्बन्धी और मित्र चाहे, उनमें रक्त सम्बन्ध या एक स्थान पर रहने की एकता न भी हो, परिवार के सदस्य बन जाते हैं, और चाचा, पुत्र, भाई, बहन के रूप में संबोधित किए जाते हैं। इस अर्थ में परिवार कृत्रिम कहा जा सकता है किन्तु इसी अर्थ में संस्कृति के समस्त स्तरों में परिवार विद्यमान रहा है और इस तथ्य की अस्वीकृति ने अटकलबाज़ी को बहुत कुछ प्रोत्साहित किया है।

समाजशास्त्रीय अर्थों में 'परिवार' जिसमें पति-पत्नी और संतान सम्मिलित हैं मानव सांस्कृतिक विकास की समस्त अवस्थाओं में विद्यमान रहा है। व्यक्तिगत परिवार के साथ-साथ उसके अन्यरूप भी प्रकट हुए, जिसमें से कुछ अधिक स्वीकृत थे और कुछ शिथिल; और प्रायः उनमें से कभी एक को महत्त्व दिया गया, कभी दूसरे को, परन्तु अन्ततः मौलिक केन्द्रीय समूह विघटित नहीं हुआ। ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक प्रकार का समूह-विवाह पाया जाता है जिसमें कि एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और यह ऑस्ट्रेलियावासी उन समस्त पुरुषों के लिए जो कि उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं पिता शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार सम्बन्धियों के वर्गीकरण का शब्द 'पिता' उसके छोटे भाई या अन्य सामुदायिक भाइयों के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है जिसके अनुसार छोटा भाई बड़े भाई की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी से विवाह कर सकता है और फिर भी पारिवारिक सम्बन्धों के बंधनों में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न नहीं होता है। ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों में प्रचलित सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त सामूहिक सम्बोधन के शब्द पारिवारिक सम्बन्धों की

सम्भावना को नष्ट नहीं कर देते। समूह विवाह की अवस्था में भी जहाँ किसी पुरुष का किसी स्त्री विशेष पर अधिकार नहीं होता वहाँ भी परिवार विद्यमान रहा है और आज भी जीवित है। मालाबार के नायरों के अब अप्रचलित मातृक समाज में या तिया लोगों में, पति अपने बच्चों की माता के घर में एक अस्थायी आगन्तुक होता है। उसके बच्चों की देखभाल उनका मामा करता है और उसके बच्चे अपनी माँ के परिवार का नाम ग्रहण करते हैं। इनके यहाँ समाज की इकाई मातृक परिवार होता है जो माँ, उसके बच्चों, और स्त्री परम्परा द्वारा सम्बन्धित माँ के सम्बन्धियों से बना होता है और उसका मुखिया माँ का भाई होता है। माता वंश को चलाती है और उसका भाई उसका प्रतिनिधित्व करता है।

निचले हिमालय और हिमालय के उस पार तथा जौनसार-बावर के वासियों में भ्रातृ-बहुपति-प्रथा (Fraternal Polyandry) विद्यमान है और यद्यपि कई भाई एक स्त्री के पति व साझीदार हो सकते हैं तथापि 'परिवार' एक स्थिर संगठन है। सबसे बड़े भाई का सम्पत्ति और पत्नी पर एकाधिकार है। भाइयों में सम्पत्ति का असमान बँटवारा होने तथा बड़े के पास उसका बड़ा भाग चले जाने के कारण बँटवारा लाभदायक नहीं है। इसलिए सब भाइयों के साथ-साथ रहने और परम्पराओं के पालन में ही कल्याण है। ये परम्परायें इस व्यवस्था के साझीदारों को आवश्यक स्वाधीनता और स्वच्छन्दता प्रदान करती हैं।

भारत मुख्यतः एक कृषि-प्रधान देश है। इस कृषि-व्यवस्था ने उसके पारिवारिक संगठन को पर्याप्त प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय परिवार की धारणाएँ मुख्यतः परम्परागत हैं। किसी अन्य देश में गृहस्थ जीवन की इतनी पवित्रता, व पिता-पुत्र, भाई और भाई, और पति-पत्नी के इतने स्थायी सम्बन्धों का उदाहरण नहीं मिलता। बहुत से सम्बन्ध तो न रक्त के होते हैं और न स्वनामी व टोटमी ही पर फिर भी वह मूल्यों और व्यवहारों में अत्यन्त आत्मीय और स्थायी होते हैं। समस्त देशों के महाकाव्यों में युद्ध और विजय को तथा व्यक्तियों के संघर्ष और जातियों के सम्पर्क को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है किन्तु रामायण और महाभारत में इन्हें गौण स्थान मिला है। इसके विपरीत मनुष्य के निरपेक्ष आदर्श, राम का अपनी पत्नी सीता के प्रति प्रेम, पुत्र का अपने पिता के प्रति सम्मान, आज्ञापालन, भाई का भाई के लिए त्याग, देश के लिए राजाओं का अपने सम्बन्धियों तक का बलिदान उसके मूल आधार हैं। आज इसमें अनेक रूपान्तरण घटित हो रहे हैं। भारतीय पारिवारिक जीवन विदेशियों के लिए एक पहेली रहा है। यूरोपीय लोग यहाँ पर, पूर्णतः भिन्न मूल्यों, धारणाओं, इच्छा-पूर्ति और दमन के साधनों के संस्थान देखते हैं। यह संस्थान शारीरिक और माननीय इच्छाओं का अवरोध करने में पूर्णतः सफल हुए हैं। प्रादेशिक भिन्नताओं ने नातेदारी (Kinship) के नये प्रकार उत्पन्न किए हैं, सम्मिलित वास और सम्मिलित पूजा को

प्रोत्साहित किया है, यहाँ तक कि तात्कालिक और दीर्घकालीन उद्देश्यों के लिए बहुपत्नी प्रथा की भी स्वीकृति दी है तथा समाज की भलाई के लिए व्यक्तित्व के विकास का दमन या वृद्धि में रुकावट भी की है। कृषक समाज की जीवन गति स्वभावतः औद्योगिक देश की गति से भिन्न है क्योंकि कृषक जीवन अवकाश, मितव्ययता तथा सम्मिलित सहवास को प्रोत्साहित करता है। उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन और नगरीकरण या उद्योगीकरण की तेज़ गति ने परम्परागत सामाजिक जीवन के विकास के संस्थान को विघटित का दिया है। विचार और आदर्श व्यक्तित्व के विकास को बल देते हैं। पाश्चात्य प्रभाव ने पृथक्करण को प्रोत्साहित किया है जबकि शिक्षा और प्रगति ने मूल्यों में परिवर्तन ला कर नये समायोजन को आवश्यक बना दिया है। कृषक समाज की भाँति सापेक्षतया अगतिशील समाज में, व्यक्ति परिवार पर अतिआश्रित है। कृषि ने सर्वत्र ही पारिवारिक जीवन को स्थिरता प्रदान की है, उसमें विच्छेद और तलाकों का अभाव है तथा बाल-विवाह एक आदर्श है। इसका कारण कृषि-अर्थ-व्यवस्था में परिवार का मुख्य स्थान होता है। यहाँ परिवार उत्पादन की इकाई है। हर एक सदस्य की उत्पादन में तथा अपनी भूमि के दायित्व में साझेदारी है। अवकाश और ऋतु सम्बन्धी त्योहार एक दूसरे में इतने मिले हुए हैं कि घर के सामान्य कृत्यों में परिवार के सदस्यों का योगदान आवश्यक हो जाता है। कार्य की दैनिक आवश्यकताएँ, सम्पर्क और सामूहिक प्रयत्न को अनिवार्य बना देती हैं। औद्योगिक जीवन की आवश्यकताएँ इससे भिन्न हैं और इसलिए वहाँ परिवार का कार्य-उद्देश्य भी भिन्न हो जाता है। घर केवल सोने मात्र का स्थान रह जाता है। यदि स्त्रियाँ कारखाने में कार्य नहीं करतीं तो उन्हें अधिक अवकाश रहता है और वह खाना पकाने, पूजा-पाठ, शिक्षा इत्यादि के परम्परागत कार्यों में रत रहती हैं। काम और संतान की देख-रेख के अतिरिक्त अन्य स्नेह सम्बन्ध शिथिल पड़ जाते हैं और इस प्रकार स्त्री के पद में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। यदि स्त्रियाँ भी बाहर जा कर कमाती हैं तो परिवार के सम्बन्ध और उसके कृत्य अधिक मूलभूत रूप से बदल जाते हैं और साथ ही मनोवैज्ञानिक पहलू भी अधिक महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लेते हैं। जहाँ पर प्रायः पुरुष श्रमिक ही कार्य करते हैं जैसा कि हमारे देश के अधिकांश भागों में है, यहाँ पारिवारिक जीवन के अभाव में कारखानों की थकान और दबाव तथा एकाकीपन के कारण वे लोग भावात्मक क्षुधा की तृप्ति के लिए मद्यपान और व्यभिचार की ओर अग्रसर हो जाते हैं। गन्दी बस्तियाँ, थोड़ी आय, मैत्री और सम्पर्क का अभाव, और पोषक-भोजन की कमी, स्नायु-दुर्बलता उत्पन्न करती है व सस्ते सिनेमा और निम्न प्रकार के मनोरंजनों में उनकी आय का बड़ा भाग नष्ट हो जाता है जिसमे उनकी सुरक्षा को बहुत धक्का पहुँचता है। स्वार्थ, बुरी लतों के पड़ने, रोग और वेश्यावृत्ति ने मूल्यों और सामाजिक रूढियों में परिवर्तन लाकर परिवार में फूट डाली है। इसका इलाज निरोधात्मक चिकित्सा द्वारा ही हो

सकता है। युवकों को विवाह की समस्याओं का समुचित ज्ञान और परिवार के दायित्वों की वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता है। आयोजित परिवार द्वारा नागरी जीवन की रफ्तार को रोका जाना चाहिए। व्यक्तित्व के पहलू के समुचित ज्ञान और स्त्री-पुरुषों के समानता के स्तर पर मेलजोल से ही यह सम्भव है।

हमें भारत में वैवाहिक जीवन के सभी रूप मिलते हैं। यहाँ मातृक नायरों की बहुपति प्रथा, निचले हिमालय के क़बीलों की भ्रातृक बहुपति प्रथा, मुसलमानों और हिन्दुओं की पिछड़ी जातियों की बहुपत्नी प्रथा और पत्नी ग्रहण करने की अनेक अन्य रीतियाँ प्रचलित हैं।

/ हिन्दू न्याय-शास्त्रियों ने आठ प्रकार के विवाहों की स्वीकृति दी है। (मनु : ३८ उपपरिच्छेद, २०वाँ पद)। ब्राह्म-विवाह के अन्तर्गत लड़की के माँ-बाप एक विद्वान और चरित्रवान युवक को अपने घर आमन्त्रित करते हैं और उसे वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित कन्या दे कर विदा करते हैं। दैव-विवाह में लड़की का पिता एक प्रकार का होम या यज्ञ करता है और जो ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करता है उसे दक्षिणा नहीं दी जाती बल्कि दक्षिणा के रूप में उसे समुचित रूप से सुसज्जित और आभूषणयुक्त वधू प्रदान की जाती है। उक्त, दो प्रकार से पत्नी ग्रहण करने की रीति पवित्र और दिव्य मानी जाती है और इसलिए वह आदर्श है। आर्ष-विवाह अदला-बदली की पद्धति पर आधारित है। इसके अन्तर्गत वधू का पिता युवक से एक या दो जोड़े ढोर प्राप्त करता है और बदले में उससे अपनी कन्या ब्याहता है। प्रजापत्य विवाह के अन्तर्गत कोई रस्म या अनुष्ठान नहीं होता। वैवाहिक जीवन की पवित्रता का गुणगान करते हुए और सम्बन्ध के सुख और समृद्धि की प्रार्थना करते हुए कन्या किसी भी मन पसन्द युवक को सौंप दी जाती है। असुर-विवाह के अन्तर्गत (जिसे आज भी अनेक आदिवासी क़बीले और पिछले हुए समुदाय व्यवहार में ला रहे हैं) वधू-पक्ष के सम्बन्धियों को वर द्वारा धन प्राप्त होता है जिसकी राशि निश्चित नहीं है। असुर और आर्ष-विवाह में केवल लेन-देन के प्रकार का ही अन्तर है। आर्ष-विवाह में वधू को केवल एक या दो जोड़े ढोर मिलते हैं और असुर विवाह में वधू-मूल्य तय किया जाता है। इस विनिमय को नियंत्रित करने की कोई प्रथा नहीं है। गांधर्व-विवाह परस्पर चुनाव का विवाह है। इसके अन्तर्गत वर-वधू के माता-पिता को कुछ नहीं करना पड़ता और पति-पत्नी बिना अपने अभिभावकों की राय के विवाह करने का निश्चिय करते हैं। राक्षस-विवाह अपहरण द्वारा किया जाता है। इस प्रकार का विवाह कई बार सावधानी से योजना बना कर कार्यान्वित किया जाता है परन्तु कानून इसकी स्वीकृति देता है। लूट-मार के जीवन और समूहों के बीच निरन्तर युद्धों ने ऐसे विवाहों के लिए क़ानून की स्वीकृति आवश्यक बना दी। जैसा कि नागा क़बीलों में देखा जाता है कि एक क़बीले के लोग दूसरे क़बीलों पर आक्रमण कर उन्हें हरा कर उनकी स्त्रियों को भगा

ले जाते हैं। विवाह का अन्तिम प्रकार पैशाच-विवाह है, जिसके अन्तर्गत बलात्कार की गई स्त्री को भी सामाजिक पद प्रदान किया है। यदि कोई पुरुष सोई हुई या अपनी रक्षा करने में असमर्थ स्त्री के साथ बलात्कार करता है तो उसे उस स्त्री को अपनी वैध पत्नी के रूप में रखने का अधिकार है।

हिन्दू-समाज आज केवल दो प्रकार के, ब्रह्म और असुर, विवाह ही स्वीकार करता है। उच्च जातियाँ पहले प्रकार तथा निम्न जातियों दूसरे प्रकार के विवाह को अधिक पसन्द करती हैं। उच्च जातियों में कहीं-कहीं अभी भी असुर रीति लुप्त नहीं हुई है। उदाहरण के लिए बंगाल के कट्टर कुलीन आज भी अपनी कन्याओं का अकुलीनों से विवाह करने का विरोध इस रूप में प्रकट करते हैं कि वे वधू की साज-सज्जा व शादी अपने घर पर नहीं करेंगे। या तो वह अपनी कन्याओं के बदले धन मागेंगे या अपनी कन्याओं को विधिवत् व्याहे जाने के लिए वर के घर भेज देंगे। वर दोनों ही बातों के लिए भी आग्रह कर सकते हैं जैसा कि प्रायः होता है।

भारत के अधिकांश भागों के आदिम क़बीलों में विवाह, एक सरल सी बात है, जिसमें बिना किसी संस्कार के झंझट के, दम्पति, पति-पत्नी के रूप में रहने का निश्चय करते हैं। अधिकांश क़बीलों में युवक और युवतियों को अपना जीवन संगी चुनने के लिए पर्याप्त छूट दी जाती है और जहाँ माता-पिता व्याह तय करते हैं वहाँ भी लड़के-लड़की की स्वीकृति ली जाती है। उदाहरण के लिए आसाम के कूकी और दार लुंग परिवीक्षाधीन (Probationary) विवाह करने की अनुमति देते हैं। यहाँ एक युवक अपनी प्रेमिका के घर पर हफ्तों और महीनों रह सकता है और इसके बाद यदि उन दोनों का स्वभाव एक दूसरे के अनुकूल होता है तो वह परस्पर विवाह कर लेते हैं और साथ-साथ रहने लगते हैं। एक दूसरे के साथ मेल बैठाने में असफल होने पर उनका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और इसके लिए युवक को कन्या के माता-पिता को १६ रु. मुआयज़ा देना पड़ता है।

गुजरात में भील एक पृथक् सामाजिक समूह नज़र नहीं आते। अन्यत्र भी वह हिन्दुस्तान के निम्नवर्गों से भिन्न नहीं दीखते और वह प्रायः हिन्दू सांस्कृतिक व्यवहार का अनुसरण करते हैं। भीलों में दो अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह हैं: उजले या बिना मिलावट के और मैले या मिलावटवाले। एक तीसरा समूह हैं जिसका नीचा दर्जा है और जो गाने बजाने का कार्य करता है। यद्यपि भीलों में पर्याप्त अन्तर्मिश्रण हुआ है फिर भी उजले भील उजलों में ही अपने सम्बन्ध करते हैं। यद्यपि वह कभी कभी मैलों की लड़कियाँ ले लेते हैं पर वह अपनी लड़कियाँ उन्हें नहीं देते। आजकल भीलों में यह विश्वास जोर पकड़ रहा है कि यह भेद नष्ट हो जाना चाहिए और समस्त भीलों में आपस में विवाह सम्बन्ध होने चाहिए। पर संस्कारों को नष्ट होने में समय लगता है और इस स्वस्थ दृष्टिकोण को अपनाने में अभी दसियों साल लग जायेंगे। प्रत्येक भील-समूह विभिन्न सम्प्रदायों (Sects) में बँटा हुआ है। यह संप्रदाय

बहिर्विवाही (Exogamous) हैं और इनमें आपस में विवाह सम्बन्ध निषिद्ध हैं। इसके अलावा गाँव के भील शहर के भीलों से विवाह नहीं करते। जैसा कि एक भील ने मुझसे कहा—"शहर में रहनेवाली स्त्रियों के चालचलन का कोई ठिकाना नहीं"। गाँव के बड़े लोग ऐसे विवाह को रोष भरी दृष्टि से देखते हैं। यह नगरी समूह मोटेतौर पर अन्तर्विवाही समूह है, यद्यपि इस बात में वे बहुत कट्टर नहीं हैं। धन और नगर की तड़क-भड़क प्रायः गांव की लड़कियों को शहर की ओर आकर्षित करती हैं। भील वयस्कावस्था में विवाह करते हैं। पन्द्रह साल से कम की लड़की और बीस साल से कम के लड़के विवाह नहीं करते। बाल-विवाह केवल खाते-पीते परिवारों का ही विशेषाधिकार है। गाँव के मुखिया और समृद्ध किसान ही इस विलासिता का उपयोग कर सकते हैं। भीलों में विवाह-पूर्व स्वच्छन्दता स्वीकृत है। यदि विवाह से पहले कोई युवक और युवती बहुत ही आत्मीयता प्रदर्शित करते हैं तो क़बीली बड़े, उस स्त्री और पुरुष विशेष को पति-पत्नी घोषित कर अनुशासन स्थापित करते हैं। ऐसे युवक-युवती को किसी रस्म या संस्कार विशेष द्वारा बँधने की अनुमति नहीं मिलती। यदि कोई पुरुष ऐसी लड़की से विवाह करना चाहता है जिसका पर-पुरुष से अवैध सम्बन्ध है तो वह लड़की की सहमति से उससे विवाह कर सकता है। पर यदि विवाहपूर्व सम्बन्ध के परिणाम-स्वरूप संतान होती है तो क़बीली समाज उसका दायित्व सम्बन्धित पुरुष पर ही डालता है और विवाह से बाहर जन्मे बच्चे के भरण-पोषण का भार उसे वहन करना पड़ता है। उन विवाहों की रस्में, जहाँ भीलों में छोटी उम्र में विवाह होता है, बहुत सादी होती है। दोनों ओर से कपड़ों और मिठाइयों का आदान-प्रदान होता है और उपस्थित लोगों को गुड़ और शराब दी जाती है।

माता-पिता द्वारा तय किए गये विवाहों में, लड़के के पक्ष के चार आदमी सगाई ठीक करने के लिए लड़की वाले के यहाँ जाते हैं। यदि लड़की वाले सहमत होते हैं तो पाँच या सात रुपए की रक़म पंचों को दे दी जाती है, जो कि उससे गुड़ और शराब खरीद कर जाति के सदस्यों का सत्कार करते हैं। सगाई टूट नहीं सकती। शुभ दिन पर लड़के-लड़की की अपने अपने घर पर तेल और हल्दी से मालिश की जाती है। रोज कन्धों पर चढ़ा कर गाँव में उनका जुलूस निकाला जाता है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उनके पांव जमीन से न छुएँ। यह भी आवश्यक है कि इस अवधि में वर और वधू मौन धारण करें। यदि और लोग हँसी-मज़ाक भी करें तो भी उन्हें चुप ही रहना पड़ता है। प्रायः यह कठोर परीक्षा हो जाती है। लगभग एक सप्ताह तक वर-वधू को सहनशक्ति की इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है ताकि वे भावी जीवन में सफल हो सकें। इस अवधि में ग्रामवासी उनके यहाँ आते है और अपना भोजन और अन्य सामग्री लाकर उन्हें भेंट करते हैं। वर-वधू के शरीर पर तेल और हल्दी मलने की इस रस्म को बान बैठाना कहते हैं। बान बैठाने की रस्म समाप्त होने पर चार खम्भे खड़े कर

एक मंडप तैयार किया जाता है। इन खम्भों को जामुन की पत्तियों से ढँक दिया जाता है तथा आम की पत्तियों की बन्दनवार खंमों क चारों ओर सजा दी जाती है। अनेक बार इसे फूलों और झंड़ियों से भी सजाया जाता है। इस मंडप के नीचे होने वाली पहली रस्म का रूप एक सहभोज का होता है। सबसे पहले चार अविवाहित लड़के-लड़कियों को बैठाकर पेट भर गेहूँ और मक्का का एक व्यंजन जिसे कि मक्काथूली कहते हैं, खिलाया जाता है। उसके बाद सम्बन्धियों और मित्रों को भोजन और शराब की दावत दी जाती है। फिर लाल और सफेद कपड़े पहने हाथ में खंजर और तलवार लेकर खूब सजधज-कर वर मंडप में प्रवेश करता है। भीलों के विवाह का यही सामान्य वेश है। उसकी कमर में एक पट्टा भी बँधा रहता है। वह मंडप के बीच खड़ा हो जाता है। उसकी मां हाथ में मूसल, तीर और छाज या सूप लेकर अपने पुत्र के चेहरे के चारों ओर घुमाती है और विशेष रूप से बनायी गई चार रोटियों को मंडप के चारों कानों में फेंकती है। सब तैयारियाँ हो जाने पर वर और उसकी बारात वधू के गाँव को रवाना होती है और वह प्रायः पौ फटने पर लड़कीवाले के यहाँ पहुँचती है।

वर की उपस्थिति में वधू को उपर्युक्त रस्म अदा करनी पड़ती है। वधू के घर में बना हुआ मंडप वर-वधू के पाणिग्रहण का स्थान बनता है। यहाँ वधू एक दीपक जलाती है, वर उसे शीघ्र ही बुझा देता है। वधू के सम्बन्धी उसके बाद वर-वधू के ऊपरवाले वस्त्र के छोर बाँध देते हैं और वधू का भाई उन दोनों का हाथ एक दूसरे के हाथ में दे देता है जिसके लिए उसे गुड़ दिया जाता है। उसके बाद वधू के हाथ में कंकन और उँगली में ताम्बे की अंगूठी पहनाई जाती है और इससे विवाह-संस्कार पूरा हो जाता है। विवाह समाप्त होने के पश्चात् ब्राह्मण या उसकी अनुपस्थिति में क़बीले का मुखिया होम सम्पन्न करता है। इसमें घी और सरसों की आहुति दी जाती है और वर-वधू सात बार इस अग्नि की परिक्रमा करते हैं। हिन्दू-प्रभाव से मुक्त गाँवों में वर-वधू शमी वृक्ष की एक टहनी की बारह बार परिक्रमा करते हैं। इसमें छः बार वर आगे चलता है और छः बार वधू आगे चलती है।

ऊपर वर्णित कट्टर प्रथा के अतिरिक्त भीलों में अपहरण या ज़बरदस्ती विवाह प्रथा भी प्रचलित है। बहुत से क़बीलों में वधू-मूल्य देने की कठिनाइयों ने इच्छुक व्यक्तियों को जान-बूझकर अपहरण द्वारा विवाह का अभिनय करने को प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार वह आवश्यक वधू-मूल्य देने से बरी हो जाते हैं।

हो लोगों में जब किसी लड़के-लड़की का आपस में प्रेम हो जाता है तो वे अपने माता-पिता और अभिभावकों को इसकी सूचना दे देते हैं। यदि वह इस सम्बन्ध को पसंद नहीं करते तब वे अपहरण का रास्ता अपनाते हैं। वह अपहरणकर्त्ता और प्रेमी का अभिनय करता है, और रोमांटिक परिस्थितियों में वे दोनों पति-पत्नी के रूप में रहने का निश्चय करते हैं।

भील लोग अपने युवकों को अपनी इच्छानुसार विवाह करने की अनुमति देते हैं। उनके क़बीले की गोल गवेड़ी-रस्म इस चुनाव की स्वाधीनता का प्रतीक है। होली के त्योहार पर गुजरात में पंचमहल जिले के जैसवाड़ा ताल्लुके में युवक और युवती एक खंभे या वृक्ष के चारों और नृत्य करते हैं; जिसकी चोटी पर नारियल और गुड़ बंधा रहता है। समस्त विवाहित, अविवाहित और विधवा स्त्रियाँ जो नाचना चाहती हैं खम्भे या तने के निकट के दायरे में नाचती हैं और पुरुषों को बीच में पहुँचने से रोकती हैं। बाहर के दायरे में उसी ताल पर नवयुवक नृत्य करते हैं। असली शक्ति-परीक्षा तब होती है जब कोई नवयुवक बीच के दायरे को तोड़ कर खंभे या तने की चोटी पर चढ़कर गुड़ खाने और नारियल तोड़ने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने में उसे स्त्रियों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता है और यदि वह खंभे पर पहुँचने में सफल हो जाता है तो स्त्रियाँ उसके कपड़े खींच कर उसे पकड़ लेती हैं, झाड़ुओं से उसकी पिटाई करती हैं, उसके सिर के बाल नोचती हैं और यहाँ तक कि कभी-कभी उसके शरीर को भी खरोंच डालती हैं। यह सब हँसी मज़ाक में किया जाता है। इन सब बाधाओं के बावजूद भी यदि युवक खंभे पर चढ़ने और गुड़ तथा फल पाने में सफल हो जाता है तो वह वीरता की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता है और उसे इस बात का अधिकार होता है कि वह किसी भी लड़की को अपनी पत्नी घोषित कर उसे अपने साथ ले जा सकता है। इस प्रकार जीती हुई लड़की अपने को गौरवान्वित समझती है और भावी जीवन में भी अपने साथी के इस प्रयास को प्रशंसात्मक रूप में स्मरण रखती है। यद्यपि भीलों में अपने प्रेमियों के साथ भाग जाना अत्यन्त साधारण बात है फिर भी जो लड़कियाँ 'गोल-गवेड़ो' के अन्तर्गत विवाह करती हैं वह बहुत कम ही अपने पतियों से अलग होती हैं। सामान्यतः लड़के-लड़कियाँ स्वयं ही आपस में विवाह के लिए सहमत होते हैं और उसकी योजना बनाते हैं और गोल-गधेड़ी उनकी इस मैत्री को केवल सामाजिक स्वीकृति प्रदान करता है।

कुछ ही समय पहले तक बस्तर के प्रजा और ध्रुव क़बीलों के लोग गाँव की विवाह-योग्य लड़कियों को एक तहखाने में बन्द कर देते थे जहाँ विवाह के इच्छुक युवक उनसे रात को मिलते और अपनी इच्छानुसार साथियों का चुनाव करते थे। वर लापरवाही से जान-बूझ कर अपनी पसन्द की लड़कियों के पास अपने हाथ के पीतल के कड़े छोड़ देते थे ताकि अगले दिन सबेरे, सम्बन्धित लड़कियों के माता-पिता उनके प्रेमियों को पहचान सकें। जहाँ क़बीली मान्यताएँ और व्यवहार छिन्न-भिन्न हो चुके हैं उन स्थानों में आज भी गाँव की लड़कियाँ गाँवों के बाहर पत्तियों से बने झोपड़े में, दशहरे के त्योहार से कुछ सप्ताह पहले, इकट्ठी होती हैं। उनके अपने गाँव और आस-पास के गाँव के नवयुवक वहाँ जाते हैं और नाचते-गाते हैं, अपनी प्रेमिकाओं के साथ अभिसार

करते हैं। अन्ततः उपहारों का आदान-प्रदान होता है और उनकी घनिष्टता की चर्चा गाँव भर में होने लगती है। उसके बाद विवाहोच्छुक नवयुवकों के माता-पिता अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं और शराब तथा चावल से भरे बर्तन वधू-पक्ष के पास ले जाते हैं। वधू-पक्ष को इन उपहारों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार होता है। प्रस्ताव स्वीकार होने पर वधू-पक्ष के लोग दुगुना उपहार देते हैं और विवाह की बातचीत पक्की हो जाती है।

हो और मुण्डा जाति से सम्बन्धित क़बीलों में वधू-मूल्य के रूप में भारी रक़म देनी पड़ती है। हो लोग इसका भुगतान मुद्रा और ढोरों द्वारा तथा मुंडा केवल मुद्रा ही द्वारा करते हैं। वधू-मूल्य माता-पिता के पद पर निर्भर है और विभिन्न किल्ली या कुलों में भिन्न रूप से प्रचलित है। नवयुवक के लिए आवश्यक वधू-मूल्य जुटाने में उसके माता-पिता तथा उसके सम्बन्धी सहायता करते हैं। इसलिए लड़के और लड़की दोनों ही अपने साथियों के चुनाव में बहुत अधिक स्वाधीन नहीं हो पाते। फिर भी अन्तिम चुनाव उन्हीं के हाथों में है और वह इल्ली (चावल की शराब) के बाँटने की रस्म के समय अपनी असहमति प्रकट कर सकते हैं। रस्म के समय वर और वधू पहली बार सार्वजनिक रूप से बाहर लाए जाते हैं और उस समय वे परस्पर दृष्टि विनिमय के बाद अपने-अपने सम्बन्धियों को अपनी विवाह स्वीकृति से परिचित कराते हैं। वर अपनी स्वीकृति वधू को इल्ली दे कर प्रकट करता है और यदि वधू वर को स्वीकृति देती है तो वह उस शराब में से थोड़ी सी स्वयं पीकर शेष सब सम्बन्धियों में वितरित कर देती है। इसके बाद वधू भी इसी प्रकार वर को शराब प्रदान करती है और वह फिर उसी प्रकार रस्म को पूरी करता है। यह भी हो सकता है कि वर को स्वीकार करने पर भी वधू वर द्वारा दिए गये दोने को तत्काल स्वीकार न करे क्योंकि ऐसा भी रिवाज़ है कि वधू की सार्वजनिक स्वीकृति पाने के लिए वर को कुछ धन कपड़े या आभूषण भी चढ़ाने पड़ें।

क़बीली समाज में हिन्दुओं की भाँति विवाह न तो एक पवित्र संस्कार है और न ही अविच्छेद्य ही। आदिकालीन समाज ने स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में अनबन की सम्भावना को स्वीकार किया है और पारस्परिक समझौते के अभाव में उसका उपाय भी बताया है। अयोग्यता, क्रूरता, छोड़कर भाग जाना और व्यभिचार की अवस्था में तलाक़ की सुविधा है। परन्तु इन सब सुविधाओं के होने पर भी इनमें तलाक़ों की संख्या बहुत कम है। तलाक़ देनेवाले स्त्री-पुरुषों को अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान नहीं मिलता। जिन क़बीलों में स्त्रियों का प्रभुत्व है वहाँ पुरुष उत्पीड़ित पक्ष है और जनमत भी आक्रान्ता का ही साथ देता है। नैनीताल तराई के 'थारू' स्त्रियों की प्रभुता के अच्छे उदाहरण हैं। पत्नी के दुर्व्यवहार से मुक्ति पाने का पति के पास सिवाय इसके कोई उपाय नहीं है कि वह भगवान् से प्रार्थना करे।

छोटा नागपुर क्षेत्र में स्त्रियों को घूमने-फिरने की पर्याप्त स्वाधीनता प्राप्त है और वहाँ पतियों को अपनी पत्नियों के साथ समानता का व्यवहार करना पड़ता है। जहाँ हिन्दू जातियों का प्रभाव व्याप्त हो रहा है वहाँ स्त्रियों की स्वाधीनता सीमित हो रही है और आपस में मिलने-जुलने के अवसरों के अभाव ने स्त्रियों को निम्न स्थिति में ढकेल दिया है। स्त्रियों की स्वाधीनता पर आरोपित प्रतिबन्धों ने बहुपत्नी प्रथा को प्रोत्साहित किया है और बहुपत्नीक परिवारों में घरेलू झगड़े प्रायः होते हैं।

अधिकांश आदिकालीन क़बीलों के सामाजिक विधान में परदारागमन दंडनीय है। कुटुम्ब या क़बीले की पंचायत का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज में ऐसे अपराधों पर निमंत्रण रक्खे। जहाँ क़बीली एकता अभी अधिक नष्ट नहीं हुई है वहाँ बिरादरी से बहिष्कृत होने और पीड़ित पक्ष को भारी हरजाना देने के भय ने परदारागमन पर पर्याप्त नियंत्रण रक्खा है। किन्तु जिन क़बीलों में विक़बीलीकरण (Detribalization) और विघटन की प्रक्रिया हो रही है उनमें क़बीली देखरेख और नियंत्रण परदारागमन को रोकने में असमर्थ रहे हैं। फिर भी क़बीले के मुखिया ऐसे अपराध पर रोष प्रकट करते हैं। यद्यपि जनमत बहुधा प्रभावहीन होता है तथापि अपराधी व्यक्ति के सामाजिक स्वातंत्र्य को सीमित करने के कारण इसका दबाव व्यक्तियों के आचरण पर नियन्त्रण रखता है। एक समय था जब कि जार स्वयं अपने आप को दंड देने के लिए तत्पर रहता था और इस प्रकार सामाजिक विधान की रक्षा करता था। किन्तु आज वह हरजाने के रूप में धन देता है तथा क़बीले को दावत देकर संतुष्ट करता है। यदि इतना पर्याप्त नहीं होता तो वह साल भर या कुछ समय के लिए गाँव को छोड़ देता है ताकि इस बीच में लोग उसके अपराध को भूल जाँय।

परदारागमन ऐसे स्थानों में भी असाधारण नहीं है जहाँ स्त्रियों का प्रभुत्व है और वे ही अपना साथी चुनती हैं; जैसा कि नैनीताल तराई के थारू लोगों में होता है। अपराधी को दंडित करने के लिए और अपराधी सिद्ध करने के लिए क़बीले के बड़ों की सभा बुलाई जाती है किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि पीड़ित पक्ष आवेदन प्रस्तुत करे। पर बहुधा स्त्रियाँ ही अपराधी होती हैं और पुरुष पत्नियों पर आरोप लगाने का तब तक साहस नहीं करते जब तक उनके मित्र उनका समर्थन न करें। उन खानाबदोश और आवारागर्द क़बीलों में भी, जिनमें स्त्रियों को इस प्रकार की पर्याप्त छूट है, इस सम्बन्ध में विशेष नियम हैं जो समाज के प्रति अपराधियों पर काफ़ी कड़ाई के साथ लागू किए जाते हैं।

नट, सिंयासी और डोम अपने क़बीले के ही अन्दर पर्याप्त नैतिक छूट और उच्छृंखलता स्वीकार करते हैं किन्तु वह भी अपनी स्त्रियों और अन्य क़बीलों या अन्य जातियों के पुरुषों के बीच यौन-सम्बन्ध सहन नहीं करते। इस सम्बन्ध में स्त्रियों को कठोर आदेश दिया जाता है। अपने पातक-पेशे के उद्देश्य की सफलता के लिए, स्त्रियाँ

अपरिचित पुरुषों को फँसा, रिझा या उनके साथ घनिष्ठता स्थापित कर सकती हैं किन्तु यौन स्वच्छन्दता के सम्बन्ध में वे भी क़बीली विधान का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। इस प्रकार का सीमा-निर्धारण कहाँ तक सम्भव है यह विश्वास का विषय है। परदारागमन सिद्ध होने पर अपराधी को पीड़ित पक्ष और क़बीले के लोगों को हरजाना देना पड़ता है जो कि प्रायः सार्वजनिक सहभोज का रूप लेता है। कुछ क़बीलों में अपराधी स्त्रियों या पुरुषों को पति-पत्नी के रूप में साथ रहने की अनुमति होती है किन्तु अधिकांश अवस्थाओं में वह एक दूसरे से अलग हो नये वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

क़बीली समाज में विवाह-पूर्व यौन स्वच्छन्दता स्वीकार की जाती है और उन क़बीलों में जिनमें देरी से विवाह करने का रिवाज़ है वहाँ विवाह के लिए कौमार्य कोई आवश्यक शर्त नहीं है। मुंडा क़बीलों में लड़के-लड़कियों को एक दूसरे से मिलने की पूर्ण स्वाधीनता है यद्यपि बीस साल से अधिक आयु हो जाने पर भी बहुतों के विवाह नहीं होते। उन क़बीलों में, जहाँ कि अविवाहित लड़के-लड़कियाँ रात्रि में साथ-साथ रहते हैं जैसा कि मध्यप्रदेश के गोंड़ों में है, परम्परागत रीति से युवक और युवतियों को कामशास्त्र की शिक्षा दी जाती है और वैवाहिक बन्धन में बँधने से पूर्व ही वह काम के रहस्य से भलीभाँति परिचित हो जाते हैं। जहाँ परिवर्तित सामाजिक दृष्टिकोण के अनुरूप क़बीली रिवाज़ों में संशोधन करना पड़ा है, वहाँ त्योहारों और संस्कारों के समय स्वच्छन्दता स्वीकार की जाती है परन्तु इनके समाप्त होने ही इस स्वच्छन्दता पर पर्दा डाल दिया जाता है।

बहुत से क़बीलों ने हिन्दुओं की देखा-देखी अंशतः अपने सामाजिक दर्जे को ऊँचा सिद्ध करने के प्रयास में और अंशतः विवाह-पूर्व स्वच्छन्दता को रोकने के विचार से बालविवाह को अपनाना प्रारम्भ कर दिया है। छोटानागपुर पठार के हो और मुंडाओं तथा मध्यप्रदेश और गुजरात के भीलों के गाँवों के मुखियाओं और समृद्ध परिवारों ने यौन स्वच्छन्दता को रोकने के विचार से बालविवाह को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया है। फिर भी इन क़बीलों में प्राप्त स्वाधीनता विवाह के बाद के सालों में अभिव्यक्त होती है; जबकि बाल पत्नी पति के यहाँ रहने से इन्कार करती है या पति को छोड़ कर किसी प्रेमी के साथ भागने की योजना बनाती है। देहरादून ज़िले के जौनसार-बावर और शिमला की पहाड़ियों में बालविवाह का यह अर्थ नहीं कि लड़की जवान होकर अपने पति के यहाँ ही जा कर रहे। वधू-मूल्य और अन्य खर्चे को लौटा कर लड़की अपने दाम्पत्य-दायित्व से मुक्त हो सकती है।

छोटानागपुर और अन्यत्र स्थित मुंडा वंश के समस्त क़बीलों में वधू-मूल्य देकर विवाह करने की प्रथा है। पुराने समय में जबकि मुद्रा-अर्थ-व्यवस्था न थी वह सम्भवतः ढोरों द्वारा इसका भुगतान करते थे। वर्तमान समय में हो ढोरों और मुद्रा द्वारा तथा मुंडा और संथाल सिक्कों में वधू-मूल्य का भुगतान करते हैं। इसके साथ-साथ

अर्थव्यवस्था पर उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप, एक प्रकार के समीकरण की आशा की जा सकती थी। किन्तु विवाह और सामाजिक औचित्य से सम्बन्धित हिन्दू-विचार आदिकालीन सांस्कृतिक जीवन पर छा गये। माता-पिताओं को अपनी कन्याओं को ब्याहने में कठिनाई होने लगी क्योंकि उसके लिए आवश्यक वधू-मूल्य जुटाना उनके वश की बात न रही। आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ-साथ, सबसे अधिक बोली लगाने वाले को लड़कियाँ बेची जाने लगीं और एक ऐसी अवस्था आयी जबकि अत्यधिक वधू-मूल्य प्राप्त करने वाले माता-पिता निन्दा की दृष्टि से देखे जाने लगे। इसलिए वधू-मूल्य अधिक प्राप्त करने का लालच होते हुए तथा लड़की के लिए अच्छा घराना मिलते हुए भी माता-पिता ने लड़कियों के ब्याह की व्यग्रता छोड़ दी। ऐसी अवस्था में विवाह का प्रस्ताव वर पक्ष की ओर से आना आवश्यक था और इन परिस्थितियों में विवाह तय करने के लिए मध्यस्थों के प्रवेश की भी आवश्यकता हुई। बहुत से परिवारों ने तो यह कण्ठस्थ कर लिया है कि उन्होंने अपने विवाहों में कितना गोनोंग या वधू-मूल्य दिया था और यहाँ तक कि छोटे लड़के-लड़कियों तक को यह मालूम है कि उनके माँ-बाप ने कितना वधू-मूल्य चुकाया था। वह स्त्री और पुरुष लज्जा का अनुभव करते हैं जिन्होंने वधू-मूल्य नहीं दिया था या नाममात्र को ही दिया था। फिर भी ऐसे बहुत से परिवार हैं जिन्होंने बिना वधू-मूल्य दिए विवाह किए हैं।

चूँकि विवाह के लिए वधू-मूल्य का भुगतान करना पड़ता है, अतः विवाहेच्छुक परिवारों के बीच कोई मध्यस्थ उसे तय करता है। समृद्ध किसानों और क़बीली अधिकारियों में माता-पिता द्वारा तय किए गये विवाहों का रिवाज़ हो गया है। साधारण आदमी को पत्नी प्राप्त करने के लिए अन्य मार्गों का सहारा लेना पड़ता है और क़बीली समाज विवाह के इन अन्य अनियमित रूपों को भी स्वीकृति देता है। यदि ऐसा न हो तो क़बीली संरचना बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो जाय। यद्यपि क़बीले के बड़ों और समृद्ध वर्गों ने अपने पड़ोसी हिन्दुओं के समकक्ष आने के प्रयास में उनकी सूक्ष्म रस्मों और संस्कारों को अपना लिया है, फिर भी उन्हें अनियमित वैवाहिक सम्बन्ध के लिए सहमति देनी पड़ी है।

यद्यपि क़बीली वर्गों का स्थान सामाजिक सोपान में सबसे नीचा है, तथापि यह देखा गया है कि उन्होंने उच्च जातियों के रिवाज़ों और गुणों को विशेष रूप से अपनाया है और वह अछूत जातियों के सम्पर्क से बहुत प्रभावित नहीं हुए हैं। इस प्रकार एक वर्ग द्वारा, दूसरे वर्ग से अपनाए गये गुणों का क्रम अनिवार्यतः नीचे से ऊपर की ओर ही नहीं होता।

मुंडा क़बीलों में पत्नी प्राप्त करने की विभिन्न रीतियों का विस्तृत विवरण रॉय और मजुमदार के अध्ययनों में दिया गया है। यह विभिन्न रीतियाँ सांस्कृतिक समीकरण की मांग को पूरा करने के लिए बनायी गयी हैं। उन्नत वर्गों के सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप

क़बीली अर्थ-व्यवस्था में क्रान्तिकारी रूपान्तरण उपस्थित हुआ है। वस्तुओं द्वारा भुगतान का स्थान रुपये ने ले लिया है। कुटुम्ब या क़बीले के सदस्य अब निर्धन विवाहेच्छुक नवयुवक को आवश्यक आर्थिक सहायता पहुँचाने में उतने उदार नहीं रहे हैं और न ही वे उसे अब अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस प्रकार मुंडा कन्याओं के विवाह अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो जाते हैं और नवयुवकों के लिए विवाह करना और घर बसाना अत्यधिक दुष्कर होता जा रहा है। जब तक माँ-बाप जीवित रहते हैं; अविवाहित लड़कियों को अपने भरण-पोषण के लिए विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती, किन्तु जब उन्हें अपने विवाहित भाइयों के साथ रहना पड़ता है तो ननद-भौजाई के झगड़े उठ खड़े होते हैं जिससे आपस में पर्याप्त कटुता बढ़ती है और सम्मिलित रूप से रहना दूभर हो जाता है। मुंडा भाषा के सैकड़ों लोक-गीतों में वयस्का कुमारियों के कष्टों, भौजाइयों द्वारा उन पर किए गये अत्याचारों और दुर्व्यवहारों तथा नवयुवकों की उनके प्रति उपेक्षा का विस्तृत विवरण दिया गया है। कुमारियों द्वारा समस्त मुंडा देश में गाए जानेवाले गीतों में भौजाई और सौत की डाह का ज़िक्र आता है। लोक गीत की निम्न पंक्तियों में यही भाव व्यक्त किया गया है:

भौजाई की डाह,
सौतेली-माँ की डाह,
जब वह झगड़ती है ती बादल काँपते हैं,
पेट, पेट, मैं भूखी हूँ,
पानी पानी, मैं प्यासी हूँ,
कहाँ, हे! हिली (भाभी!) पानी मिल सकता हैं?
राजा के तालाब पर, रानी के तलाब पर,
जा वहाँ मिलेगा।

भौजाई और सौतेली माँ उसे एक बून्द पीने का पानी भी नहीं देतीं और उस कुमारी प्रौढ़ मुंडा कन्या को प्यास बुझाने के लिए गाँव के तालाब का रास्ता दिखाती है।

इस प्रकार आनुष्ठानिक विवाह के साथ-साथ जिसमें नाना प्रकार की रस्मों और प्रथाओं का पालन किया जाता है और जिसे क़बीली समाज में विशेष सम्मान भी दिया जाता है, अनियमित सम्बन्धों को भी स्वीकार किया जाता है! मुंडा क़बीलों में इन अनियमित विवाहों के दो रूप हैं:— (१) ओपरतिपी और (२) अनादर। इनमें से प्रथम प्रकार का विवाह अपहरण विवाह है या जिसमें शक्ति का प्रयोग किया जाता है। जब विवाहेच्छुक युवक वधू-मूल्य जुटाने में सफल नहीं हो पाते या जब वह किसी लड़की से विवाह करना चाहते हैं पर क़बीली या व्यक्तिगत कारणों से विवाह नहीं कर पाते तो वह अपनी पसन्द की लड़की के अपहरण की योजना बना लेते हैं। यदि लड़की इसके विरुद्ध प्रबल आपत्ति नहीं प्रकट करती या अपने अपहरणकर्त्ता के हाथ का

भोजन अस्वीकार नहीं करती तो वह उसकी वैध पत्नी मानी जाती है और उस सम्बन्ध को वैध बनाने के लिए कोई वधू-मूल्य देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कुछ अवस्थाओं में अपहरण करनेवाला व्यक्ति माता-पिता से बातचीत कर वधू-मूल्य तय कर लेता है जिसे लड़की के माता-पिता प्रायः स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार अनियमित सम्बन्धों को एक औपचारिक दर्जा मिल जाता है। कोल्हण प्रदेश में अपहरण द्वारा विवाहों की योजना लड़के-लड़की स्वयं बनाते और कार्यान्वित करते हैं इसलिए उनमें कोई अपराधी भावना का समावेश नहीं होता। ओपरतिपी विवाहों में वर अपहरण की योजना बनाता है और अपनी पसन्द की लड़की पर उसे लादना चाहता है। किन्तु अनादर विवाहों में लड़की स्वयं ऐसे पुरुष के घर में ज़बरदस्ती जा बैठती है जिससे वह अत्यन्त आकर्षित है। किसी भी नवयुवक के माता पिता उसके इस ज़बर्दस्ती प्रवेश को पसन्द नहीं करते किंतु अन्ततोगत्वा लड़की का दृढ़ निश्चय परिवार द्वारा पुरस्कृत होता है और लड़के के माँ-बाप उसे अपने घर में पुत्र की वैध पत्नी के रूप में रहने की अनुमति दे देते हैं। पहले-पहल तो वह एक घरेलू नौकरानी की भाँति उस घर में रहती है और धीरे-धीरे विरोधी परिवार में अपना रास्ता बनाती है। उसकी पसन्द का युवक अर्थात् उसका प्रेमपात्र पहले-पहल उससे बचता है और वह घर में नहीं रहता। उसके माता-पिता भी प्रारम्भिक अवस्था में यह नहीं चाहते कि उनका पुत्र घर के एक अनिच्छित सदस्य के साथ आत्मीयता स्थापित करे। यदि नवयुवक लड़की से पूर्व परिचित होता है, तो वह चोरी छिपे उसके कमरे में कभी-कभी चला आता है किंतु उसके माँ-बाप को इसका पता नहीं चलना चाहिए अन्यथा लड़की को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सौ में से निन्नानबे ऐसी लड़कियाँ अपने उद्देश्य में सफल होती हैं। प्रायः नवयुवक आगन्तुक लड़की के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करता है और लड़की को इस सहायता से अपनी इच्छा पूर्ति में आवश्यक साहस मिलता है। इस तरह यह दोनों प्रकार के विवाह मुंडा देश में वैध हैं और अत्यधिक वधू-मूल्य और उससे सम्बन्धित बुराइयों से पैदा हुई कठिन परिस्थितियों से मुक्ति का मार्ग निकालते हैं। हिन्दू समाज की प्रारम्भिक अस्थिर अवस्थाओं में भी वैवाहिक समस्याओं के ऐसे समाधान रहे हैं जिसमें कि उन्होंने आठ प्रकार के विवाहों को स्वीकार किया था। आज के हो और मुंडा विक्बीली-करण की अवस्थाओं में सामाजिक संकट का सामना करने के लिए वैसी ही रीतियों की सहायता ले रहे हैं।

अध्याय ५

टोटमवाद और सामाजिक संरचना

भारत में अनेक क़बीले और जातियाँ किसी भौतिक पदार्थ, पशु या पेड़-पौधे से अपना एक रहस्यमय सम्बन्ध होने का दावा करते हैं। इन्हें टोटमवादी कहा जा सकता है। इनमें से अनेक अपने टोटम को भूल गये हैं या इस रहस्यमय सम्बन्ध को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। टोटम शब्द सर्व प्रथम एक अंग्रेज जे. लाँग ने १७९१ में उत्तरी अमरीका के रेड इण्डियनों से ग्रहण किया। जे. एफ. मैक्लेनन पहले लेखक थे जिन्होंने आदिम सामाजिक संस्था के रूप में टोटमवाद के महत्त्व को समझा। ऑस्ट्रेलिया के अतिरिक्त, जहाँ कि टोटमवाद सर्वाधिक व्याप्त है, अफ्रीका के कुछ भागों, उत्तरी अमरीका के कुछ रेड-इंडियन क़बीलों और दक्षिणी अमरीका के दो क़बीलों में भी यह संस्था पाई जाती है। भारत में भी बहुसंख्यक क़बीले या तो टोटमी आधार पर संगठित हैं या विशेष पशुओं और पौधों को पवित्र मानते हैं या उन विशेष पशुओं और पौधों को खाना या नष्ट करना टैबू समझते हैं।

अधिकांश टोटमी क़बीले या तो संचयात्मक अवस्था में हैं या उन्होंने जंगलों से अपने संचय या छोटे-मोटे शिकार को झूम जैसी भोंड़ी खेती से पूरा करना सीख लिया है। अतः सर्वत्र ही आदिम क़बीलों और जातियों की टोटमी संरचना में पशुओं और पौधों का महत्त्वपूर्ण स्थान पाया जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। बहुधा पूरे पशु, फूल या फल टोटम नहीं होते बल्कि पशु का जिगर, फेफड़ा या आँतें, फूल का रस या फल और उसकी गिरी टोटम रूप में स्वीकार किए जाते हैं। टोटम पशु या पौधे के इस विभाजन का कारण मौलिक समूहों की वृद्धि रहा होगा। एक टोटमी समूह सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक से अधिक टोटमी समूहों में बँटा है। उदाहरण के लिए छोटा नागपुर में जब एक टोटमी कुल (Clan) के सदस्यों की संख्या बढ़ जाती है तो वह अनेक उप-टोटमों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार बने उप-टोटमी समूह अपने मूल टोटम पशु या पौधों के अंगों को अपना टोटम स्वीकार कर लेते हैं। एक अन्य ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि एक ही भौगोलिक क्षेत्र के निवासी पड़ोसी क़बीलों में परस्पर नातेदारी सम्बन्धों के न रहते हुए भी उनमें समान टोटम पाये जाते हैं।

टोटमवाद की विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है। कुछ पशुओं को खाना या मारना निषिद्ध होता है। टोटमी पशु की मृत्यु पर विधिवत् रीति से शोक मनाया जाता है और कुल के सदस्य की भाँति उसकी अंतेष्ठि की जाती है। कुल के टोटम-पशुओं की खालों को टोटमी समूह के सदस्य विशेष अवसरों पर पहनते हैं। अनेक टोटमी समूह के सदस्य अपने शरीर पर टोटमी पशु के चित्र आँकते हैं और उन चित्रों को अपना कवच मानते हैं या अपने शरीर पर उनको गुदवाते भी हैं। यदि टोटमी पशु खतरनाक हो तो उसकी मनौती की जाती है ताकि वह टोटमी कुटुम्ब के सदस्यों को हानि न पहुँचाए। यदि टोटमी पशु या पौधा खाने योग्य होता है तो कुल के सदस्य विशेष आनुष्ठानिक अवसरों पर या कोई बहाना ढूँढ़ कर उसे खा सकते हैं। कुटुम्ब के सदस्य उस पशु विशेष से अपने रहस्यमय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि वह पशु उनके भविष्य को बतायेगा, उनकी रक्षा करेगा और भावी संकट से उनको सावधान करेगा। टोटमवाद के बारे में धारणा है कि टोटमी संगठन सर्वभौम है। टोटमी पशु या पौधे के लिए एक प्रकार का धार्मिक सम्मान व्यक्त किया जाता है। टोटमी पदार्थों और प्रतीकों से सम्बन्धित टैबू भी पाये जाते हैं। टोटमी सम्बन्ध बहिर्विवाह (Exogamy) को अनिवार्य बना देते हैं।

सर हर्बर्ट रिज्ले के निर्देशन में हुए संस्कृति-विवरण-सर्वेक्षण (Ethnographic Survey) के अन्तर्गत भारतवर्ष में टोटमवाद पर तथ्य संग्रह किए गये और उसके बाद अनेक पृथक् अध्ययनों ने इस संस्था के विस्तार के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान में वृद्धि की। संथालों के सौ से अधिक कुल हैं जिनके नाम पशुओं, पौधों और भौतिक पदार्थों पर पड़े हैं। हो क़बीले के भी पचास से अधिक कुल हैं। इनमें से अनेक के नाम संथालों से मिलते हैं। मुण्डा चौसठ से अधिक बहिर्विवाही कुलों में बँटे हैं। यद्यपि अन्तर-क़बीली सम्बन्धों को विशेष स्वीकार नहीं किया जाता तथापि मुण्डा प्रजातीय धारा के विभिन्न क़बीलों के एक से टोटम हैं। इनमें से अधिकांश टोटम या तो खाद्य कंदमूल फलों, पौधों या पशुओं के रूप में उपयोगी हैं या हानिकारक चिड़ियों और पशुओं के रूप में घातक हैं।

भील चौबीस कुलों में विभक्त हैं जिनमें से कुछ के नाम पशुओं और पौधों पर रखे गये हैं। चूँकि इन्होंने हिन्दुत्व स्वीकार कर लिया है और उनके मूल सम्बन्धों को खोजना अब भी मुश्किल है, कुल के नाम से उनकी सामाजिक संरचना का कुछ आभास नहीं मिल पाता। हाल में ही कुछ उन्नत हुए उड़ीसा के कुर्मी, चमार, भूमिया आदि क़बीलों के कुलों का नामकरण भी साँप, कुम्हड़े, गीदड़ आदि पर हुआ है। बम्बई के कटकरी तथा मध्य प्रदेश के गोंड क़बीलों के नाम भी उनके निवास-स्थान के पशुपक्षियों और बनस्पतियों पर पड़े हैं। छोटा नागपुर पठार के खड़िया लोगों का मुख्य वर्ग ढेलकी खड़िया जिन आठ टोटमी कुलों में विभाजित हैं उनके नाम हैं :

सोरेन (पत्थर), मूरु (कछुआ), समद (हरिण), बरलिहा (एक प्रकार का फल), घरड़ (चिड़िया), हंसडा (अबाबील), मैल (धूल) और टोपना (एक चिड़िया)। ये नाम इस बात की ओर संकेत करते हैं कि एक पशु पौधा या प्रायः भौतिक पदार्थ या उनके अंग टोटम हो सकते हैं।

कुछ भारतीय क़बीले तीन-चार या उससे अधिक कुलवृन्दों (Phratries) में बँटे हुए हैं और एक कुलवृन्द के कुछ कुलों के नाम एक पशु या पौधे पर हैं। बंगाल के बाँकुड़ा ज़िले के बौरी एक दलित जाति हैं और उनके चार मुख्य भाग हैं—मल्ल, ढाल, सिखोरिया और माना। कुछ अन्वेषक इन्हें भौगोलिक वर्ग मानते हैं। मल्लों का सम्बन्ध मल्लभूमि से, ढालों का ढालभूमि से और मानों का मानभूमि से है। इनमें से प्रत्येक कुलवृन्द एक अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह है और उसमें ५ से २० तक बहिर्विवाही कुल हैं। उनकी चितकबरे और कुत्ते की पूजा और घोड़े की लीद के टैबू में हम टोटमी चिह्न देख सकते हैं। किन्तु अधिकांश कुलों का पशुओं या पौधों से सम्बन्ध नहीं है। बंगाल के बागड़ी, महेसिया और कोड़ा लोगों के कुलों के पशुओं पर नाम हैं, किन्तु टोटमी क़बीलों की भाँति उनमें कोई टोटमी विश्वास नहीं मिलता। कोड़ा जो कि मूलतः छोटा नागपुर से आए हैं और सम्भवतः मुंडा प्रजातीय स्कन्ध से सम्बन्धित हैं, कछुए, बत्तख, मछली, अंडे इत्यादि को पूजते हैं किन्तु वह इनके टोटमी आधार पर सम्बन्धित नहीं हैं।

पशुओं या पौधों के प्रति सम्मान मात्र ही टोटमवाद कहा जा सकता है, यह एक विवादास्पद बात है। यह आवश्यक नहीं कि इसका सीधा सम्बन्ध टोटमवाद से हो। भारत में उच्च जातियों के सदस्य भी बलि देते हैं और विशेष प्राकृतिक पदार्थों, पशुओं और बनस्पतियों की पूजा करते हैं। नदियाँ और सोते प्रायः पवित्र माने जाते है और उनसे सम्बन्धित विशेष सम्प्रदाय पाये जाते हैं। तुलसी, बेल और वट वृक्ष पूजनीय हैं किन्तु वह किसी सामाजिक समूह के टोटम नहीं हैं। पूर्वी बंगाल के अनेक भागों में सिंह का एक सम्प्रदाय है और विशेष अवसरों पर उसकी पूजा की जाती है। गाँवों के तरुण लड़के-लड़कियाँ उसका गुणगान करते हैं और सब गृहस्थ उस पूजा में योग देते हैं। बंदर और साँप हिन्दुओं के लिए पूज्य हैं और वे उन्हें साधारणतः नहीं मारते। इसी तरह बिल्ली भी टैबू और परम्परा द्वारा संरक्षित है। बिल्ली को हानि पहुँचाना अशुभ माना जाता है और हर साल बंगाल के हिंदू अपनी स्त्रियों की प्रजनन शक्ति को संरक्षित रखने के लिए बिल्ली की मनौती करते हैं। बिल्ली का वध निषिद्ध है और यदि कोई व्यक्ति अनजाने में उसका वध कर दे तो उसके प्रायश्चित्त में ब्राह्मण को उसके भार के बराबर नमक देना पड़ता है। कहा जाता है कि गाय हिन्दुओं के समस्त देवताओं का प्रतिनिधित्व करती है। उसमें समस्त देवताओं का वास माना जाता है। वृषभ भगवान शिव के लिए पवित्र है और कृषि के लिए

इसकी अनिवार्यता ने इसके नाम पर एक संप्रदाय संगठित किया है। हिन्दुओं के कुछ वर्गों में भैंसे की तुलना काल-पुरुष से की गई है। यह प्रचलित विश्वास है कि यह मृत्यु के देवता यम की प्रिय सवारी है। हाथी इन्द्र का वाहन है जब कि घोड़ा पवित्र माना जाता है और उसके खिलौने महामारियों के देवियों को चढ़ाये जाते हैं। शेर की खाल पवित्र मानी जाती है, और साधू लोग उस पर बैठ कर ध्यान लगाते हैं। चूहा गणपति का वाहन है और गणपति के साथ उसकी भी पूजा होती है। सरस्वती से सम्बन्धित होने के कारण मोर और विष्णु का वाहन होने के कारण गरुड़ पूज्य हैं। कौए का भी विचित्र स्थान है। अंतिम संस्कारों के समय उसे भोजन खिलाया जाता है और उसकी मनौती की जाती है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि मरने के बाद पूर्वजों की प्रेतात्माएँ कौवों का रूप धारण कर भोजन प्राप्त करती हैं। कौए की निरन्तर काँव-काँव अशुभ मानी जाती है और ऐसा कहा जाता है कि उसमें भावी संकट जानने की शक्ति है। इसीलिए कट्टर हिन्दू कौवे का वध नहीं करते।

हॉपकिन्स ने ठीक ही कहा है कि हर चीज़ को टोटमवाद कह कर टोटमवाद को सर्वभौम बना दिया गया है। टोटमी प्रथाओं का क्रियात्मक विश्लेषण सांस्कृतिक महत्त्व के आधार पर टोटमी गुणों के परिवर्तनों को प्रस्तुत करेगा। यदि पशु-पूजा को ही टोटमवाद मान लिया जाय तब तो सेमाइट आर्य और मिश्रवासी भी टोटमवादी कहे जायेंगे। मोहेंजोदड़ों के लोगों को भी टोटमवादी मानना पड़ेगा। सर जॉन मार्शल के अनुसार कुछ पशुओं और वृक्षों के मानवीय देवता होने की कल्पना की गई थी और उनको विनाश और कार्य करने की मानवीय शक्तियों से युक्त माना गया था। मुहरों पर अंकित विभिन्न पशु या तो पूज्य थे और यदि उनकी पूजा नहीं की जाती थी तो उन्हें पवित्र या टैबू और किन्हीं जादुई शक्तियों से युक्त तो माना ही जाता था। यही कारण था कि उनका ताबीजों में भी प्रयोग होता था। मोहेनजोदड़ो में प्राप्त प्रजातीय प्रकार अभी भी नष्ट नहीं हुए हैं, और सम्भव है कि आज के टोटमी क़बीलों के पूर्वज भी किसी प्रकार के पौधों के टैबू और बनस्पति पूजा को व्यवहार में लाते थे। बहुत से वेदों में भी टोटमी संकेत सुझाए हैं। ओल्डनबर्ग का विचार है कि ऋग्वेद के मीन और श्वान (कुत्ता) लोग टोटमी कुलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद में आने वाले सिगरू क़बीले के वर्णन में मैक्डॉनेल और कीथ के अनुसार टोटमवाद का संकेत है। सिगरी का अर्थ बड़ी ली है। वेदों में पौधों की स्तुति और उनकी प्रशंसा में रचे गये मंत्रों का होना संभवतः टोटमी विश्वासों को सिद्ध करता है। उत्तर वैदिक संहिताओं में विभिन्न पौधों को चढ़ाई गई भेंटों और वर-यात्रा में निकाले गये बड़े पेड़ों को प्रदान किए गये सम्मान का वर्णन है।

ए. सी. हैडन ने टोटमवाद के मूल का विवेचन करते हुए बताया है कि अनेक आदिकालीन समूह मूलतः एक विशेष पशु या पौधे की जाति पर जीवित थे और अन्य

क़बीलों से विनिमय के लिए भी उसका प्रयोग करते थे। कुछ ही समय में ये समूह अन्य लोगों में अपने जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण इन पशुओं और पौधों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। फ्रेज़र की धारणा थी कि आदिम मनुष्य ने एक प्रकार के जादुई उत्पादन और उपभोग क्लब का संगठन किया, जिसके अंतर्गत प्रत्येक टोटमी कुल का यह दायित्व था कि वह अन्य सभी के लाभ के लिए एक विशेष खाद्य पदार्थ की रक्षा करे। आदिवासियों का सर्वभक्षी भोजन उक्त तर्क और आयोजित अर्थ-व्यवस्था की कल्पना की पुष्टि नहीं करता।

फ्रेज़र ने कई और वैकल्पिक सिद्धांत भी प्रस्तुत किए हैं। अधिकाधिक सूचनाओं के संकल्पित हो जाने के कारण उनका विवेचन कठिन हो जाता है। संभव है कि उसके बाह्य-आत्मा में विश्वास ने आदिम मनुष्य को किसी टोटमी पशु या पौधे में अपनी सुरक्षा का सुझाव दिया हो। इसके अनुसार उसका स्वामी विभिन्न संकटों से रक्षा पा लेता है। फ्रेज़र ने बाद में इसे अपने गर्भ-धारण के टोटमवादी सिद्धान्त में ढाल दिया। असभ्य लोग सन्तानोत्पादन की प्रक्रिया से या गर्भधारण में पुरुष का क्या कार्य है इससे अनभिज्ञ थे। इस प्रकार टोटमी पशु उनके लिए कुटुम्ब का पूर्वज बन जाता है जो कि कभी-कभी रहस्यपूर्ण ढंग से स्त्रियों को गर्भधारण कराता है।

हॉपकिन्स का विचार है कि टोटमवाद खाद्यपूर्त्ति पर आश्रित है। एगथारसिप्रीज़ के समय में टोटमी क़बीले अपने पशुओं को अपने माता-पिता समझते थे। हरिवंश पुराण में, जिसमें ४०० ई. के हिन्दू-विश्वासों का आभास मिलता है इसी प्रकार का विचार प्रस्तुत किया गया है। उसमें लिखा है कि जिसके द्वारा मनुष्य का पोषण होता है वही उसकी दिव्य वस्तु है या दूसरे शब्दों में भर्त्ता ही देवता है। टोडाओं में भैंस पूज्य है, क्योंकि वह उन्हें भोजन देती है और उनमें भी वही विचार प्रचलित है। दुधारू पशुओं, विशेषतः गाय, के संबन्ध में हिन्दुओं की धारणा इससे मिलती है। ऑस्ट्रेलिया की प्रथा इसकी पुष्टि करती है। वहाँ ऐसा माना जाता है कि अखाद्य (Inedible) टोटमवाद के हैं। अफ्रीका के बंगडा क़बीले में टोटम इसलिए पवित्र माना जाता है क्योंकि उसे खाया नहीं जाता और उसे खाया इसलिए नहीं जाता क्योंकि वह हानिकर है और उसे खाने से क़बीले के पूर्वज बीमार हो गये थे।† इसके विपरीत वुंट का सिद्धान्त है कि टोटमवाद सब धर्मों में अन्तर्हित है और टोटम के पीछे यह विश्वास है कि मृतक मनुष्य के शरीर से बाहर निकलनेवाले कीड़े उसकी आत्माएँ है। दुरखाइम भी टोटमवाद को धार्मिक जीवन का प्राम्भिक रूप मानते हैं और उनके मत में टोटमी पशु या पौधा

† हॉपकिन्स के अनुसार टोटमवाद के विकास में टोटम वस्तुओं की पूजाबाद की अवस्था है। यद्यपि बहुत से पशु और पौधे पूजे जाते हैं किन्तु वे (पशु और पौधे) पूजकों के टोटम नहीं होते।

सामाजिक मन का सामूहिक प्रतिनिधि है। टाइलर ने पूर्वज पूजा के रूप में टोटमवाद की व्याख्या की है। उनके मतानुसार आत्मा मृत्यु के बाद सदा के लिए अजन्म नहीं रहती बल्कि किसी अन्य जीवित प्राणी में प्रवेश कर जाती है। मनोविज्ञान में मनुष्य और पशुओं की आत्माओं के बीच कोई निश्चित विभेदक रेखा नहीं मिलती है अतएव आदिम मनुष्य का यह सोचना कि मानव आत्मा किन्हीं निम्न प्राणियों के शरीर में चली जाती है, सम्भव है। इसी कारण पूर्वजों को दिया जानेवाला सम्मान स्वभावतः पशुओं को भी दिया जाने लगता है। जिन सामाजिक समूहों में टोटमवाद विद्यमान है उनमें पशु ही सबसे अधिक प्रचलित टोटम हैं, यद्यपि पौधे और भौतिक वस्तुएँ भी टोटम के रूप में मिलती हैं। यह कहा जा सकता है कि पूर्वज-पूजा, पौधों की पूजा और फैटिशवाद (Fetishism) इन सब ने टोटमी विश्वास और व्यवहार की वृद्धि में योगदान दिया होगा।

बोआस, हिलटाउट और स्वैण्टन सबका यह मत है कि टोटमवाद व्यक्तिगत टोटम के सामान्यीकरण से निकला है। छोटा नागपुर के कुछ महत्त्वपूर्ण क़बीलों में टोटम के मूल का अध्ययन हमें मनोरंजक सूचनायें प्रदान करता है। मुण्डा प्रजातीय स्कन्ध के क़बीले अनेक बहिर्विवाही कुलों में बँटे हुए हैं जो कि किसी पशु पौधे या भौतिक पदार्थ से अपना नाम ग्रहण करते हैं। रॉय ने अपने अध्ययन में उराँव क़बीले के कुजुर कुल के मूल का विवरण दिया है। कहा जाता है कि एक उराँव कुजुर पेड़ के नीचे सो गया। उस पौधे की मुलायम टहनियों ने उसके शरीर के चारों ओर लिपट कर उसकी रक्षा की। परिणामस्वरूप उस मनुष्य ने कुजुर के पौधों को अपना टोटम स्वीकार किया और अब उसके वंशज कुजुर कुल के कहलाते हैं। स्पष्टतया यह व्यक्ति किसी ऐसे जंगल में घिर गया होगा जहाँ उसे जंगली पशुओं का भय था।

तमरियाओं में प्रचलित उनके कुछ कुलों के मूल की कथाएँ भी इस बात की ओर संकेत करती हैं कि टोटमी पशु या पौधे ने उनके कुलों के पूर्वज की रक्षा या सेवा की थी। एक तमरिया स्त्री नदी पर पानी भरने गई। घर पर कोई उसके बच्चे की देखभाल करनेवाला न था। माँ ने नहाकर नदी से अपना घड़ा भरा और उसे सिर पर रख घर लौटी। वहाँ उसने आश्चर्यचकित हो देखा कि एक काला साँप या पंड्रबिंग बच्चे के सिर पर अपना फन फैलाए उसकी रक्षा कर रहा था। माँ को देख कर साँप धीरे से खिसक गया। इस बच्चे के समस्त वंशज अब नागगुष्ठी कुल के सदस्य हैं और उनमें से कोई नाग या साँप को मारने का साहस नहीं करता। तमरियों का कमल-कुल निम्न प्रकार प्रारम्भ हुआ। एक शिकारी दल के सदस्यों ने किसी हिरन को मारकर उसके मांस को आपस में बाँटा। उनमें से एक ने अपने भाग के मांस को कमल के पत्ते पर रख लिया। ऐसा करने पर उसके साथियों ने उसका नाम कमल का पत्ता रख दिया और आज उसके वंशज कमल कुल के सदस्य हैं।

कुलों के मूल की ऐसी सैकड़ों कहानियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। हो, मुंडा और संथालों में टोटम कुलों के मूल से सम्बन्धित अधिकांश कहानियाँ यह व्यक्त करती हैं कि किस प्रकार (मजबूरी में) जबकि कोई अन्य मानवीय सहायता प्राप्त न थी, टोटमी सम्बन्ध विकसित हुआ। उक्त सब साक्षिओं का विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि टोटमवाद की आत्मा को न तो टोटमी वस्तुओं और चिह्नों के प्रति धार्मिक भावना में, न क़बीलियों के भाग्य को प्रभावित करनेवाली उच्च शक्तियाँ या प्रेतात्माओं से व्यक्त होनेवाली प्रक्रिया में और न ही वानस्पतिक या अन्य खाद्य पदार्थों के संरक्षण की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं में ढूँढ़ा जा सकता है। वरन् इनके टोटम-वाद की आत्मा को हम सामाजिक व्यवस्था के उस सरल समायोजन में पा सकते हैं जो कि मनुष्य और वातावरण के बीच एक सौहार्द सम्बन्ध स्थापित करता है। यह सम्बन्ध मानव को अपने निवास के अनुकूल बनाने की आवश्यकताओं को पूरा करता है। जहाँ तक भारतीय टोटमवाद का सम्बन्ध है किसी पशु या वनस्पति के साथ उसका आकस्मिक सम्बन्ध ही सामान्य नियम दीखता है। यही कारण है कि रिज्ले ने, जिन्होंने टोटमवाद विषयक बहुत सी सूचनाएँ एकत्र कीं, भारत में धार्मिक टोटमवाद की पुष्टि नहीं की। उनके विचार में भारत में टोटमवाद का धार्मिक पक्ष प्रयोग में नहीं आता और केवल उसका सामाजिक पक्ष द्रष्टव्य है, जिसमें बहिर्विवाह (Exogamy) टोटम-वाद से सदैव सम्बन्ध पाया जाता है। विभिन्न सिद्धान्त टोटमवाद की उस परिकल्पना के इर्द-गिर्द बुने गये हैं जिसमें उनको विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से पृथक् कर सब टोटमी प्रथाओं की एक समान परिभाषा खोजने का प्रयास किया गया है और तथाकथित टोटमी अवस्था की मनमानी कल्पना प्रस्तुत की गई है। टोटम विहीन हिन्दू और बहुत से ऐसे आदिवासी समूह जो कि टोटमी नहीं हैं, अन्तर्विवाही हैं; जबकि एक ही टोटमी कुल के सदस्य प्रायः आपस में विवाह करते हैं या कर सकते हैं। बहिर्विवाह के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न अवधारणाएँ इस बात की कल्पना करने की अनुमति नहीं देतीं कि टोटमवाद और बहिर्विवाह में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal relation) है। फ्रेज़र का मत है कि टोटमवाद और बहिर्विवाह के मूल और प्रकृति पृथक् हैं यद्यपि अनेक क़बीलों में संयोगवश यह एक दूसरे से मिल गये हैं। यदि नातेदारी के बन्धन वैवाहिक चुनाव की सीमा को निर्धारित करते तो सम-रक्तता का बंधन बहुत से क़बीलों में अपने कुल में विवाह करने का निषेध करता है। लेकिन जबकि एक कुल का आकार अधिक बड़ा हो जाता है और प्रवास तथा सामाजिक दूरी के कारण उनमें नातेदारी खोजना कठिन हो जाता है तो एक बहिर्विवाही कुल एक अन्तर्विवाही समूह में विकसित हो सकता है। पूरा गाँव या उसका एक भाग स्थानीय इकाई का रूप धारण कर लेता है और भारत के अधिकांश आदिम क़बीलों में एक ही गाँव में वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध है। उच्च जातियाँ गोत्रों में संगठित हैं और गोत्र नातेदारी के नियमों के अनुसार गोत्र में

अन्तर्विवाह निषिद्ध है। दूरी ने एक ही सामाजिक समूह को बहुत से अन्तर्विवाही समूहों में बाँट दिया है और बहुत सी उच्च जातियाँ ऐसे अन्तर्विवाही भागों में विभक्त हो गई हैं जो एक ही प्रदेश में होते हुए भी भौगोलिक दृष्टि से पृथक् हैं। उत्तर प्रदेश के कनौजिया ब्राह्मण, बंगाल के वारेन्द्र और राढ़ी ब्राह्मण, सारस्वत, सरयूपारीण और गंगारी एक ही जाति की विभिन्न प्रादेशिक इकाइयाँ हैं।

प्रवास (Migration) ने एक ही क़बीले दो या उससे अधिक अन्तर्विवाही भागों में बाँट दिया है। जे. पी. मिल्स ने अपने एक लेख में बताया है कि किस प्रकार पूर्वी रेंगमा-नागा जनश्रुति के अनुसार लगभग ४०० साल पहले मुख्य या पश्चिमी इकाई से अलग हो कर पूरब की ओर चले गये। आज इस क़बीले के दोनों भागों में अनेक सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं। जबकि उत्तर प्रदेश के चमार जो कि बिहार के पूर्वी जिलों और बंगाल में प्रवास कर गये हैं आज भी एक अन्तर्विवाही समूह हैं, बंगाल और आसाम के विभिन्न भागों में बिखरे हुए छोटा नागपुर के संथाल अपने पैतृक समूह से कोई सम्बन्ध नहीं मानते और वह अन्तर्विवाही वर्गों में बँट गये हैं। उत्तर प्रदेश के नाई अपने ही राज्य से जाकर बंगाल में बसे हुए नाइयों से विवाह नहीं करते। बिहार के कुर्मियों ने सामाजिक स्तरों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप अपने को भिन्न अन्तर्विवाही वर्गों में बाँट लिया है। उनमें से जो लोग हिन्दू रीतियों को स्वीकार करते हैं, वे बाल-विवाह मानते और विधवा-विवाह का निषेध करते हैं। यह उन लोगों से सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते जो अभी भी अपने व्यवहारों और विचारों में प्रथाओं से चिपटे हुए हैं और हिन्दू भावना के विरुद्ध विधवा-विवाह संपन्न करते हैं। इसके विपरीत नैलोर ज़िले की जातियों ने अपने सांस्कृतिक विभेदों को मिटाकर अपने को एक समुदाय में मिला लिया है। बिहार के क़बीली भूमिज अपने परम्परागत विवाह के विधान के प्रति, जिसमें कि अंतर्क़बीली विवाहों को स्थान न था, कोई सम्मान प्रदर्शित नहीं करते और मुंडा लोगों के सुधारवादी वर्ग वैवाहिक समायोजन की नई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुल की पुरानी बाधाओं की दूर करने के लिए व्यग्र हैं। आज हम सर्वत्र दो प्रवृत्तियाँ कार्यशील देखते हैं, सम्मिलन की और विभेद की, पृथक्करण की और संगठन की। संभवतः जब क़बीली संस्कृतियाँ प्रारंभ हुई थीं तब भी यही प्रवृत्तियाँ कार्यशील थीं किन्तु तब जीवन-संघर्ष इतना कठोर था और उपकरणों की कार्यक्षमता इतनी कम थी कि भोजन की प्राप्ति में ही सारा समय चला जाता था और इन प्रवृत्तियों को कारगर होने का अधिक समय न मिल पाता था।

अध्याय ६

संस्कृति के निषेध (टैबू)

बिहार के राँची ज़िले का ओराँओं कृषक अपने घर की स्त्रियां को हल में हाथ नहीं लगाने देता और यदि कभी ऐसा हो जाय तो सारा गाँव भयभीत हो जाता है और स्त्री की भूल के लिए सबको प्रायश्चित्त करना पड़ता है। गाँववालों को रहस्यमयी शक्ति के कोप से बचने के लिए गाँव के पवित्र कुंज में मुर्गियों, सुअरों और कबूतरों की बलि देनी पड़ती है। इसके विपरीत खड़िया स्त्री के कन्धे पर हल का जुआ रख कर उसे खेत पर घुमाते और थोड़ी घास खिलाते हैं। बाद में वह स्त्री सारे गाँव में घूमकर भिक्षा माँगती है और उस भिक्षा से सारे क़बीले को सहभोज दिया जाता है। नीलगिरि के टोडा अपनी भैंसों की रेवड़ की पूजा करते हैं; उनके रहने का स्थान उनका पवित्र मंदिर है और वहाँ स्त्रियों को घुसने की या ऐसा भोजन बनाने की, जिसमें दूध का प्रयोग हो, अनुमति नहीं है। नैनीताल तराई और पीलीभीत के थारू सभी मामलों में अपनी स्त्रियों को असाधारण स्वतंत्रता देते हैं। यहाँ पुरुष प्रायः अपनी स्त्रियों के दुर्व्यवहार की शिकायत करते पाये जाते हैं और अपनी स्त्रियों के हृदय को द्रवित करने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते हैं। पुरुषों को बहुत से मुख्य पेशों के करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई पुरुष इन नियमों का उल्लंघन करे तो पूरे समाज को दैवी कोप का भाजन बनाना पड़ता है। मध्यप्रदेश के गोंड स्त्री के मासिक धर्म-काल में उसे नहीं छूते क्योंकि उसके स्पर्श मात्र से समस्त फसल के नष्ट होने का भय रहता है। इसीलिए वे ऐसे समय में स्त्रियां को गाँव के बाहर विशेष झोपड़े में रखते हैं ताकि उस झोपड़े को छूकर जाने वाली हवा गाँव तक न जा सके। अधिकांश क़बीले स्त्री और पुरुषों के बीच एक पारम्परिक श्रम विभाजन को स्वीकार करते हैं। यदि किसी पुरुष को स्त्री का कार्य करना ही हो तो उसके लिए स्त्री-वेश धारण करना आवश्यक है, अन्यथा समाज पर विपदा पड़ने की आशंका रहती है।

संस्कृति के विभिन्न स्तरों पर इस प्रकार के अनेक टैबू या प्रतिबन्ध और निषेधात्मक प्रथाएँ लोगों द्वारा व्यवहार में लायी जाती हैं। यह एक प्रकार के निषेधात्मक प्रतिबन्ध या निश्चित निषेध कहे जा सकते हैं जो किसी भी संस्कृति में स्वाधीनता की सीमा को निर्धारित करते हैं। एक समाज में उसके प्रतिबन्ध (टैबू), शकुन, अपशकुन, शपथ

और परीक्षाएँ, जादू-टोना, झाड़-फूँक, फलित ज्योतिष आदि वहाँ पर व्यक्तिगत स्वाधीनता की सीमा को निर्धारित करते हैं। प्रथाएँ और टैबू, किसी समाज के अभिन्न अंग हैं। टैबू को मानवजाति का सबसे प्राचीन अलिखित विधान कहा जा सकता है जो कि देवताओं और धर्म से भी पुराना है। कुछ लोग टैबू को एक दैवी भय या टैबू किए हुए पदार्थ में छिपी हुई राक्षसी शक्ति के विषय को टैबू कह कर परिभाषित करते हैं, जबकि कुछ अन्य लोगों का यह मत है कि टैबू में अपने उद्धार की शक्ति स्वयं अन्तर्हित है और वह स्वयं अपने प्रतिबंध को कार्यान्वित कर सकता है। अन्य लोगों का कहना है कि इसका मूल्य अतीन्द्रिय है। इसलिए जो लोग जाने-अनजाने टैबू का उल्लंघन करते हैं देवता या प्रेतात्माएँ उन्हें उसके लिए दंड देती हैं। केवल असभ्य जातियों का ही जीवन टैबुओं द्वारा संरक्षित नहीं है प्रत्युत प्रत्येक आदिम और उन्नत समाज में हमें कुछ टैबुओं या ऐसे सामाजिक प्रतिबन्धों के दर्शन होते हैं जो कि व्यक्तिगत स्वाधीनता और सामाजिक मेलजोल की सीमा निर्धारित करते हैं। कोई भी सभ्य जाति अभी तक पूरी तरह प्रचलित प्रथाओं और निषेधों से ऊपर नहीं उठ सकी है।

जब हम समाज में टैबुओं के स्वभाव का विश्लेषण करते हैं तो देखते हैं कि एक ओर तो वह अन्ध-विश्वासों और दूसरी ओर सामाजिक संस्थानों से जा मिलते हैं। एक अंग्रेज लकड़ी छूकर अपनी हिम्मत बाँधता है, चाय के प्याले में बुलबुला देख शकुन-अपशकुन का विचार करता है, सीढ़ी के नीचे चलने से बचता है, तथा किसी भी दशा में नमक इधर-उधर नहीं फेंकता। यह सब कृत्य अन्ध-विश्वास कहे जा सकते हैं क्योंकि यदि कोई इनका उल्लंघन करता है तो इसके लिए कोई उसकी निन्दा नहीं करता। टैबू अंध-विश्वास और शिष्टाचार दोनों से ही पृथक् है। टैबू के उल्लंघन का अर्थ दैवीकोप का भाजन बनना है, जबकि अन्ध-विश्वासों और शिष्टाचार का व्यवहार एक व्यक्ति या उसके परिवार का मामला है।

किसी समाज में टैबू का कार्य उत्पादक, विरोधात्मक या संरक्षणात्मक होता है। उदाहरण के लिए जबकि बिना देवी को अनाज की भेंट चढ़ाए नई फ़सल के अनाज को खाना निषिद्ध होता है, मुर्गियों या सुअरों का माँस टैबू होता है तो इस प्रकार आदिवासी अपने भोजन या फ़सल को विनाश से बचा लेते हैं। जबकि क़बीले का मुखिया टैबू होता है, कोई व्यक्ति उसे नहीं छू सकता और उसके सम्पर्क में नहीं आ सकता, इस प्रकार मुखिया के शरीर की हानि से रक्षा होती है। पॉलिनेशिया के अनेक भागों में मुखियाओं को उनके सेवक कंधों पर ले जाते हैं, ताकि उनके पैर ज़मीन से न छुएँ और जमीन टैबू होने से बच जाय। पुराने समय में ताहिवी के सरदारों को दूसरे लोग अपने हाथ से खिलाते थे ताकि भोजन उनसे छूकर अन्य लोगों के लिए टैबू न बन जाय। त्रिवांकुर का होलिया जिसका स्पर्श भी निषिद्ध है, किसी ब्राह्मण को अपनी बस्ती में नहीं आने देता क्योंकि उसका विश्वास है कि ब्राह्मण

के स्पर्श से उसे हानि उठानी पड़ेगी। इसलिए जब कभी ब्राह्मणों को मज़बूरन होलिया बस्ती में उधार का रुपया वसूल करने जाना ही पड़ता है तो उन्हें होलियाओं के बचाव के अनुष्ठान से गुजरना पड़ता है। जैसे ही ब्राह्मण होलिया बस्ती में घुसता है वैसे ही बस्ती के लोग झाडुयें, जूते की मालाएँ, गोबर में मिला पानी ले कर आ जाते हैं, वह झाड़ू से उसे मारते है, जूतों की माला से उसका सत्कार करते हैं और गोबर के घोल से उसे नहलाते हैं ताकि उसके आगमन के दुष्प्रभाव से होलिया लोगों की रक्षा हो सके।

राँची ज़िले के खड़ियाओं में यह रिवाज़ है कि जब उनके समुदाय का कोई सदस्य जेल से छूट कर या बहुत दूर से घर आता है तब उसे बलि दिए हुए सफ़ेद मुर्गे के खून की एक बूँद को एक पत्ते पर रख कर पाटना पड़ता है। इस प्रकार शुद्ध होने के बाद ही वह अपने घर में घुस सकता है तथा अपनी पत्नी और बच्चों को छू सकता है। मुंडा भाषा-भाषी क़बीलों में इसके लिए परमेश्वर (सिंग बोंगा) को चढ़ाई हुई चावल की शराब का प्रयोग किया जाता है। उनका विश्वास है कि इस शराब की एक बूँद से व्यक्ति शुद्ध हो जाता है। अपने गाँव से बाहर व्याही खड़िया स्त्री अपने पति को छोड़ अन्य किसी के पशुओं के बाड़े में नहीं घुस सकती। कोल्हण के हो लोगों में भी स्त्रियों के रसोई में प्रवेश के सम्बन्ध में ऐसा ही टैबू है। बाद का टैबू परोक्ष रूप से रोगों को फैलने से रोकता है, क्योंकि शुद्धि के अनुष्ठान में स्नान की और हाथपैरों को आग में सेंकने की जरूरत होती है। पहला टैबू नजमोदानी अर्थात् बाहर के व्यक्तियों द्वारा ढोरों को ज़हर देने से रक्षा करता है। अधिकांश आदिवासी बाहर के व्यक्तियों से सम्पर्क का निषेध करते हैं। उदाहरण के लिए खड़िया ग़ैरखड़ियाओं से बाल या नाखून कटाने तथा कपड़ा धुलाने की अनुमति नहीं देते। छोटा नागपुर के पठार में ऐसे क़बीली-टैबुओं के उल्लंघन ने क़बीली अर्थ-व्यवस्था में अनेक जटिलताएँ उत्पन्न कर दीं हैं और क़बीले के अनेक कार्य अब बाहरवालों द्वारा किए जा रहे हैं।

धार्मिक पक्ष पर टैबुओं का कार्य आनुष्ठानिक क्रियाओं, धार्मिक व्यक्तियों और धार्मिक स्थानों की सुरक्षा तथा अधर्म के प्रसार को रोकना है। आसाम के नागा क़बीलों में अनेक प्रकार के धार्मिक प्रतिबंध हैं। सेमा नागाओं में टैबू के लिए गेना शब्द का प्रयोग होता है। उसका उल्लंघन 'गेना' अर्थात निषिद्ध होता है। दैवी कोप किसी व्यक्ति या स्थान को टैबू बना देते हैं। शेर द्वारा मारा गया व्यक्ति, यहाँ तक कि उस मृत व्यक्ति द्वारा पहने गये कपड़े भी गेना हैं। उस व्यक्ति के घर, उपकरण, बरतन और हथियार सभी क़बीले के लिए गेना बन जाते हैं और उनके दुष्प्रभाव से रक्षा के लिए उनके सम्पर्क से बचना ज़रूरी हो जाता है। इस प्रकार की मृत्यु के इन परिणामों से बचने के लिए क़बीले का प्रत्येक सदस्य अत्यन्त सावधानी बरतता है। बच्चे का जन्म, चढ़ाई की तैयारी, खेतों की बुवाई या फ़सल की कटाई सभी के लिए टैबू हैं और

ऐसे अवसरों पर क़बीले के सदस्य अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों और संयोग से बचते हैं। इस प्रकार उनके अनेक काम करने के दिन अवकाश के धन्यवाद-दिवस बन जाते हैं। एक बार की बात है कि आतिथ्यप्रिय अंग्रेज अफ़सर ने जब एक नागा से पीने के लिए पानी मांगा तो उसने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। बाद में पता चला कि उसके कुत्ते ने पिल्ले दिए थे और उनके जन्म ने गृहस्वामी को अपवित्र कर दिया था और इस कारण बाह्य सम्पर्क उसके लिए निषिद्ध था।

फ्रायड ने टैबुओं के प्रति हमारी परस्पर-विरोधी-धारणा (Ambivalent Attitude) समझाने की चेष्टा की है। यह विरोध घृणा और प्रेम, पवित्र और अपवित्र का समन्वय है। टैबू वस्तु पवित्र भी है और अपवित्र भी। प्रायः टैबू वस्तु आकर्षक होती है और व्यक्ति उसका उल्लंघन भी करना चाहता है। भाई-बहनों के बीच यौन-सम्बन्धों का निषेध इसी श्रेणी में आता है। लंका के बड़ा भाई-बहन को एक स्थान पर रहने और एक साथ खाना-खाने की अनुमति नहीं देते। यद्यपि भाई और बहन सामान्य रूप से घरेलू निकटता में साथ बढ़ते हैं फिर भी उनके व्यवहार में एक दूसरे से बचने की एक विचित्र सी प्रवृत्ति का प्रयास होता है। अधिकांश आदिकालीन समाजों में जमाई अपनी सास और पुत्र-वधू अपने ससुर से अलगाव करते हैं और उनके सम्बन्धों में एक विचित्र निर्वैयक्तिकता व्यक्त होती है। फ्रायड ने इस अलगाव का कारण प्रेम और घृणा की परस्पर विरोधी धारणाओं का एक साथ होना बताया है। बूढ़ी सास केवल अपनी लड़की की भूमिका से अपने को मिला मानसिक यौन सुख का आनन्द ले सकती है।

मनो-विश्लेषणात्मक व्याख्या का चाहे कोई भी गुण हो वह आदिवासी जीवन को आधुनिक समाज के रंगों में रंग देती है। इसलिए नृतत्त्ववेत्ता सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान में उससे विशेष आकृष्ट नहीं हैं। सास-ससुर से अलगाव में चाहे कोई भी उद्देश्य हो, कहीं भी टैबू सम्बन्धियों में द्वेष के चिह्न नहीं मिलते। छोटे-भाई की पत्नी बड़े भाई के लिए टैबू है, कोरवा लोगों के लिए वह भय की वस्तु है। इसी प्रकार बंगाल की अनेक उच्च जातियों में मामा को अपनी भानजी से बचना चाहिए और किसी भी दशा में उसे उसकी परछाँई नहीं देखनी चाहिए, उस परछाँई पर पैर पड़ना तो और भी बुरा है। यद्यपि यह टैबू एक दूसरे से अलगाव करते हैं, पर इनमें कोई घृणा प्रकट नहीं होती, प्रत्युत वह एक दूसरे के प्रति सम्मान व्यक्त करते हैं। पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री की पति के भाई से विवाह की प्रथा (Levirate) इस निर्वैयक्तिक सम्बन्ध का कारण कही जा सकती है। जबकि पति के छोटे भाई के सम्बन्ध भाभी के साथ सदा ही आत्मीय होते हैं यहाँ तक कि वह कभी-कभी सामाजिक सीमा का उल्लंघन भी कर सकते हैं, स्त्री का रुख़ अपने पति के बड़े भाई के प्रति सम्मान का होता है। लॉवी, टाइलर के साथ सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह टैबू रहने के नियमों से सम्बन्धित हैं क्योंकि पितृ स्थानीय समाज (Patrilocal society) में पत्नी सर्वथा

अपरिचित होती है अतः ससुर उससे बचता है। मातृस्थानीय समाज (Matrilocal society) में सास और जमाई के बीच इस प्रकार का अलगाव पाया जाता है। समान निवास सामाजिक सम्बन्धों में स्नेह और सम्मान विकसित करता और विभिन्न सम्बन्धों के प्रति धारणाओं को निर्धारित करता है। प्रेम के स्थायित्व के लिए सम्मान आवश्यक है और इसीलिए उच्च भारतीय परिवारों में स्त्री अपने पति को निर्वैयक्तिक रूप से सम्बोधित करती है। पितृस्थानीय समाज में मामा से बचाव के उपकरणों को भी उन्हीं कारणों के प्रकाश में समझा जा सकता है जो सास-ससुर से अलगाव को जन्म देते हैं। सामंती समाज में घर के मुखिया का शासन होता है और परिवार के सब सदस्यों को उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। उच्च जातियों में प्रायः देखा जाता है कि ससुर अपनी पुत्र-वधू की बड़े सम्मान और परोक्षरूप से सम्बोधित करते हैं और उनके परस्पर सम्बोधन में एक प्रकार की दूरी व्यक्त होती है। क़बीली समाज के वैवाहिक अनुष्ठानों के विश्लेषण से उन पर यौन सम्बन्धी टैबुओं का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। यौवन-प्राप्ति से पहले संभोग की अनुमति नहीं होती और अनेक दशाओं में विवाह होने से पहले यौन-संबंध निषिद्ध होते हैं। विवाह की अवधि को नियंत्रित कर आदिकालीन समाज में परोक्षरूप से काम-वासना का दमन किया जाता है। प्रत्येक क़बीले में साल के कुछ विशेष महीनों में विवाह तय करने के कुछ पारम्परिक प्रतिबंध होते हैं। विवाह प्रायः उस समय सम्पन्न किए जाते हैं जबकि लोगों के पास अधिक समय रहता है और वे आवश्यक उपहार देने की सामर्थ्य रखते हैं। विवाह की अवधि को नियंत्रित करने के लिए अनेक परोक्ष प्रतिबन्ध होते हैं; उदाहरण के लिए मुंडा-भाषी क़बीलों में बिना दैवी विवाह सम्पन्न हुए अन्य विवाह नहीं हो सकते। प्रकृति को मुंडाओं के सृजनकर्त्ता सूर्य देवता या सिंग-बोंगा की पत्नी माना जाता है और हर साल बसंत ऋतु में उसका विवाह सम्पन्न होता है। पुरोहित और उसकी पत्नी क्रमशः सिंगबोंगा और उसकी पत्नी का अभिनय करते हैं। उसीके पश्चात् अन्य विवाह होते हैं और वर्षा आरम्भ होते ही यह अवधि समाप्त हो जाती है। उराँवों में बीसू अर्थात् ग्रीष्म-शिकार में लगभग एक सप्ताह के लिए शिकार में भाग लेने वाले लोग बाहर रहते हैं, इस बीच गाँव में छूटे हुए उनके परिवार के सदस्यों को पूर्ण-यौन-संयम का पालन करना चाहिए। इस प्रतिबंध का स्पष्ट उद्देश्य निकटाभिगमन और अनुचित सम्बन्धों से रक्षा करना होता है।

सामाजिक सम्बन्धों को नियंत्रित करने का टैबू का क्रियात्मक कार्य अत्यन्त महत्त्व रखता है। यौन टैबू वैवाहिक सम्बधों को नियमित करते, यौन व्यवहार को निर्धारित करते और क़बीली समाज के ध्यान को आवश्यक आर्थिक क्रियाओं पर केन्द्रित करते हैं। ट्रोब्रियण्डर भाई को अपनी बहन के यौन-जीवन में किसी प्रकार की अभिरुचि दिखाने की अनुमति नहीं देते।

सम्भवतः टैबू का उपयोगितावादी पक्ष प्रारम्भिक काल में सामाजिक नियंत्रण का आधार कहा जा सकता है। यह सामाजिक अन्तर्निर्भरता तथा व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता के सम्बन्धों को निश्चित करता है। यदि हम टैबू और सामाजिक रूढ़ि की स्वीकृति (Sanction) को खोजें तो हम देखेंगे कि वह टैबू से हट गई है। उदाहरण के लिए पहले समय में जब कोई व्यक्ति निकटाभिगमन के नियम का उल्लंघन करता था तो वह आत्महत्या द्वारा उसका प्रायश्चित्त करता था। ज्यों ही टैबू की शक्ति घटी उसकी अन्तर्हित शक्ति समाप्त हो गयी। छोटा नागपुर के मुंडा-क़बीलों में निम्नवर्ग के हाथ का भोजन ग्रहण करना टैबू है। आज भी इसका उल्लंघन करनेवाले को अपने कुकृत्य के लिए गाँव के देवता को एक सफेद मुर्गे की बलि देनी होती है और उसके रक्त को चावल की शराब में मिला कर दोने में पीना पड़ता है। ऐसा लगता है कि आज अधिकांश टैबुओं की स्वीकृति नष्ट हो गई है, अतः गाँव के बड़ों को, इन टैबुओं को लागू करने के लिए सामाजिक दंड या सामाजिक निष्कालन (Ostracism) का सहारा लेना पड़ता है। एस. सी. राय के अनुसार अत्यन्त गम्भीर सामाजिक टैबुओं का उल्लंघन करनेवाले लोगों को भी खड़िया पंचायत पहले बिरादरी से पृथक् करती है। यदि अपराधी उसके निर्णय को न माने तो उसे पुनर्विचार के लिए क़बीली सभा या कुटुम्ब सभा बुलाने का अधिकार है। जो भी हो, टैबुओं की आध्यात्मिक शक्ति से उद्भूत अन्तर्हित स्वीकृति समाप्त हो रही है और कोई आश्चर्य नहीं कि लोग यह कल्पना करने लगें कि इन टैबुओं का उल्लंघन केवल व्यक्ति या उसके परिवार के भाग्य पर प्रभाव डालेगा।

टैबू की पवित्रता की प्रेरणा अभी भी माना, बोंगा या अरेन का विचार अर्थात् सर्वव्याप्त, अनिश्चित, निर्वैयक्तिक शक्ति है। जादूगर, ओझा, पुरोहित और क़बीली मुखिया द्वारा पोषित यह अस्पष्ट विचार विभिन्न वस्तुओं को जीवित और निर्जीव वस्तुओं या प्रेतात्माओं और गौण देवी-देवताओं के गुण प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में यह विचार मनुष्य के भौतिक और अभौतिक वातावरण के विषयों और तथ्यों में परिणत हो कर टैबू प्रथाओं, नियमों, सामूहिक रूढ़िओं और आचार का आधार बनते हैं। विभिन्न कारणों से इस निर्वैयक्तिक शक्ति में विश्वास के ह्रास ने एक नई स्थिति को जन्म दिया है और यह उनके स्थायित्व के औचित्य को सिद्ध करता है।

नैतिकता और रूढ़ियों की बौद्धिक व्याख्या की आवश्यकता है, अन्यथा मन अन्धविश्वासों से आच्छन्न हो जाता है। आदि-कालीन समाजों में सामाजिक नियंत्रण आज की भाँति जटिल न था। वहाँ अपराधी का पता लगाना कठिन न था। जीवन के निषेधात्मक और स्वीकारात्मक पहलुओं पर ज़ोर देनेवाला जनमत सामाजिक विच्युतियों से रक्षा करता है। एक ओर व्यक्तित्व के तथा दूसरी ओर निर्वैयक्तिक सामाजिक सम्बन्धों के विकास ने नये नियंत्रणों की आवश्यकता उत्पन्न की। देश के क़ानूनी

विधान ने उसकी स्थानपूर्त्ति की। किन्तु आज भी व्यक्ति के जीवन का एक बड़ा अंश कानून के दायरे से बाहर है और अभी भी वह टैबुओं और परम्परागत आचार द्वारा नियंत्रित होता है। व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सामूहिक स्वार्थों के विरोध को केवल जैविक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित बौद्धिक प्रकार के नियंत्रण द्वारा ही मिटाया जा सकता है। किंतु जब तक हम ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं विद्यमान सामाजिक विधान और उसके क्रियात्मक अनुदान (Functional Role) का अध्ययन और मूल्यांकन उपयोगी है।

आदिकालीन संस्कृतियों में टैबू के अतिरिक्त शकुन, अपशकुन, शपथ, भविष्यज्ञान और उनसे मिलते-जुलते कुछ अन्य साधन भी हैं, जो कि उनके सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। यद्यपि इनकी स्वीकृति टैबू के समान शक्तिशाली नहीं है, फिर भी यह बड़ी सीमा तक व्यक्तिगत और सामूहिक अन्तरों और सांस्कृतिक समायोजन को निर्धारित करते हैं। उक्त सभी बातों ने मिल कर क़बीली नैतिकता और क़बीली सत्ता को सुरक्षित रक्खा है। मनुष्य ने रोग, विपत्ति, निराशा के विरुद्ध संघर्ष किया और सफलता प्राप्त की है। जो कार्य आज विज्ञान हमारे लिए कर रहा है, वही कार्य भविष्यज्ञान, जादू, झाड़-फूँक ने आदिकालीन समाजों में सम्पन्न किया है और जब तक विद्वान इन अंधविश्वासों का स्थान न ले सके इसका पूर्णरूपेण उच्छेद क़बीली जीवन और संस्कृति के लिए कल्याणकारी न होगा।

अध्याय ७

जाति व्यवस्था और तज्जनित अनर्हताएँ

भारत जातियों और सम्प्रदायों के देश के रूप में सर्वप्रसिद्ध है। जाति यहाँ की हवा में बसी हुई है। यहाँ के मुसलमान और ईसाई भी इसकी छूत से नहीं बचे हैं। भारत में लगभग तीन हज़ार जातियाँ और क़बीले हैं और जाति के उद्गम के विषय में यहाँ उतने ही सिद्धान्त हैं जितने कि उस पर लिखने वाले हैं।

ऐसा विश्वास है, और शायद यह ग़लत भी नहीं है, कि जाति-व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है। बहुत से विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित वर्णों के उद्गम के विवरण से इसकी पुष्टि होती है। यद्यपि इसमें सन्देह है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद का ही अंश है, किन्तु यह निश्चित है कि ऋग्वेद काल में समाज में कार्यात्मक विभाजन विद्यमान था। ऐसा ज्ञात होता है कि ईरान में भी भारत के चार वर्णों के समान समाज के चार विभाग रहे होंगे, और यहाँ की भाँति इनका आधार भी कार्यात्मक होगा। ऋग्वेद के परवर्ती काल में, जबकि बौद्ध धर्म ने जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई, इसमें कठोरता आ गई। पर ऐसा कहना अधिक ठीक होगा कि यह ललकार जाति-संरचना के विरुद्ध न हो कर कर्म-काण्ड के विरुद्ध थी। केन्द्रीय सरकार के अभाव में ही ब्राह्मणों का ज़ुल्म बढ़ सकता था, क्योंकि हिन्दू-समाज का कर्मकाण्डीय नेतृत्व उन्हीं के हाथ में था। लौकिक और ऐहिक कार्य जाति-संरचना के दूसरे विभाग राजन्य या क्षत्रियों द्वारा संचालित होते थे।

जाति और प्रजाति

जाति-उद्गम पर लिखनेवाले पाश्चात्य लेखकों को उच्च और निम्न जातियों के बीच प्रजातीय अन्तरों का ज्ञान था और ज्ञात और अज्ञात रूप से उन्होंने अपनी विवेचना को प्रजाति के साथ जोड़ दिया है। वील ने लिखा था कि प्रारम्भ से ले कर अब तक भारत का समस्त इतिहास रंग-भेद का इतिहास रहा है और रंग को लेकर संसार में सर्वाधिक अन्याय शायद यहीं हुआ है। इसी लेखक के मन में श्वेतवर्ण की आर्य-प्रजातियों ने ही जाति की लौह-व्यवस्था का आविष्कार किया जिससे प्रभुता-सम्पन्न प्रजाति का निम्न काली प्रजातियों से अनुचित रक्त-मिश्रण रोका जा सके। ब्रिन्टन ने लम्बे से

लम्बे ब्राह्मणों में मंझला कद, अंडाकार चेहरा, सुन्दर सुव्यवस्थित (Regular) नक्श (Features), संतुलित शरीर, लम्बे कपाल, भूरा रंग, हलकी भूरी आँखें और लहरदार बाल पाये। टामस ने भी जन संख्या के विभिन्न वर्गों में विशिष्ट शारीरिक भेद पाये जो कि उत्कृष्ट और निकृष्ट संस्कृतियों से सह-सम्बन्धित थे। उनके अनुसार यही जाति-भेद का आधार है। डड्ले बक्सटन के विचार में जाति अभी भी भारतीय प्रायद्वीप की जटिल प्रजातियों के विभाजन में सहायक है। रिज़ले ने भी जाति-व्यवस्था में प्रजातीय कारणों को देखा और उसे समरूप ईरानी मूल में खोजा। किन्तु भारतीय जाति-व्यवस्था का अन्तर्विवाही रूप ईरानी व्यवस्था से सर्वथा भिन्न था। रिज़ले ने इस अन्तर्विवाही स्वरूप का मूल आक्रमणकारी आर्य-समूहों और स्थानीय द्रविड़ प्रजातियों के अन्तर्मिश्रण में ढूँढ़ा जो कुलीनता के सिद्धान्त पर बढ़ा था। गिलिन के मत में यह सम्भव है कि भारत में जाति जनता के विभिन्न प्रजातीय अन्तरों से उत्पन्न हुई हो। चैपल और कून ने जातियों का उद्गम मूलवासी जनसंख्या के संविलयन (Absorption) में खोजा है और उनके मत में नई जातियों का निर्माण नये व्यवसायों की उत्पत्ति में निहित है। चैपल और कून का विचार है कि जब भारत में बिजली के मिस्त्री और लाइन-मैन के नये व्यवसाय उदित हुए ही थे तब तो सभी व्यक्तियों ने इन्हें ग्रहण किया। पर शीघ्र ही इन लोगों ने अपने संघ बना लिए और अन्तर्विवाह के लिए अपनी संतान को बाध्य किया। इस प्रकार अल्पकाल में ही यह नई जातियाँ बन गईं। किन्तु स्पष्ट है कि इन लेखकों का यह मत भारत में जाति-संरचना की गति-शीलता को समझने में उनकी भूल दिखाता है। अब एक जाति का एक वर्ग एक विशिष्ट प्रविधि या नये पेशे को अपना लेता है, तब अवश्य अन्तर्विवाह विकसित होता है। किन्तु चैपल और कून का यह तर्क कि विभिन्न जातियों के एक पेशा अपनाने वाले लोग एक जाति के सदस्य बन जाते हैं, ठीक नहीं। मैकाइवर की भी रुझान जाति-संरचना के प्रजातीय उद्गम की ओर है। वे लिखते हैं कि यह कल्पना की जा सकती है कि यह (जाति) एक अन्तर्विवाही समुदाय के ऊपर अन्य समुदाय के आरोपण (Superimposition) द्वारा उत्पन्न हुई। इस प्रकार के आरोपण द्वारा उत्पन्न प्रजातीय शक्ति अहंकार और प्रतिष्ठा का युक्तिकरण (Rationalization) धर्म ने किया। इस प्रसंग में मैक्स वैबर के विचार समीचीन हैं। उसके अनुसार जाति की कल्पना सामाजिक अन्तर के एक धार्मिक, या अधिक स्पष्ट रूप से एक जादू-टोने के सिद्धान्त के उत्थान और रूप परिवर्तन को प्रदर्शित करती है। टौज़र का ख्याल है कि उत्तर भारत में विभिन्न जातियों में सम्पर्क निषेध होने के कारण जाति व्यवसायों पर आधारित हुई, किन्तु दक्षिण भारत में, जहाँ कि अनेक आदिवासी लोग थे, प्रजातीय प्रश्न जातियों के विभाजन का मुख्य आधार बना। प्रो. क्रोबर ने जाति में प्रजातीय तत्त्व को पाया है। किन्तु वे जाति के प्रसंग में धार्मिक, सांकृतिक और व्यावसायिक तत्त्वों के महत्त्व

पर भी पर्याप्त ज़ोर देते हैं। वे आगे कहते हैं कि ऐसा कोई भी कारण जो एक समूह को दूसरे समूह से पृथक् करे, भारत में एक जाति के बनाने के लिए पर्याप्त है।

भारतीय लेखकों में एस. सी. रॉय, एन. के. दत्त और जी. एस. घुरिये ने जाति में प्रजातीय तत्त्व की पुष्टि की है। जाति संरचना के प्रारम्भ का श्रेय हिन्द-आर्य लोगों को दिया गया है। वर्णों का मूलाधार प्रजातीय था जो प्रजाति-मिश्रण और वर्ण-संकरता से फीका पड़ गया। एन. के. दत्त का विचार है कि जाति के कुछ बीज तो सभी देशों के आर्यों की समान सम्पत्ति थे। पर जहाँ अन्यत्र वे उग ही नहीं पाये, भारत में एक ऐसी शक्तिशाली राजनीतिक सत्ता के अभाव ने जो एक बड़े भाग पर अधिकार कर सके और क़बीली अन्तरों को दूर कर समान क़ानून और रूढ़ि प्रचलित कर सके, इन्हें पनपने के लिए अत्यन्त ऊर्वर भूमि प्रदान की। एक अर्थ में सभी विद्वानों ने जाति-संरचना की व्युत्पत्ति में प्रजातीय तत्त्व को स्वीकार किया है, किन्तु तब भी जाति-व्यवस्था के विकास को हम पूर्णतः प्रजातीय आधार पर नहीं समझा सकते।

डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स ने टोडा लोगों की सामाजिक संरचना और हिन्दू-जातियों के बीच समानताओं की ओर निर्देश किया है। उनके तारथोरल और तीवाल्युल इन दो विभाजनों और हिन्दुओं की जातियों के बीच पर्याप्त समानताएँ है। कार्यों का विशिष्टीकरण यहाँ पर्याप्त अंशों में विद्यमान है और पौरोहित्य के कुछ दर्जे केवल तिवाल्युल के सदस्यों द्वारा ही सम्पादित किए जाते हैं। फिर इन दो विभागों के बीच विवाह की अनुमति नहीं है, यद्यपि उनके बीच कुछ अस्थायी प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। गुजरात के गाँवों में काली परज (काली प्रजातियाँ) और उजली परज (अन्य सब हिन्दू-जातियों) के बीच भेद माना जाता है। गाँव के सम्बन्ध में लिखते हुए जी. सी. मुख्त्यार का कहना है कि कोली जो कि पहले काली परज थे अब अपनी सम्पत्ति के कारण उजली परज माने जाते हैं। हैदराबाद राज्य के चेञ्चू नामक क़बीले में फ्युरर हैमन डॉर्फ़ लिखते है, 'गाँव के चेंचुओं का चाहे जो भी आर्थिक भविष्य हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ ही पीढ़ियों में वह हिन्दू-जाति के स्वीकृत सामाजिक-क्रम में अपना स्थान बना लेंगे'। उत्तरी बंगाल के राजवंशी, एक जाति बन गये हैं और उन्होंने हिन्दू गोत्रों को अपना लिया है। सिंघभूम में कोल्हण के हो लोगो ने सम्पत्ति और राजनीतिक दर्जे के आधार पर अन्तर्विवाही समूह बना लिए हैं। अन्यत्र भी हमने विभिन्न व्यवहार संस्थानों, विशेष कर भोजन से सम्बन्धित संस्थानों, पर आधारित वर्ग-संरचना के कारणों पर प्रकाश डाला है। इस विकास का सीधा सम्बन्ध विभिन्न वर्गों के बीच अन्तर्विवाह और अन्तर-भोज से है और इस पर जाति-व्यवस्था के उपजातियों में विभाजन की स्पष्ट छाप है। चूँकि आज आदिवासी क़बीलों की एक आवाज़ है और उनमें राजनीतिक जागृति है इसलिए वह अपने इस अनुसूचित दर्जे को छोड़ने को तैयार नहीं है जिसके अन्तर्गत

उन्हें बहुत से अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त हैं। इसीलिए उनकी जाति न बन कर वर्ग बनने की सम्भावना है। रिज़्ले ने विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जिनके द्वारा क़बीलों ने अपने को जातियों में रूपान्तरित किया है। डब्ल्‌ले बक्सटन का विचार है कि क़बीलों में जाति बनने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। डैनियल और एलिस थॉर्नर ने क़बीलों की उस लघु किन्तु निरन्तर धारा का ज़िक्र किया है जो हर पीढ़ी में गाँवों की सीमा पर बस कर और टोकरी बनाने से लेकर मज़दूरी करने तक और अन्ततोगत्वा अपनी ज़मीन के छोटे टुकड़े भी दूसरों के हवाले कर—अतः अत्यन्त निम्न और हेय पेशों को अपना कर भी—हिन्दू धर्म में प्रवेश करती है। जे. एच. हटन ने भारत की अत्यल्प परिवर्तित प्राचीनतम संस्कृतियों में जाति-व्यवस्था के मूल गुणों को पाया है। उन्होंने नागा पहाड़ियों के पूर्व के अप्रशासित प्रदेश में पेशों के आधार पर कुछ गाँवों के वितरण को देखा और उनकी राय में गाँवों का यह पेशेवार वितरण स्पष्टतः जाति-व्यवस्था का संकेत करता है। उनके विचार में खान-पान के टैबुओं के कारण की खोज में भी हमें नागा देश से अधिक दूर दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं।

कुछ विशेष भोजन, विशेप बहिर्विवाही कुलों (Exogamous clans) की विशेषताएँ हैं और अंतर्विवाह के नियमों का समर्थन आत्मा-पदार्थ (Soul-substance) 'माना', टैबू और जादू टोने से किया जाता है।

भारत के प्रत्येक भाग में सामाजिक श्रेणि-क्रम का एक विशेष संस्थान है, उच्च जाति पद भू-स्वामित्व या भूमि पर विशेषाधिकार, रहन-सहन के उच्च स्तर और हाथ के काम से परहेज़ से संयुक्त है। कृषक जातियों के भिन्न स्तर बीच के स्थान की पूर्ति करते हैं। खेतिहर मजदूर और कृषक दास का निम्न स्थान है। दस्तकार जातियाँ, गाँव की अर्थ-व्यवस्था के लिए अपने सापेक्ष महत्त्व के अनुसार कृषक जातियों के नीचे स्थान पाती हैं। उनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण जातियाँ शुद्ध पद को प्राप्त कर लेती हैं। डैरिल फ़ोर्ड ने तामिल ब्राह्मणों और ग़ैरहिन्दू समुदायों की छोड़ कोचीन की जातियों के दर्जे को उनकी घटती प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और शक्ति के आधार पर समझाया है। यह क्रम इस प्रकार है : राजघराने से सम्बन्धित क्षत्रिय जाति-समूह का एक पूज्य शासक परिवार के रूप में विशेष पद है। नम्बूदरी ब्राह्मण अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा पर आधारित एक कुलीन वर्ग हैं। इन्होंने विस्तृत भूमि-सम्पत्ति भी अर्जित की है। नायर जो पहले सैनिक थे और भूमि के भी मालिक थे, सापेक्षतया उच्च जातियों का एक वर्ग है जो कि ब्राह्मणों को व्यक्तिगत सेवाएँ प्रदान करता है। दस्तकारों की निम्न जातियाँ, मछियारे, मांझी, ताड़ी निकालनेवाले, दास जातियाँ और जंगली समूह आदि अछूत जातियाँ है। उत्तर प्रदेश में, जो कि प्राचीन आर्यावर्त का केन्द्र है, जाति-क्रम का रूप सामान्यतः इस प्रकार है : ब्राह्मण, क्षत्रिय, खत्री, कायस्थ, वैश्य जातियाँ, अहीर, कुर्मी, कहार,

चमार, पासी क़बीली समूह जिनमें अपराधोपजीवी क़बीलों का भी समावेश है जैसी निम्न-दस्तकार जातियाँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और खत्री जमींदार और ताल्लुकेदार हैं और कायस्थ सबसे पढ़ी-लिखी जाति है। मौरूसी काश्तकारों का दर्जा अधिकांश दस्तकार और क़बीली समूह की जातियों से ऊँचा है।

जाति और ज़मीन

अतः यह सोचना ठीक ही है कि उच्च जातियाँ जमीन से मालिक के रूप में संयुक्त हैं और उनके उस पर विशेषाधिकार हैं। उसके बाद सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण दस्तकार जातियों का नम्बर आता है और निम्नतर किन्तु आवश्यक जातियों को सामाजिक और धार्मिक कारणों से नीचे और दूर रक्खा जाता है।

जाति और कार्य

यद्यपि कुम्हार, जुलाहे, मछुए, तेली इत्यादि दस्तकार जातियों को पेशों के साथ मिलाया जा सकता है तथापि जब हम जाति-सीढ़ी पर ऊपर चढ़ते और नीचे उतरते हैं, तो जाति और पेशे के बीच हमें ऐसा कोई मेल मुश्किल से नज़र आता है। क़बीलों को किसी विशेष पेशे से नहीं मिलाया जा सकता और उच्च जातियों के यद्यपि पारम्परिक पेशे हैं पर व्यवहार में वे उन पर अमल नहीं करतीं। प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य में ब्राह्मणों के विभिन्न पेशों का ज़िक्र आता है। दश ब्राह्मण जातक में ब्राह्मणों के दस वर्गों की सूची दी गई है। वह है: चिकित्सक, संदेश-वाहक, कर-संग्रहकर्त्ता, लकड़हारे, व्यापारी, किसान, गड़रिए, कसाई, सैन्यरक्षक और शिकारी। मनु ने भी ब्राह्मणों के विभिन्न कार्यों पर आधारित वर्गों का और प्रत्येक के सामाजिक श्रेणि-क्रम में स्थान का विवरण दिया है। कुछ ब्राह्मणों को उनके हीन पेशे के कारण सम्मान से नहीं देखा जाता। बहुत से निर्धन ब्राह्मण वास्तव में धार्मिक भिखारी हैं। बहुत से मृत्यु संस्कार से सम्बन्धित होने या निम्न जातियों का पौरोहित्य करने के कारण समाज में लांछित हैं। उत्तरप्रदेश में लेखक द्वारा संचालित हाल ही में की गई एक पड़ताल से यह प्रकट हुआ कि साठ प्रतिशत दस्तकार जातियाँ अपने परम्परागत पेशे पर नहीं चलतीं और न ही कभी चली थीं। जायसवार, जो कि जाति से चमार हैं, पकौतों और हरकारों का काम करते हैं और मिर्ज़ापुर के चमार और तेली पहले भी और आज भी खेती का काम करते हैं।

विभिन्न जातियों के बीच विद्यमान सामाजिक अन्तर

समय-समय पर विभिन्न जातियों के बीच विद्यमान सामाजिक अन्तर के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है किन्तु इसका आधार मुख्यतः परिमाणात्मक ही रहा है। अपवित्रता के प्रसंग में सामाजिक अन्तर का अध्ययन किया गया है जिसके अनुसार

निम्न जातियों और उच्च जातियों के सदस्यों के बीच अल्पतम कितना शारीरिक अन्तर रहना चाहिए, इसकी व्यवस्था की जाती है। जब एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण से दक्षिणा स्वीकार करता है तो उसे ऊँची आवाज में, राजन्य या क्षत्रिय से हल्की आवाज में, वैश्य से कानाफूसी द्वारा और शूद्र से मन ही मन में स्वीकार करता है, क्योंकि अंतिम श्रेणी के लोगों से दक्षिणा स्वीकार करने में अपवित्रता निहित है। मद्रास में ऐसी मान्यता है कि एक पारिया जाति का सदस्य १४ फ़ीट की दूरी से भी एक उच्च जाति के हिन्दू को अपवित्र कर देता है। एक नायर किसी ऊँची जाति के सदस्य को केवल छूने मात्र से ही अपवित्र कर सकता है, जबकि मिस्त्रीगिरी, बढ़ईगिरी, लुहारी और चमारी का काम करनेवाले कमइलन लोग २४ फ़ीट की दूरी से, ताड़ी निकालनेवाले ३६ फ़ीट दूर से और किसान २५ फ़ीट की दूरी से उन्हें (उच्च जाति के लोगों को) अपवित्र करने की क्षमता रखते हैं। मद्रास में विद्यमान सामाजिक अन्तर को 'माना' की अवधारणा द्वारा समझाया जा सकता है जिसके अनुसार श्रेष्ठ 'माना' के दुष्प्रभाव से बचने के लिए अलगाव ज़रूरी है। होलिया जाति के सदस्य ब्राह्मणों से अलगाव करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि ब्राह्मणों का 'माना', जब तक कि उसे टैबू और निषेधों द्वारा निष्क्रिय न बना दिया जाय, दुर्भाग्य और विपद् की सृष्टि कर सकता है। इसीलिए जब ब्राह्मण 'पराचरि' अर्थात् होलियाओं की बस्ती में प्रवेश करते हैं तो उन्हें अपने स्पर्श को निष्क्रिय बनाने के लिए, शुद्धि की विभिन्न कष्टदायक क्रियाओं को सम्पादित करना होता है। हटन द्वारा अध्ययन किए गये नागा क़बीलों में भी इस प्रकार के व्यवहार का उल्लेख है। हम मुण्डा क़बीलों में भी अपरिचितों के सान्निध्य के ख़तरों से बचने के लिए इस प्रकार के बचाव पाते हैं। यहाँ पर अस्पृश्यता पारस्परिक है। उच्च जातियाँ अपवित्र होने के डर से निम्न जातियों से बचती हैं; निम्न जातियाँ उच्च जातियों के श्रेष्ठ 'माना' के प्रभाव से बचने के लिए उनसे बचाव करती हैं। 'माना'—कल्पना अल्पाधिक रूप में सर्वत्र ही प्रचलित है, किन्तु इसने कहीं पर भी भारत जैसे सामाजिक विभाजन का विकास नहीं किया। अफ़्रीका का अध्ययन करते हुए रेडिन ने देखा कि वहाँ पर जाति-व्यवस्था का आधार प्रजातीय और पेशागत है।

जातिगत अनर्हताएँ

जहाँ एक ओर जाति व्यवस्था ने एक समय पद और भूमिका की निश्चितता प्रदान की, सरल श्रम विभाजन और आवश्यक आर्थिक सुरक्षा की सृष्टि की, वहाँ दूसरी ओर उसने कुछ निम्न जातियों के लिए अनेक प्रकार की असमर्थताओं को जोड़ एक दलितवर्ग का निर्माण किया। यह दलित जातियाँ हाल तक विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक अनर्हताओं का शिकार रही हैं। यह जातियाँ अछूत या हरिजन हैं और

अपवित्र मानी जाती हैं। सार्वजनिक सवारियों, सड़कों, कुओं, स्कूलों पूजापाठ के स्थानों, मन्दिरों व मठों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। कुछ भागों में तो उनकी छाया भी अपवित्र मानी जाती है। कहीं उनकी अपवित्र छाया पर किसी ब्राह्मण का पैर न पड़ जाये, इस डर से उन्हें आम सड़क पर आने से पहले घोषणा करनी होती है। मद्रास राज्य के एक भाग में तो पारिया केवल दुपहर को ही सड़कों पर चल सकते हैं जबकि सूरज ऊपर होता है और साया कम से कम पड़ता है। आज कल की परिस्थितियों में चाहे परम्परा उसका कितना ही समर्थन क्यों न करे, इन पाबन्दियों को लागू नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का अन्तर समस्त राज्यों में ही विद्यमान है। दक्षिण में तो यह बहुत ही भीषण है। अब्राह्मणों के लिए अनेक और प्रचुर अनर्हताएँ हैं। अन्य भागों में यह असमर्थताएँ और अनर्हताएँ क्रमशः समाप्त होती जा रही हैं। इन विभेदों का मूल ब्राह्मणों की याज्ञिक पवित्रता में है और उसका कोई प्रजातीय महत्त्व नहीं है। तथाकथित दलित जातियों की असमर्थताएँ याज्ञिक न हो कर प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताओं पर आधारित हैं और इसीलिए उसके समाप्त होने में समय लगेगा।

ब्रिटिश भारत में 'दलित' या बहिर्गत (Exterior) जातियों की कुल जनसंख्या ५ करोड़ थी, जिसमें से ४ करोड़ ५० लाख प्रान्तों और ९० लाख देशी रियासतों में वास करती थी। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार यह संख्या हिन्दू जनसंख्या का २१ प्रतिशत तथा कुल भारतीय जनसंख्या का १४ प्रतिशत भाग है। कुछ वह असमर्थताएँ जिनके आधार पर प्रान्तीय सूचियाँ तैयार की गई थीं वास्तविक नहीं है, अन्य का सम्बन्ध भंगी, दुसाध, डोम आदि के पेशों से है। ब्राह्मण आज सदैव परम्परानुमोदित पेशे पर नहीं चलता। बहुत बार तो उसका पेशा वह हो सकता है, जिसे कि बहिर्गत जातियाँ भी उपेक्षा की दृष्टि से देखती हैं। बहुत सी बहिर्गत जातियाँ साफ़ पेशों का अनुसरण कर रही हैं, किन्तु उनके तथा उच्च जातियों के बीच विद्यमान स्थानीय विरोध जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संक्रमित (Transmit) होता है, उच्च जातियों द्वारा भिन्न जातियों के लिए प्रयुक्त निन्दासूचक विशेषणों में अभी भी अभिव्यक्त होता है। बहुत सी जातियाँ तो वास्तव में ऐसी हैं जिन्हें अतीत में पर्याप्त सामाजिक और राजनीतिक अनर्हताएँ भुगतनी पड़ी हैं और जिनका श्रेष्ठ पद का दावा स्थानीय उच्च जातियों ने स्वीकार भी कर लिया है। लेकिन कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिन्होंने राजनीतिक कारणों से अपने को बहिर्गत लिखवाना उचित समझा। कुछ अंशों में, उनकी इस दूरदर्शिता से उन्हें लाभ भी पहुँचा है। जे. एच. हटन ने लिखा है, "सन् १९३१ की जनगणना उस अवसर पर आई जबकि तत्काल ही राजनीतिक सुधारों की सम्भावना की जा रही थी। इसने बहिर्गत जातियों की पहली प्रचुर संख्या की गणना को और भी जटिल बना दिया। बहिर्गत जाति के सदस्यों की उस

स्वाभाविक इच्छा से पृथक्, जिसके अन्तर्गत वह अपने पड़ोसियों से स्वीकृत दर्जे से अपने को पृथक बताना चाहते तथा ऊँचा उठाना चाहते थे, अनेक परस्पर विरोधी शक्तियाँ काम कर रही थीं। हिन्दू महासभा द्वारा स्पष्ट रूप से यह आन्दोलन शुरू किया गया कि हिन्दू बिना जाति या सम्प्रदाय की विशेषताओं के अपने को केवल हिन्दू दर्ज करायें।" कुल बहिर्गत जातियों पर इस प्रकार के प्रचार के प्रभाव को आँकना मुश्किल है, क्योंकि इसके विरुद्ध बहिर्गत जातियों के नेताओं का विरोधी प्रचार और अपील थी और उनके और उनके सहयोगियों द्वारा दर्शायी गई संभावनाओं ने बहुत सी काल्पनिक शिकायतों और हीनभाव से पीड़ित समूहों को जनगणना में अपने को बहिर्गत दर्ज कराने को प्रोत्साहित किया।

किसी न किसी प्रकार की सामाजिक असमर्थताएँ सभी देशों में विद्यमान हैं। वह उन समूहों के बीच, जो दो या अधिक प्रजातीय समूहों और सांस्कृतिक पदों से विभक्त हों और निरन्तर सम्पर्क में आते हों, और भी अधिक कठोर और अधिक होती हैं। उच्च जातियों में ब्राह्मणों ने अपने लिए विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए, जिन्हें वह नहीं छोड़ना चाहते। अन्य अब्राह्मण जो कि 'द्विज' माने जाते हैं अनेक बार बहिर्गत जातियों से कम कष्टकर असमर्थताओं का शिकार नहीं होते। ब्राह्मण का हुक्का अलग होता है, अन्य किसी जाति का सदस्य उसके आसन पर नहीं बैठ सकता. अन्य उच्च जातियों के सदस्य जितनी बार भी उससे मिलें, उन्हें उसके पैर की धूल माथे पर लेनी चाहिए। कोई कायस्थ या शूद्र जिस पत्तल पर ब्राह्मण उसे भोजन परस चुका हो, खाना खा कर नहीं छोड़ सकता। बंगाल में एक कायस्थ या वैद्य एक ब्राह्मण को भोजन के लिए नहीं बुला सकता। ब्राह्मण उसके यहाँ केवल पक्का खाना या ब्राह्मण द्वारा पकाया हुआ खाना ही खा सकता है। ब्राह्मण अन्य जातियों पर अनेक प्रकार के कर आरोपित करता है। विवाह, सामाजिक उत्सवों, धार्मिक अवसरों आदि पर सबसे पहले उसकी तुष्टि होनी चाहिए। बंगाल में आज भी यदि कोई विधवा ब्राह्मण स्त्री किसी ऐसे अब्राह्मण किन्तु द्विज जाति के सदस्य से छू जाये जिसे वह अप्रिय शूद्र शब्द से सम्बोधित करती है तो उसे (स्त्री को) स्नान करना पड़ता है। जब कि 'द्विज' जातियों के सम्बन्धों के बीच इतनी असमर्थताएँ विद्यमान हैं तो कोई आश्चर्य नहीं कि बहिर्गत जातियों के पल्ले, जो कि भिन्न प्रजातियों और संस्कृतियों से सम्बद्ध हैं, कहीं अधिक असमर्थताएँ पड़ें।

विभिन्न प्रान्तों में बहिर्गत जातियों की संख्या १९३१ की जनगणना रिपोर्ट में की गई है। एक स्वीकृत मानक के अभाव में ये संख्या में विभिन्न प्रान्तों में उन जातियों की स्थिति और उनकी अपने को 'बहिर्गत' जाति दर्ज कराने की स्पष्ट इच्छा पर आधारित हैं। यद्यपि प्रान्तीय जनगणना कमिश्नरों ने उनकी प्रामाणिकता का दावा किया है, किन्तु हमारे विचार में उसमें अतिशयोक्ति है। उदाहरण के लिए, आसाम में हिन्दू जनसंख्या का ३७ प्रतिशत तथा वहाँ की कुल जनसंख्या का २१ प्रतिशत अंश

बहिर्गत दर्ज किया गया है, जबकि वहाँ किन्हीं विशेष असमर्थताओं का अभाव है। आसाम के जनगणना कमिश्नर ने बहिर्गत जातियों के मामले को स्पष्टतापूर्वक निम्न शब्दों में व्यक्त किया है: "भारत के जनगणना कमिश्नर के आदेशों के अन्तर्गत, भारत के प्रत्येक प्रान्त के लिए दलित और पिछड़े हुए वर्गों की एक सूची तैयार करनी है। इसलिए आसाम के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध भी मुझे आधुनिक बल्लाल सेन का काम करने पर मजबूर होना पड़ा है। 'दलित' शब्द भारत में, विशेष रूप से मद्रास की कुछ उन जातियों के सदस्यों से सम्बन्धित हो गया है जिनके पास से गुज़रना निषिद्ध है, जिनसे छू जाने पर तत्काल शुद्धि आवश्यक हो जाती है और जिन्हें अन्य जातियों के सदस्यों के साथ स्कूलों में पढ़ने की आज्ञा नही है। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि आसाम में इस सीमा तक कोई उत्पीड़न नहीं है। ऐसी जाति जिसके पास से गुज़रना निषिद्ध है, यहाँ पर अज्ञात है। यहाँ पर समस्त जातियों के लड़के बिना किसी भेद-भाव के स्कूलों और कॉलेजों में भर्ती होते हैं। यहाँ पर किसी भी जाति के लिए कुओं और तालावों से पानी भरने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है।"—इसे देखते हुए जनगणना सुपरिटेंडेंट ने बहिर्गत शब्द सुझाया जिसे भारत के जनगणना कमिश्नर ने समस्त भारत की गणना के लिए स्वीकार किया। पुराने प्रान्तों और रियासतों की कुल जन संख्या में बहिर्गत जातियों की प्रतिशत संख्या नीचे दी जा रही है:—

आसाम	—२१	बम्बई	—८	बलोचिस्तान	—×
बंगाल	—१४	मध्य प्रान्त	—१	हैदराबाद राज्य	—१७
बिहार और उड़ीसा	—१५	मद्रास	—१५	मैसूर	—१५
उत्तर प्रदेश	—२३	पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त	—×	जम्मू और काश्मीर	—५
पंजाब	—५			त्रिवांकुर	—३५

विभिन्न प्रान्तों में बहिर्गत जातियों की प्रतिशत संख्या से यह स्पष्ट है कि उन्हीं क्षेत्रों में अनर्हताएँ प्रमुख हैं जहाँ पर कि अधिक संख्या में आदिम (Primitive) और मूलवासी (Aboriginal) जनता निवास करती है।

आसाम में बहिर्गत जातियों की संख्या २१ प्रतिशत है और आसाम अनेक मूलवासी क़बीलों द्वारा बसा हुआ है। यह क़बीले धीरे-धीरे हिन्दू धर्म में दीक्षित होते जा रहे हैं। अन्य प्रान्तों और रियासतों में बहिर्गत जातियाँ और क़बीले जन-संख्या के पूर्व-द्रविड़, ऑस्ट्रेलीय और मंगोलीय तत्त्वों से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, उत्तर

प्रदेश में मिश्रित जनसंख्या है और रिज़ले ने उन्हें आर्य द्रविड़ कहा है। उत्तरप्रदेश में सामाजिक श्रेष्ठता के क्रम को एक सामाजिक पिरेमिड द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। ब्राह्मण इसकी चोटी पर विराजमान हैं।

१ ब्राह्मण
२ भाट, भूमिहार, तगा
३ राजपूत, खत्री
४ कायस्थ
५ बनिया, जाट, गूजर, अहीर
६ कुर्मी, कुनबी, माली, बंजारा, भार
७ थारू, राजी, कलवार, तेली, कोल
८ धानुक, दुसाध, कोरी, पासी
९ चमार, डोम, भंगी

संख्या १ से ५ तक की जातियाँ हिंद-आर्य (Indo-Aryan) प्रजातीय स्कन्ध की हैं और ये विभिन्न अनुपात में एक दूसरे से और संख्या ६ की जातियों से मिश्रित हुई हैं। इनमें से बाद की जातियाँ अधिकतर कृषक हैं जो कि क़बीली समूहों के साथ मिलने पर भी अपने मौलिक प्रजातीय गुण संरक्षित किए हुए हैं। बंगाल की तुलना में जहाँ की पूर्व-द्रविड़ धारा (Strain) अधिक स्पष्ट है, इन प्रान्तों की कृषक जातियों (६) में अधिक लक्षण हिन्द-आर्य हैं। संख्या ७ के क़बीली समूह मंगोलीय या पूर्व-द्रविड़ प्रजातियों के हैं, किन्तु यह हिन्द-आर्य तत्त्वों से विभिन्न अनुपात में मिश्रित हैं। संख्या ८ और ९ के समूह वह विविध समूह हैं जिनका सामाजिक पद उनके गंदे और गिरे हुए समझे जानेवाले पेशों के आधार पर निर्धारित हुआ है। यहाँ तक कि क़बीली समूह भी उन्हें अपवित्र होने के भय से नहीं; प्रत्युत उनके गंदे पेशे के कारण छूने से इन्कार करते हैं। सम्मानित पेशों तथा कृषि में संलग्न जातियों से चमार मरे जानवर प्राप्त करता है। उसे कमाकर वह चमड़े का सामान बनाता है और अनेक बार बदले में उन्हें जूते या चमड़े का सामान देता है। डोम जूठन और कुत्ते का मांस खानेवाला भिखारी और चोर है। भंगी और श्मशान-घाट पर मुर्दा जलाने के लिए आग देने के उसके काम ऐसे हैं जो उसे प्रतिदिन विभिन्न जातियों के सम्पर्क में लाते हैं। तात्कालिक लाभ के प्रलोभन और असुरक्षा ने उनकी स्त्रियों के लिए अनैतिकता एक पेशा बना दिया है। इसका उनकी संतान के शारीरिक लक्षणों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।

इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के सामाजिक मानचित्र में अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यहाँ

की जातियों का भौगोलिक वर्णन है। उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग में अधिकांश उच्च जातियाँ फैली हुई हैं जबकि उसके पूर्वी भाग में अधिकांश निम्नजातियों का निवास है। फलस्वरूप जैसे-जैसे हम पूर्व से पश्चिमी ज़िलों की ओर बढ़ते हैं सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है। हाल के प्रवासों ने उन इलाकों में जहाँ उच्चजातियों की संख्या नगण्य थी, उनकी संख्या को बढ़ा दिया है और अगर कुछ दशकों तक यही क्रम रहा तो सारे राज्य में सामाजिक प्रकारों का वितरण प्रायः समान हो जायगा।

दलित जातियों की स्थिति

दलित या बहिर्गत जातियों की स्थिति को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

१—दलित जातियाँ सभी राज्यों में दलित नहीं हैं। एक जाति राज्य विशेष में दलित हो सकती है किन्तु अन्य राज्यों में समस्त सामाजिक और राजनैतिक अनर्हताओं से मुक्त भी हो सकती है। मध्य प्रदेश में तो एक दूसरे से लगे हुए ज़िलों तक में एक जाति के भिन्न सामाजिक अधिकार और दायित्व हैं।

२—जहाँ पर दलित जातियों के सदस्यों की संख्या कम है वहाँ उनकी असमर्थताएँ और अधिक कठोर हैं। जहाँ पर उनकी संख्या पर्याप्त है और उन्होंने शक्तिशाली जातीय संगठन बना लिए हैं उनकी असमर्थताएँ कम हैं और घट रही हैं।

३—जहाँ पर जातियाँ एक या प्रायः एक ही प्रजाति की हैं, सामाजिक असमर्थताएँ अधिक नहीं हैं और प्रायः वह उन वर्गों तक ही सीमित हैं जिनके काम गन्दे और गिरे हुए समझे जाते हैं।

४—जहाँ उच्च जातियों की संख्या अधिक नहीं है और दलित जातियों बहुत अधिक संख्या में हैं वहाँ याज्ञिक अपवित्रता का भाव बहुत कम अंशों में पाया जाता है तथा निकृष्ट जातियों और सामाजिक वर्गों को कम अनर्हताओं का सामना करना पड़ता है।

५—एक जाति दलित हो सकती है किन्तु व्यक्तिगत रूप से उसके सदस्य जीवन में सफलता पा लेते हैं और जो समृद्ध हैं और जायदाद के मालिक हैं उन्हें उच्च सामाजिक पद प्राप्त हो गया है और यहाँ तक कि वह राजपूतों और अपने को राजपूत कहनेवाली जातियों में ब्याह तक कर लेते हैं।

६—क़बीली अवस्था के साथ कोई सामाजिक कलंक नहीं जुड़ा हुआ है, किन्तु पृथक्करण और दूरी के कारण ऐसा हो सकता है। जब क़बीले जाति-अर्थ-व्यवस्था में प्रवेश करते हैं तो उनके दर्जे का निर्धारण उनकी संख्या और प्रजातियों के लिए

उनके महत्त्व के अनुसार होता है। बंगाल, बिहार, और २४ परगने के विभिन्न स्वास्थ्यवर्धक स्थानों में संथाल सामाजिक अनर्हताओं से पीड़ित नहीं हैं। इसके विपरीत वह उच्चजातियों के हाथ से, जिनके लिए उनकी सेवाएँ अपरिहार्य हैं, पानी और भोजन ग्रहण नहीं करते। साहा और नीलियों ने बंगाल की अर्थव्यवस्था पर बहुमुखी प्रभाव डाला है और वे अधिकार प्राप्त किए हैं जो कि उनके बिरादरी के लोगों को और कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं।

अध्याय ८

भारत की क़बीली संस्कृतियाँ

भारत की क़बीली जनसंख्या का सांस्कृतिक विकास के तीन स्तरों में श्रेणी विभाजन किया जा सकता है। यहाँ पर हिन्दू प्रभाव से रहित आदिम क़बीले हैं जिनकी पृथकता पर अभी तक आक्रमण नहीं हुआ है। स्वभावतः वहाँ पहुँचने की कठिनाई या दूरी इसका प्रधान कारण है। यदि वहाँ पर बाह्य प्रभावों का आक्रमण भी हुआ है तो उसने किसी प्रकार की बेचैनी पैदा नहीं की है। ऐसे अनेक क़बीले हैं, जिन्होंने हिन्दू रिवाज़ और व्यवहार अपना कर निम्न जातियों के साथ कुछ अंशों में समता प्रदर्शित की है। ये क़बीले कुछ सांस्कृतिक उच्चता प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु इन्हें अभी तक बहिर्गत जातियों का दर्जा भी प्राप्त नहीं हो सका है। कुछ आदिम क़बीले ऐसे भी हैं जिन्होंने पर-संस्कृति ग्रहण की है, जो हिन्दुत्व ग्रहण कर चुके हैं या ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके हैं और जो उस सांस्कृतिक स्तर पर पहुँच गये हैं, जहाँ हिन्दू होने पर उन्हें अछूत या बहिर्गत जातियों का दर्जा प्राप्त हुआ है और ईसाई होने पर अपने धर्म परिवर्तन के कारण लांछित होना पड़ा है।

प्राजातीय (Racial) दृष्टि से भारत की अन्तः और उत्तरपूर्वी सीमा-प्रांत स्थित क़बीली जनसंख्या हिन्द-आस्ट्रेलीय (Indo-Australoid) और मंगोलीय प्रजातीय स्कन्ध की है। नागा, कुर्ग और आसाम के मनीपूरियों का मूल मंगोलीय है और गारो और राजवंशी प्रजातीय धारा (Strain) निस्सन्देह रूप से प्रवेश कर गयी है। हिन्द-आस्ट्रेलीय सारे देश में फैले हुए हैं। प्रायद्वीपी भारत में वह भूमध्यसागरीय प्रकार से मिल गये हैं और मध्य भारत की पट्टी में वह यत्र-तत्र एल्पाइन तत्त्व में आत्मसात् हो गये हैं। दक्षिण एक दो क़बीलों में निग्रिटो धारा के भी कुछ अंश पाये गये हैं। कुछ नृतत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि भारतीय जनसंख्या का मूलाधार यही प्रजातीय धारा है। किन्तु निग्रिटो कभी भी भारतीय नहीं है। अधिक संभव तो यह है कि घुँघराले बाल, नाटे क़द और मंझले कपाल (Mesocephalic) वाले इन लोगों ने भारत में बहुत बाद में प्रवेश किया हो और उनके इन शारीरिक लक्षणों का अफ़्रीकी स्रोत हो। भारत के तटीय प्रदेशों में पश्चिमी निग्रायड लोगों के प्रवेश की पर्याप्त साक्षियाँ हैं और कुछ नृतत्त्व वेत्ताओं का विचार है कि अपने विस्तार से पहले भूमध्यसागरीय

प्रजाति का निग्रायड से संसर्ग था। यह नहीं कहा जा सकता कि मंगोल प्रजाति ने किसी प्रकार अन्तःस्थित भारत की जनसंख्या को प्रभावित किया है, यद्यपि इस प्रजाति की शक (Scythian) शाखा ने सांस्कृतिक गुजरात के काथियों और सम्भवतः कच्छ के मेहरों, राजपूतों और ओस्वालों पर अपना प्रभाव छोड़ा है। रक्त-समूहों की साक्षियों से ऐसा मालूम होता है कि हिन्द-ऑस्ट्रेलियों और निग्रिटों में कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि निग्रिटों में B रक्त का अनुपात बहुत अधिक है। यहाँ तक कि अंदमानवासियों में भी जो कि निग्रिटों हैं, B रक्त का अनुपात अधिक है। पनियनों में A और O रक्त पाया जाता है और भारत की क़बीली जनसंख्या में भी B रक्त बहुत अधिक नहीं है।

भारतीय क़बीलों के मूल और मिश्रण का उक्त सामान्य विवरण विस्तृत रूप से भारत में संस्कृतियों के विभाजन और सम्मिश्रण की ओर संकेत करता है। अतः अफ्रीका और ओशेनिया की भाँति यहाँ पर भी विशिष्ट संस्कृति और संस्कृतियों के क्षेत्रीय वर्गीकरण को दिखाना संभव है। संभवतः, नागा पर्वतों के बाहरी इलाकों, मद्रास और उड़ीसा के पहले एजेंसी क्षेत्रों और बस्तर, हैदराबाद, और मैसूर के क़बीली क्षेत्रों को किसी ऐसी वर्गीकरण योजना में रखना कठिन है पर वह भी सापेक्षिक रूप में।

सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत की क़बीली जनसंख्या लगभग २ करोड़ ५० लाख है। इनमें से २·१ करोड़ पुराने प्रान्तों में तथा बाकी पुरानी रियासतों में, जो अब विभिन्न राज्यों में मिल गई हैं, बसती हैं। उसी साल बिहार और उड़ीसा में ६० लाख, बम्बई में लगभग ३० लाख, मध्यप्रान्त में ४० लाख, मद्रास में १० लाख से कुछ अधिक तथा संयुक्त प्रांत (वर्त्तमान उत्तर प्रदेश) में ४ लाख क़बीली जनसंख्या वास करती थी। पिछले छब्बीस वर्षों में इस क़बीली जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है और अब उसकी संख्या ३ करोड़ के करीब होगी। कुछ क़बीलों की जन-संख्या बढ़ी है जबकि कुछ की घटी है किन्तु क़बीली जन-संख्या में जो ह्रास हुआ है वह बहिर्गत जातियों की संख्या में वृद्धि है। अतः समग्र रूप से क़बीली जनसंख्या कम नहीं हुई। बहुत से कबीलों का जातियों में रूपान्तरण विभिन्न जनगणनाओं के आधार पर प्रकाश डालता है।

हम नहीं जानते कि किस सीमा पर एक क़बीला एक जाति में मिल जाता है, किन्तु यह एक तथ्य है कि, बहुत से विशेषरूप से भील, कोसी और गोंड वर्ग के क़बीले जैसे ही मैदानों या खुले स्थानों में सामान्य हिन्दुओं की भाँति रहना शुरू कर देते हैं, जाति में ढल जाते हैं। बहुत से क़बीले अपने को क़बीली धर्म के माननेवालों में नहीं दर्ज कराते। इसलिए क़बीली जनसंख्या का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

बहुत से क़बीली समूह द्विभाषी हैं और बहुतों ने अपनी मूल बोली और भाषा छोड़ दी है अथवा जिस प्रदेश में वह रहने लगे हैं वहाँ की प्रमुख भाषा बोलनी शुरू कर दी है। बिहार में मुंडा-भाषाओं का स्थान धीरे-धीरे बिहारी बोलियाँ ले रही हैं और ऐसे क़बीलियों की कमी नहीं जो कि बंगला भाषा समझते और बोलते हों। अविभक्त बंगाल में अनेक क़बीले बंगला बोलते थे यहाँ तक कि बिहार के संथालों ने तो बंगाल को अपना लिया है या अपना रहे हैं।

अतः क़बीले से जाति को पृथक् करने का एक ही सही मापदण्ड है। वह है क़बीलों का मूल प्रादेशिक रूप। जाति एक सामाजिक समूह है और क़बीला एक प्रादेशिक समूह। क़बीले के सदस्यों के मूल स्थान को निश्चित रूप से खोजा जा सकता है, जबकि एक जाति विस्तृत क्षेत्रों में छिटकी हुई मिलती है। स्थानिक (Spätial) निश्चितता के कारण क़बीलों का अपना एक राजनैतिक संगठन है। उनमें से कुछ नागा और कूकी की भाँति राजतन्त्रात्मक हैं तथा अन्तःस्थित भारत के अधिकांश क़बीलों का संगठन लोकतन्त्रात्मक है।

भारत की क़बीली जनता को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (१) पश्चिमोत्तर प्रान्त के भागों के क़बीले, (२) उत्तर पूर्वी सीमांत के क़बीले और (३) अन्तःस्थित क़बीले प्रथम श्रेणी के क़बीलों में अफ़ग़ान और बलोचों का समावेश है। इनका निवास पश्चिमी पाकिस्तान में है। दूसरी श्रेणी के क़बीलों का मूल मंगोलीय है। वह तिब्बती-चीनी परिवार की बोलियाँ बोलते हैं जिसमें कहीं-कहीं योन ख़्मेर और आसामी का भी मिश्रण है। तीसरा समूह, जो कि संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा है, स्वयं तीन भागों में बँटा है। (१) भील-कोली समूह, (२) गोंड-कोया समूह और (३) मुंडा-समूह। इनमें से पिछला समूह ऑस्ट्रिक आधार पर प्रस्थापित हिन्द-आर्य, भाषा, दूसरा द्रविड़-बोलियाँ तथा तीसरा ऑस्ट्रिक परिवार की भाषाओं के आस्ट्रो-एशियाई उप-परिवार की मुंडा बोलियाँ बोलते हैं।

आज पहले की भाँति आदिम क़बीलों के जंगली रिवाज़ों और व्यवहारों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रही है। इस के दो कारण हैं। पहला तो यह कि जंगली जीवन और संस्कृतियों के सम्बन्ध में अनेक खोजें हो चुकी हैं और बहुत कुछ लिखा जा चुका है, जिसके आधार पर अगर हम चाहें तो आज उनके पूर्व इतिहास को पुनःस्थापित कर सकते हैं और सामाजिक संस्थाओं और उनके क्रम को समझ सकते हैं। दूसरे प्रजातियों के सम्पर्क और संस्कृतियों के संघर्ष ने पृथक् संस्कृतियों के अध्ययन में एक नये अध्याय का प्रारम्भ किया है। जैसे कि आज भारत के उच्च और अधिक प्रगति-प्राप्त वर्गों के सम्बन्ध में ठीक है, उनमें प्रचलित सती, बाल-विवाह, देवदासी, जैसी प्रथाओं और व्यवहारों का, जब तक उन्हें एक एकीकृत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के गुण न समझे जायें, बहुत ही कम महत्त्व है। इसी प्रकार आज आदिम भारत

की विभिन्न प्रथाएँ और व्यवहार जैसे कि आदमखोरी, मुण्डआखेट, गोदवाना, जख्म करके निशान बनाना, युवावस्था में प्रवेश और खतना, बन्दी बना कर विवाह, परीक्ष्यमान विवाह, विधवा का सम्पत्ति में अधिकार और कृषि-यज्ञ (Ritual) से संयुक्त मदमत्त कामाचार, युवाग्रह और अन्य प्रकार के स्त्री-पुरुषों का पृथक्करण आज पहले की भाँति क़बीलों की सांस्कृतिक संरचना से एकीकृत नहीं हैं।

सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों पर पहुँचे हुए विभिन्न सामाजिक समूहों के सांस्कृतिक जीवन में जो परिवर्तन घटित हुए हैं, उन्होंने असभ्य और सभ्य सभी के मानसिक दृष्टिकोण को बदल दिया है। आज भारत में कोई ऐसा सामाजिक समूह नहीं है जो सांस्कृतिक सम्पर्क से बिल्कुल अछूता हो। इसीलिए सांस्कृतिक परिवर्तन के गतिशास्त्र का महत्त्व पृथक् संस्कृतियों के विवरणात्मक अध्ययन से कहीं अधिक बढ़ गया है।

एक क़बीली संस्कृति को उसकी ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में समझना ज़रूरी है। जैसा कि किसी देश के बारे में यह सत्य है कि जब तक वह उसकी जीवन-रीति के उद्देश्य को पूर्ण न करे अर्थ-व्यवस्था या सामाजिक दाम ही सब कुछ नहीं है। जब तक जनता अपने घोषित उद्देश्यों के प्रसंग में अपने जीवन और सुख को प्रभावित करनेवाली भौतिक समस्याओं का समाधान न करे, उसके अतीत का गौरव-गान निरर्थक है। भारत के विभिन्न भागों में परिवर्तित आर्थिक वातावरण ने क़बीली और पिछड़ी हुई जनता को नई परिस्थितियों में ला फेंका है। औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था ने कृषि-पोषित बैठे रहने की आदतों तथा कृषि के प्रति पुराने रुझान को बदल दिया है। किन्तु एक अर्थ-व्यवस्था से दूसरी अर्थ व्यवस्था में संक्रमण ने क़बीलों को अपरिहार्य और अवश्यम्भावी नयी अवस्थाओं से अपने को अनुकूल बनाने में सहायता नहीं दी है। क़बीली जीवन की समस्याओं का क़बीली गतिशास्त्र के प्रसंग में अध्ययन जरूरी है। जहाँ पर क़बीले अपनी बस्तियों में नैराश्यपूर्ण भविष्य का सामना कर रहे हैं, वहाँ उनके आदिम सामाजिक ढाँचे से समझौते की कोशिश किए बिना ही समायोजन (Adjustment) की समस्या उनके आर्थिक जीवन को नई दिशा प्रदान करके ही हल की जा सकती है। पर जहाँ क़बीली लोग, बगानों और सीमांत नगरों में, अपने घरों से दूर ग्राम सुलभ सामाजिक और सामुदायिक जीवन से पृथक् रहते हैं, वहाँ समस्या उनके सांस्कृतिक जीवन की निरन्तरता को बनाये रखने की है।

भारत में औद्योगीकरण का प्रवेश बिना पूर्व-आयोजन और बिना स्थानीय और प्रादेशिक अवस्थाओं को ध्यान में रख कर हुआ है। परिणाम स्वरूप इसने क़बीली संस्कृति में गम्भीर अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है। बहुत से ऐसे उद्योग हैं जो एकांततः क़बीली श्रम पर निर्भर हैं। उदाहरण के लिए, चाय उद्योग पूर्णतः छोटा नागपुर और छत्तीसगढ़ के आदिवासियों के श्रम पर आधारित है। कहा जाता है कि छोटा नागपुर

के छः लाख लोग आज आसाम के अकेले चाय-उद्योग में काम कर रहे हैं। क़बीली श्रमिकों का उद्योग से अभी भी परोक्ष-सम्बन्ध है, क्योंकि उनमें से अधिकांश ठेकेदारों द्वारा भर्ती किए गये हैं, अतः उनके कल्याण का उन उद्योगों से जिनमें वह लगे हुए हैं, सीधा सम्बन्ध नहीं है। वह वहाँ उनके अधिकृत ठेकेदार द्वारा लाये जाते हैं। मानभूम का इलाका हमारी अधिकांश कोयले की आवश्यकता को पूरा करता है और यहाँ की खानों के मजदूर प्रायः पूर्णतः आदिवासी हैं। सिंघभूम का प्रदेश अकेला ही समस्त भारत और अनेक एशियाई देशों की धातु की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त कच्चा लोहा देता है। यहाँ भी अधिकांश श्रमिक आस-पास की क़बीली जनसंख्या द्वारा जुटाए जाते हैं। मोसावनी और मौमंडर के भारतीय तांबा कॉर्पोरेशन क़बीली श्रम से काम लेते हैं। कलकत्ता और उसके आस-पास की जूट-मिलें अपने काम को चालू रखने लिए और विस्तार की आवश्यकताओं के अनुरूप क़बीली श्रम का सहारा लेती हैं। यहाँ तक कि कलकत्ता शहर और बंगाल के गाँवों में श्रम की आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए क़बीली श्रम की ओर ताकना पड़ता है। आदिवासियों के नेता श्री जयपालसिंह ने अपने एक लेख में क़बीली श्रम की समस्याओं के सम्बन्ध में एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उदाहरण के लिए बहुत से औद्योगिक क्षेत्रों में क़बीली श्रमिकों को अपने घर से कहीं पाँच मील चल कर काम पर जाना और शाम को उतना ही फ़ासला तय कर लौटना पड़ता है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि इसका उनके परिवारिक जीवन पर कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और किस भाँति उससे उनकी सामाजिक अनर्हता बढ़ेगी।

आज की विद्यमान आर्थिक अवस्थाओं में क़बीली जीवन का विघटन ग्राम्य समुदाय में सामाजिक एकता के ह्रास के समान ही यथार्थ है। यहाँ विक़बीलीकरण (Detribalisation) के परिणाम स्वरूप क़बीली एकता में कमी हुई है, वहाँ राजनीतिक आन्दोलनों में इसने एक नया सम्मिलन तत्त्व ढूँढ़ निकाला है और प्रत्येक स्थान पर क़बीली जनता में जागरूकता के चिह्न दीख रहे हैं। नई राजनीतिक चेतना ने, विशेष कर छोटानागपुर और उड़ीसा में, क़बीली विषमायोजन (Maladjustment) की समस्या को एक ओर डाल दिया है और एक नयी दृष्टि विकसित की है, जिसका यदि अधिक ठीक प्रकार से उपयोग किया जा सके, तो निर्हस्तक्षेप नीति पर आधारित सामाजिक-अर्थ-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न जड़ता और निष्क्रियता को समाप्त किया जा सकता है। क़बीली समस्या के इस पहलू ने क़बीली समस्या को प्रकाश में लाया है और इसी लिए देश के विभिन्न भागों में क़बीली कल्याण के कार्यों को यह प्राथमिकता दी जा रही है।

पिछले अनुभव, विशेष कर दलित जातियों के कल्याण और संरक्षण के सम्बन्ध में प्राप्त अनुभव, हमें क़बीली समस्याओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने और

योग्यता और सहानुभूति से क़बीली कल्याण और क़बीली समायोजना की समस्याओं को आँकने में सहायता दे सकते हैं। एक अजनवी संस्कृति को क़बीली जीवन के वर्तमान संकट और उससे निकलने के उपायों के सम्बन्ध में सदैव एक स्वस्थ दृष्टि के अभाव की कठिनाई रहती है। क़बीली नेतृत्व अभी तक क़बीली जीवन के ध्येय के बारे में जागरूक नहीं है और नये क़बीली नेताओं की असहिष्णुता और हीन भावन ने विद्रोह की शक्तियों को प्रबल कर दिया है।

संजीवनी बूटी की खोज मानव का स्वभाव है, लेकिन वह न कभी उसके हाथ लगी है और न लगेगी। क़बीली समस्याओं का कोई एक समधान नहीं है, न ही एक स्वर से कोई उसकी मांग करनेवाला है। विभिन्न क़बीलों के सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर और जीवन के विभिन्न संस्थान हैं। क़बीली जीवन के पुनर्वास की किसी भी योजना में संस्कृतियों की धारणाओं और उनके ढाँचे का ध्यान रक्खा जाना ज़रूरी है क्योंकि जो बात एक संस्कृति के लिए ठीक हो सकती है, यह आवश्यक नहीं कि दूसरी के लिए भी ठीक हो। हैदराबाद के गोंड ऐसी विशिष्ट अवस्थाओं में रहते हैं कि उनके लिए एक विशिष्ट प्रकार की योजना उपयोगी हो सकती है। मुंडा और संथालों के लिए एक नई पुनर्वासन की योजना चाहिए, क्योंकि बिहार की परिस्थिति ने उन्हें अपनी शक्ति और महत्त्व और शोषण के विरुद्ध संगठित होने के लिए जागरूक बना दिया है।

पीछे हम भारतीय क़बीलों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण प्रस्तुत कर चुके हैं। अतः क़बीली पुनर्वासन की किसी भी योजना में विभिन्न क़बीलों के सांस्कृतिक स्वरों को ध्यान में रखना ज़रूरी है। यह योजनायें बने-बनाए गुटों पर, जैसा कि हो रहा है, आधारित नहीं होनी चाहिए। यदि हैदराबाद ने एक योजना अपनायी है तो मद्रास और बिहार को उसके पीछे चलने की ज़रूरत नहीं क्योंकि वहाँ की अवस्थाएँ हैदराबाद के समान नहीं हैं। कुछ अवस्थाओं में शिक्षा और क़बीली शिक्षकों की नियुक्ति पर विचार करने से पहले रोटी की समस्या का समाधान जरूरी है। के. जे. साने ने वार्लियों के सम्बन्ध में जो कहा है वह विचारणीय है, "एक उत्साही सुधारक निस्संकोच यह कहेगा कि समस्त सुधार शैक्षणिक होने चाहिए और प्राथमिक शिक्षा सब चीज़ों का आधार है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु जहाँ तक वार्लियों का प्रश्न है, शिक्षा से पहले रोटी की समस्या का समाधान आवश्यक है। सबसे पहले भूख की प्राकृतिक क्षुधा का निवारण होना चाहिए। उन लोगों के लिए साक्षरता की बात करना जिन्हें दिन में दो बार भर पेट भोजन नहीं मिलता, निरा मज़ाक है। एक भूखा आदमी भोजन के अलावा कोई और चीज़ हज़म नहीं कर सकता। हम बार बार इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि यह लोग असीम निर्धनता में जीवनयापन कर रहे हैं। इन्हें भोजन प्राप्त करने के योग्य बनाना सबसे प्रमुख आवश्यकता है।"

साक्षरता अभी भी सबसे मुख्य मानी जाती है और इसे प्राथमिकता दी गई है

दक्षिण के कुछ राज्यों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य बना दी गई है किन्तु वहाँ साक्षरों की संख्या में विशेष वृद्धि नहीं हुई है। स्कूल हैं, पर वह काम नहीं करते। अध्यापक और माता-पिता मिल कर इस शिक्षा के उद्देश्य को ही नष्ट कर देते हैं। विद्यार्थी स्वच्छन्दता पूर्वक अपने घर या गाँवों के कामों में लगे रहते हैं। जब निरीक्षण के लिए इन्सपेक्टर आते हैं तो उनकी बड़ी संख्या की हाज़िरी दिखायी जाती है। उनके जाते ही विद्यार्थी फिर ग़ायब हो जाते हैं। अध्यापकों को राज्य से बहुत थोड़ा पारिश्रमिक मिलता है। उनकी तात्कालिक आवश्यताएँ गाँव वालों द्वारा पूरी की जाती हैं। ऐसी स्थिति में अध्यापक सदा ही इस सहायता के लिए गाँव वालों के कृतज्ञ रहते हैं। आज देश की जो स्थिति है उसमें साक्षरता का तब तक कोई अर्थ नहीं, जब तक कि वह जीविकोपार्जन में सहायक सिद्ध न हो। भारत के हज़ारों गाँवों में एक डाकख़ाना तक नहीं है और लाखों ऐसे लोग पैदा होते हैं जो जीवन में बिना कोई चिट्ठी पाए ही मर जाते हैं।

गुजरात के भीलों की निर्धनता तो प्रख्यात है। कुछ भागों में तो भील अपराधोपजीवी घोषित किए गये हैं और उनसे दर्ज या बिना दर्ज किए गये अपराधोपजीवी लोगों के समान व्यवहार किया जाता है। कुछ साल पहले इन पंक्तियों के लेखक ने पंचमहल ज़िले के तालुके में भीलों की २१ डकैतियों का रिकार्ड देखा था। बीस-बीस पचीस-पचीस लोगों के दल गाड़ियाँ लूटने के अभियोग में गिरफ्तार हुए लेकिन उनमें से प्रत्येक को इस लूट से इतनी राशि भी प्राप्त नहीं हो सकी कि वह उससे एक दिन पेट भी भर सकें। फिर भी उन्हें यह डकैती करने पर मज़बूर होना पड़ा और उसके लिए अदालत का सामना करना पड़ा। जीविकोपार्जन के साधनों के अभाव, भुखमरी और उसकी आवश्यकताओं के प्रति शासन की घोर उपेक्षा ने भीलों को अपराधी जीवन बिताने के लिए बाध्य किया है। स्थायी निर्धनता और भूखमरी भीलों के जीवन का अंग बन गयी है और वह अपनी वर्तमान असमर्थता को अपनी परम्पराओं और पुराणों की सहायता से समझाने का प्रयास करने लगे हैं। उदाहरण के लिए भीलों में यह विश्वास है कि वे पार्वती से सम्बन्धित हैं। पौराणिक गाथा के अनुसार वह पांच भील जो कि पार्वती के भाई थे महादेव के पास दहेज के लिए गये। इस पर महादेव ने कहा कि उनके पास सिवाय नन्दी के कुछ भी नहीं है। भीलों को बताया गया कि इसमें अपार सम्पदा छिपी हुई है, किन्तु भील उसका सही अर्थ नहीं समझ सके। उन्होंने नन्दी को मार दिया पर उन्हें उस में कुछ नहीं मिला। इस मूर्खतापूर्ण कृत्य से भीलों को सदा निर्धनता और निन्दनीय जीवन बिताने का दण्ड मिला। यहाँ पर अन्य स्थानों की भाँति क़बीली पुनर्वासन में कल्याणकारक अर्थशास्त्र को समान प्राथमिकता देने की आवश्यकता है।

भारत में आस्ट्रो-एशियाई बोलनेवालों की संख्या लगभग ८० लाख है। यह

गुण द्वारा वह अपनी स्व-संस्कृति को योरोपीय संस्कृति से संयुक्त कर रहा था। यह दावा किया जाता है कि कोल्हण के कुम्हारों की कला हो लोगों से निकली है और आग पर चलने का हुनर उन्हीं का आविष्कार है यद्यपि इन दोनों ही दावों की पुष्टि करना कठिन है। यहाँ तक भी दावा किया जाता है कि ओपरतिपी-वधू के साथ भाग कर विवाह करने की रीति उन्नत संस्कृति का लक्षण है और हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो की पुरा-ऐतिहासिक सभ्यताएँ भी उनकी ही कृति हैं। इन दावों में स्पष्टतया उनका अपने पुराने मूल्य और सांस्कृतिक गुण पुनःप्राप्त करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है।

उनकी ज़मीन पर बसे हुए दीकू लोगों ने भी धारणाओं के इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया है और नई परिस्थितियों के प्रकाश में अंतःसम्बन्धों को नयी दिशा दी है। वे नव आदिवासी राष्ट्रवाद की दृष्टि से समस्याओं पर विचार करने लगे हैं। लेकिन दुर्भावनाओं का नाश देर से होता है। इसीलिए वे अब भी आदिवासियों से लड़ते पाए जाते हैं और उनको नीचे खानदान का और कुरूप कह कर लांछित करते हैं क्योंकि आदिवासी उनकी सेवा करने से इन्कार कर रहे हैं। यह उस नई व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जिसके अन्तर्गत क़बीली जनता उनके लिए केवल लकड़ी काटने और पानी भरने से ही संतुष्ट नहीं है।

क़बीली गाँव अभी भी जीवित हैं, ग्राम-संगठन अभी भी बना हुआ है और गाँव का मुखिया अभी भी एक मान्य अधिकारी है। एक औसत क़बीली घर के रहन-सहन के स्तर में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई है, यद्यपि उन परिवारों का स्तर कुछ ऊँचा है जो कि रुपया कमाने के लिए बाहर जाकर वापस आ गये हैं। पहले की भाँति ही आज भी दैनिक आवश्यकताएँ पूर्ण की जाती हैं, यद्यपि आज परिवारों का सम्मिलन, सामुदायिक कारणों पर आधारित न होकर, पारस्परिक-आदान-प्रदान पर आश्रित है। आज क़बीली भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के मन में एक नई आशा और आकांक्षा लहर ले रही है। उसमें नयी पायी हुई शक्ति से लाभ उठाने की इच्छा, शीघ्र सब कुछ पा जाने की व्यग्रता है और प्रशासकीय सुधार में यह व्यक्त करने की चेष्टा है कि उनके साथ न्याय नहीं हुआ है। जब मैंने एक पीर के मानकी से यह पूछा कि स्थानीय प्रशासन के थाना व्यवस्था प्रारम्भ करने के प्रयत्नों के विषय में उसकी क्या राय है तथा इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि उससे कोल्हणवासियों को क्या लाभ होगा, तो उसने मुस्करा कर जवाब दिया, "यह कोल्हण पर अपना शिकंजा मज़बूत करने का षडयन्त्र है, न कि सहायता पहुँचाने या पुनर्वासन का कार्यक्रम। डाक्टर साहब, आप क्यों नहीं देखते कि सरकार को क़बीली अफ़सरों में कोई विश्वास नहीं है। संकटकाल में उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अतः किसी न किसी बहाने पुलिस का प्रवेश ज़रूरी है।" यह प्रतिक्रिया विरोधी न होकर सूचनाओं पर आधारित है।

कोल्हण के औसत स्त्री-पुरुष की भावुकता अपनी परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाती जिनके अन्तर्गत हो लोगों के साथ अजनबी पड़ोसियों द्वारा एक मूक और उपेक्षित दर्शक का सा व्यवहार किया जाय। हो अन्य लोगों से, विशेषतः उन संबन्धियों से, मिलने के लिए व्यग्र हैं जिनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा है और जो ऊँचे सामाजिक दर्जे का दावा करते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति पर गर्व है और वह अपने प्रदेश पर अपने अधिकार का दावा करते हैं। खुँट कट्टीदार परिवार कुछ विशेषाधिकारों के अभ्यस्त हैं। उन्होंने अपने मूल्यों को संरक्षित करना सीख लिया है और उन्हें अत्यन्त चेष्टा से सुरक्षित रखा है। प्रशासकीय सुधारों और दयालु या सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के प्रति हो लोगों की प्रतिक्रिया समान नहीं है। सामान्य दिन प्रतिदिन के जीवन में भी प्रदर्शन की इच्छा पर्याप्त प्रबल है। चाहे परिवार की स्थिति बहुत साधारण ही क्यों न हो, अधिकांश को प्रदर्शन प्रतिष्ठा और पद पाने का बहुत चाव है। यहाँ हमारा विचार है कि कोल्हण में क़बीली जीवन के पुनर्वासन का कार्य अन्य क़बीलों से भिन्न रीति पर होना चाहिए। हो लोगों के समस्त वर्गों को सामान्य उत्थान और उस दिशा में कार्य नहीं रुचते। बहुत बार मैं सर्वमुखी उन्नति, समान व्यवहार और क़बीली जीवन की मुख्य समस्याओं के बारे में कह चुका हूँ, किन्तु सदैव ऐसे प्रयत्नों में सर्वसाधारण के बजाय विशिष्ट वर्गों की आशाएँ और आकांक्षाएँ ही व्यक्त हुई हैं।

जब आज एक हो अपनी क़बीली सफलता का ज़िक्र करता है तो वह व्यक्तियों की, न कि समस्त क़बीले की सफलता की ओर लक्ष्य करता है। अत्यन्त अल्पसंख्यक बुद्धिवादीवर्ग अपने परिवारों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बड़े पदों और स्थानों के लिए दावा करता है। नये कुओं के निर्माण, तालाब की मरम्मत या सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार जैसे सार्वजनिक कार्यों के बारे में वह उत्साह व्यक्त नहीं किया जाता जितना कि एक व्यक्ति के उच्च पद या विश्वविद्यालय की डिग्री पाने के समाचार पर। आज कोल्हण में वर्ग-भावना बहुत विकसित है और क़बीली उत्थान का अर्थ व्यक्तिगत पदों में उन्नति और वर्ग-अहंकार की तुष्टि हो गया है। यहाँ पर मेरी सम्मति में प्रशासन क़बीली कल्याण की समस्याएँ सुलझाने में अपना कोई सर्वभौम आधार न रख स्तरीकरण द्वारा बढ़े तो शायद अधिक सफलता हो। हो लोगों में क़बीली जीवन का स्तर ऊँचा उठाने का एक रास्ता यह है कि सर्वसाधारण के लिए प्राथमिक और प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था के अतिरिक्त, प्रशासन महत्त्वाकांक्षी और समृद्ध परिवारों को सहायता देकर उनके पुत्र और पुत्रियों को शिक्षा दिला उन्हें सुधारक और उद्धारक की भूमिका में उतारा जाये। हो लोगों पर शिक्षित लोगों का प्रभाव अपनी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक है। ऐसी स्थिति में अधिक शिक्षित लोगों के अधिक लाभ, और नई परिस्थितियों के साथ आश्चर्यजनक समायोजन की संभावना है। हो

अजनबियों से भड़कते हैं और उनके उद्देश्यों के बारे में बहुत संदेह करते हैं, किन्तु शिक्षित हो बहुमुखी क़बीली प्रगति और कल्याण के प्रशासन के उद्देश्यों को कार्यान्वित कर सकते हैं। नवजात राष्ट्रवाद जो कि राजनीतिक अधिकारों की मांग में व्यक्त होता है क़बीली जीवन से हटने की प्रवृत्ति पर अंकुश रखेगा और ऐसी आशा की जा सकती है कि शिक्षित क़बीली लोग अपने उन्नत पड़ोसियों की निरी प्रतिकृति न होंगे।

क़बीली जीवन के बुद्धिमत्तापूर्वक नियन्त्रण की आवश्यकता है, अन्यथा अनेक ऐसे कष्टों के उत्पन्न होने की संभावना है जिनसे अभी बचा जा सकता है। क़बीले के वयोवृद्ध अभी भी क़बीली संस्कृति के संरक्षक हैं। अतः क़बीली जीवन के संगठन का कार्य अभी भी वयोवृद्ध के हाथ में रहने देना चाहिए क्योंकि वे जनता में विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं और उनकी ओर अभी भी लोग अपनी कठिनाइयों के हल के लिए देखते हैं। कोल्हण को क़बीली अफ़सरों के असहानुभूति पूर्ण और उनके द्वारा स्वार्थ और व्यक्तिगत लाभ के लिए शक्ति हथियाने की मनोवृत्ति के प्रति रोष है। कुछ अवस्थाओं में तो क़बीलों के एजेंट और गुर्गों द्वारा यह असंतोष फैलाया गया है और आर्थिक अवस्था ने इस कष्ट को और भी बढ़ा दिया है। अतः क़बीली अफ़सरों ने ऊँचे रहन-सहन की जो आदतें अपना ली हैं, उन्हें बिना घूसखोरी और अवैध वसूली के कुकृत्यों के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। क़बीली अफसरों में परिवर्तन की आवश्यकता है और कुछ में प्रशासकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नये अफ़सर भी नियुक्त किए गए हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में ऐसे क़बीली अफसरों की नियुक्ति, जो कि क़बीली जनता के सम्मान-भाजन न हों और साथ ही गैर-क़बीली हों, उचित नहीं।

थाना पद्धति को संदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है। चाहे इस नई पद्धति को प्रारम्भ में कुछ भी सफलता मिल जाय, अन्ततोगत्वा इसके द्वारा परम्परागत नियंत्रण की समाप्ति की, प्रशासन पर, बुरी प्रतिक्रिया होगी। यह आवश्यक है कि थाना अफ़सरों के नये दायित्वों को समुदाय के शिक्षित नवयुवकों या बुद्धिमान व्यक्तियों के सुपुर्द किया जाय। इनका सहकारी कार्य और उपयोगिता क़बीली नियन्त्रण की शिथिलता और क़बीली अफसरों की त्रुटियों को सुधारने का काम करेगी।

कुल और गांव की एकता जो अभी विद्यमान है, नहीं तोड़ी जानी चाहिए। बाहर से उपयोगी नज़र आनेवाली नई व्यवस्था क़बीली जीवन को विशृंखल करने का साधन बन सकती है। कोल्हण की एक अध्ययन-यात्रा में हमारी एक थाना अफ़सर से भेंट हुई जिसे हमें सहायता देने का काम सौंपा गया था। वह केवल पाँचवी जमात तक पढ़ा था किन्तु काफी समझदार और चलता पुर्ज़ा था। टूटी-फूटी स्थानीय बोली में उसने हो गांवों के काल्पनिक स्वर्ग का चित्र प्रस्तुत किया, जबकि हर घर में कुँआ, सिंचाई के लिए हर गाँव में नहर, हर दस परिवारों के लिए अनाज का एक गोला, सदाचरण के

लिए पर्याप्त पुरस्कार और प्रत्येक हो लड़के-लड़की के लिए मुफ्त शिक्षा, भोजन और वस्त्र की व्यवस्था होगी। वह इसी उद्देश्य से इस गाँव की पड़ताल करने आया था। कुछ लोगों ने अवश्य उसका साथ दिया यद्यपि उतने विश्वास से नहीं जितना कि भय से, किन्तु अधिकांश लोग उसकी प्रतिज्ञाओं और ना-समझी पर हँसते रहे। छः महीने बाद ही मैंने उस व्यक्ति को सरकारी ठाट-बाट में देखा। इन्स्पेक्टर पद पर उसकी तरक्की हो चुकी थी और वह थाना अफ़सरों की ट्रेनिंग के लिए तैनात किया गया था। इस भाँति थाना-व्यवस्था कार्यान्वित हो रही है। इसका लाभ उतना क़बीली कल्याण के लिए नहीं है जितना कि प्रशासन के लिए। यदि क़बीली क्षेत्रों के निम्न अधिकारियों, जैसे कि जंगल के चौकीदारों, मंत्रालय, और मुआयना चौकियों के कर्मचारियों, क़बीली स्कूल के अध्यापकों, को क़बीली जनता में से भर्ती किया जा सकता है, जैसा कि विभिन्न राज्य सरकारों ने भी स्वीकार किया है, तो क्या कारण है कि थाना अफ़सरों का चुनाव क़बीले के शिक्षित या अन्यथा योग्य नवयुवक और नवयुवतियों में से न किया जाय। कोल्हण में सामान्य शिक्षा के प्रसार का प्रश्न अन्य क़बीलों से सर्वथा भिन्न है।

प्रत्येक हो गाँव में स्पष्ट, बुद्धिमान और परिश्रमी नवयुवतियों की एक ऐसी बड़ी संख्या है जो बिना उपयुक्त प्रस्तावों या ऐसे नवयुवकों के अभाव में जो उनके लिए आवश्यक गोनौंग दे सकें या भरण पोषण के साधन जुटा सकें, जीवन में स्थिर नहीं हो सकी हैं। यह लड़कियाँ बिना समाज का कोई भला किए, यों ही मुरझा जाती हैं, उनका समय व्यर्थ होता है और जहाँ कहीं उन्हें आश्रय मिलता है वह दास की भाँति जीवन बिताती हैं। ऐसी लड़कियों की शिक्षा और विभिन्न सम्भ्रान्त पेशों के लिए उनकी ट्रेनिंग क़बीले को अपने रहन-सहन का स्तर उठाने में मदद देगी। इन लड़कियों को उपयोगी कार्यों में लगा कर देश की समृद्धि में योगदान दिया जा सकता है। भारत में ऐसे अनेक पेशे हैं, जिनमें स्त्रियों की आवश्यकता है पर वे उनकी ओर आकर्षित नहीं होतीं। परिचर्या (Nursing) यहाँ पर एक उपेक्षित पेशा है। इनमें योग्य लड़कियाँ नहीं जातीं और न ही इसमें सेवा की ऐसी अवस्थाएँ हैं, जो कि योग्य स्त्रियों को आकर्षित कर सकें। क़बीली स्त्रियों का मुक्त और स्वच्छन्द जीवन, उनकी परिश्रम करने की क्षमता और क़बीली क्षेत्रों में उनकी बेकारी भारत की जनशक्ति की भीषण बर्बादी है। पिछले महायुद्ध में पर्याप्त संख्या में क़बीली स्त्रियों को, सामान्यतः जो ईसाई थीं तथा बिहार राज्य के रांची जिले की रहने वाली थीं, स्त्री-सहायक-सेवा में भर्ती किया गया था। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण टैक्निकल और गैर-टैक्निकल पदों पर भी बड़ी योग्यता का परिचय दिया। नगरी मध्यवित्त बहनों की तुलना में क़बीली स्त्रियाँ सरलता से अपने को सम्भ्रान्त पेशों के अनुरूप ढाल सकती हैं। उनका एक स्वस्थ समूह है।

आज वह क़बीली क्षेत्र के एक छोर से दूसरे छोर तक की व्यर्थ की लम्बी यात्राओं में अपना समय बर्बाद करती हैं। कभी-कभी उन्हें एक आने का साग खरीदने के लिए, बीस-बीस मील आना-जाना पड़ता है। एक बार चाईबासा में एक साप्ताहिक हाट में हमने घर के बगीचों की बिकने आई हुई उपज की क़ीमत का अनुमान लगाया वह बाज़ार-भाव पर ११ रु. की बैठी। बेचने वाले व्यक्तियों की संख्या जिनमें स्त्रियों की बहुतायत थी, ८४ थी। इसी प्रकार खरीदारों की संख्या जो कि एक पैसे का नमक या तम्बाकू या एक आने का मिट्टी का तेल खरीदते हैं, हजारों में होती है। हमने हिसाब लगाया उस दिन दस मील की दूरी पर स्थित एक गाँव की कुल खरीद ३·५० रुपए की हुई जिसमें कि ६० खरीदारों ने भाग लिया। बाजार की भीड़ केवल खरीदारों की ही नहीं होती। ऐसे लोग बड़ी संख्या में आते हैं जो केवल तमाशबीन होते हैं और सिर्फ़ गपशप करने या चावल की शराब पीने आते हैं। कोल्हण में प्रत्येक स्त्री अपने जागने का आधा समय कार्य में व्यतीत करती है जिसमें मीलों का पैदल आना-जाना भी सम्मिलित है। अगर कहीं पड़ोस में कोई नागरिक केन्द्र और स्टेशन हो तब तो वह एक आने की सब्ज़ी या सेर भर चावल बेचने के लिए मीलों का चक्कर लगायेगी और कहीं शाम को एक पोटली नमक या आवश्यकता की और कोई छोटी-मोटी चीज़ लेकर लौटेगी। इस प्रकार मानव श्रम के जितने घंटे नष्ट होते हैं उन्हें समुचित आयोजन और सहकारी प्रयत्नों से बचाया जा सकता है।

यह तथ्य कि क़बीली भारत के श्रमिकों ने अन्य स्थानों की भाँति अभी तक टैक्निकल विकास या कारखानों या खानों के उत्पादन में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली, इस बात की प्रबल युक्ति है कि क़बीली श्रम के साथ विशेष अच्छा व्यवहार होना चाहिए। क़बीली श्रमिकों के शांत और स्थिर होने का मुख्य कारण उनका आप्रवासी रूप है जिसके कारण खान के क्षेत्रों में विशेष रूप से श्रमिकों की स्थायी जनसंख्या नहीं बन पाती। मालगुज़ारी या रस्म या त्योहार के लिए अनुत्पादक कर्ज़ों की रक़में चुकाने के लिए जब नक़द रुपये की सख्त जरूरत पड़ती है तब मज़दूरी के लिये क़बीली लोग खानों की ओर जाते हैं और जैसे ही उनके पास काम लायक रुपया आया वह पुनः गाँवों को लौट आते हैं और जब तक कि कोई मजबूरी न हो या ठेकेदारों की तरफ़ से जब तक कोई बहुत ऊँची मज़दूरी का प्रलोभन न हो, वापस नहीं आते। श्रम केन्द्रों की अवस्थाएँ विशेष कर वहाँ के घरों और सफाई की व्यवस्था, काम करने के घंटे आदि क़बीली लोगों को पसन्द नहीं आते और वस्तुतः उनका वहाँ रहना एक दीर्घ प्रतीक्षित नक़द-भुगतान तक ही सीमित रहता है। ऐसे क़बीली लोगों के लिए जो कि क़बीली जीवन रीति से नहीं हटना चाहते, ऐसे स्थानों का कोई आकर्षण नहीं है। वे तो वहाँ से यथासम्भव शीघ्र छुट्टी पा अपने गाँव में ही जीवन बिताना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त

खानों में परोक्ष रूप से ठेकेदारों के द्वारा मजदूरों को रखने का तरीका भी मजदूरों की दुरवस्था का अन्य कारण है। मालिक अपनी ज़िम्मेदारी ठेकेदारों पर डाल देते हैं और ठेकेदार उसका सारा दोष मालिकों के मत्थे डाल अपना बचाव करते हैं। इस प्रकार श्रमिकों की अत्यन्त आवश्यक शिकायतों का भी कोई समाधान नहीं हो पाता। किन्तु सदैव ऐसा नहीं रह सकता। क़बीली श्रमिकों और देश के उत्पादन की आवश्यकताओं दोनों के लिए ही यह आवश्यक है कि क़बीली श्रम के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाया जाये। टैक्निकल विकास श्रमिकों की टैक्निकल योग्यता से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। यह केवल उद्योग या उद्योगों पर आश्रित स्थायी श्रमिकों की उपलब्धि पर अवलम्बित है। आज क़बीली श्रमिक बिल्कुल अज्ञानी और असंगठित हैं। उन्हें अपने अधिकारों और संभावनाओं का अपनी शारीरिक शक्ति या क्षमता का ज्ञान नहीं है और न ही उन्हें अपने कार्य में कोई स्थायी अभिरुचि है। वह पशुओं की भाँति काम करते हैं और उनके साथ वैसा ही व्यवहार होता है। उन्हें नमूनों की तरह प्रदर्शित किया जाता है और जड़ता और परिस्थितियाँ उन्हें आगे बढ़ाने का अवसर नहीं देतीं। कुशल श्रम की ट्रेनिंग प्राप्त करने की सुविधाएँ उन्हें प्राप्त नहीं हैं। वह केवल 'भूल और सुधार' के सहारे स्वयं काम सीखते हैं और सदा ही ग़ैर-क़बीली श्रमिकों के सामने अपने को तुच्छ अनुभव करते हैं।

यदि श्रमिकों के कष्ट और कठिनाइयों ने क़बीली श्रमिकों में आन्दोलन, असंतोष और जाग्रति उत्पन्न नहीं की है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी समस्याओं पर विचार नहीं किया जाये। छोटा नागपुर में स्थित कारखानों और औद्योगिक इकाइयों में अधिकांश क़बीली श्रमिक ही कार्य करते हैं। वह एक अर्थ में ग्रामीण ही हैं, क्योंकि वहाँ पर स्थायी रूप से नहीं बस पाये हैं। जब भी उन्हें मौका मिलता है वह अपने घरों पर और परिवारों में जाते रहते हैं। यह खेदजनक तथ्य है कि इन उद्योगों और खानों के प्रचुर लाभ का एक प्रतिशत अंश भी ग्राम-कल्याण कार्यों या पुनर्निर्माण पर व्यय नहीं होता। टाटा अवश्य इसका अपवाद हैं। छोटा नागपुर में खानों की कम्पनियों ने पिछले दशकों में क़बीली श्रम से असाधारण मुनाफ़ा कमाया है किन्तु श्रमिकों के लिए उन्होंने एक कुँए या स्कूल तक का निर्माण नहीं किया, डाक्टरी सहायता, सफ़ाई और स्वास्थ्य-सेवाओं का तो ज़िक्र ही क्या? क़बीली संस्कृति के प्रति एक विनिहित दृष्टिकोण होने के बावजूद पर्याप्त निन्दित मिशनरियों को ही क़बीली कल्याण या पुनर्वासन से कार्यों में प्रथम स्थान मिलेगा। भारत में हम लोगों की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि हम अधिक से अधिक लें और कम से कम दें। उदाहरण के लिए हम ज़मीन से अधिक से अधिक लेते रहे हैं लेकिन हमने उसकी शक्ति को बढ़ाने और उसके नष्ट गुणों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया है। यही बात उद्योगों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है उद्योगपति अपने मूल निवास-स्थानों में अवश्य

धर्म-शालाओं और अन्य कल्याणकार्यों के लिए दान कर रहे हैं, पर श्रमिकों के लिए नहीं। उनके दान का मुख्य उद्देश्य इस जन्म में न सही तो अगले जन्म में अपने पापों को धोना है।

अंत में हम इतना ही कह सकते हैं कि हमें परिवर्तनशील सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के प्रसंग में क़बीली भारत की समस्याओं को समझना चाहिए। क़बीली जीवन की असुविधाओं और कष्टों को क़बीली गति-शास्त्र की जानकारी और अन्तःदृष्टि से सुलझाने का प्रयास करना है।

अध्याय ९

क़बीली आर्थिक संगठन

क़बीली मानव मुख्यतः प्रकृति की शक्तियों और प्राकृतिक धन, फल-फूल, पशु-पक्षी, पहाड़ और घाटी, नदियों और जंगलों आदि पर निर्भर हैं। उसके सामाजिक जीवन का विधान वातावरण द्वारा निर्देशित होता है। वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से ही अपने उपकरणों का निर्माण करता है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए औजारों का प्रयोग करता है किन्तु वह आधुनिक मनुष्य की भाँति अपने यंत्रों का दास नहीं है। उसकी आय दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने का साधन न होकर समूह की सामाजिक आवश्यकताओं और साधनों के बीच एक समायोजन (Adjustment) स्थापित करने का प्रयास है। उसकी अतिरिक्त उपज सहभोजों और उत्सवों पर व्यय होती है और जो सबसे अधिक आतिथ्य प्रदान करता है वही नेता माना जाता है। सामाजिक रीति का प्रेरक तत्त्व सम्मान प्राप्त करने की बलवती इच्छा है। उनके समाज में सम्पत्तिशाली व्यक्ति नेतावाद को प्राप्त नहीं करते; प्रायः वह सम्पत्तिविहीन होते हैं। उनका कार्य क़बीली जनता की संकट से रक्षा करना, उन्हें आनेवाले संकटों या विपदाओं से सावधान करना, खाद्य-पूर्त्ति के नये साधनों को प्रस्तुत करना तथा स्थानीय प्राप्त साधनों को पूर्णतया उपयोग में लाने का आयोजन करना होता है। प्रायः परिवार का स्वार्थ सम्बन्धी समूह के स्वार्थ के अधीन होता है क्योंकि परिवार और शक्तियों को क्षुधा से बचाने और उनकी रक्षा के दायित्व का भार सम्बन्धी-समूह पर ही होता है। एक प्रकार की सामाजिक एकता व्यवहार में लाई जाती है जो कि कभी कभी आदिम संस्कृति को एक आणविक रूप प्रदान करती है। निःन्सदेह यह सब तत्त्व आदिम संस्कृतियों की उनके वर्तमान रूप से भिन्नता प्रकट करते हैं। किन्तु ये उन बुनियादी भिन्नताओं को प्रकट नहीं करते जो कि मनुष्य और पशु के बीच में विद्यमान हैं। जैसा कि थर्नवाल्ड ने कहा है—प्रगति एकमार्गीय नहीं है। विकासवाद एक संचयात्मक प्रक्रिया है जो कि विभिन्न स्तरों और संख्या के समाजों में, जिनकी कि अपनी निजी जीवन रीति है, सक्रिय है। जहाँ एक ओर पूँजीवाद का समर्थन किया जा सकता है वहाँ दूसरी ओर अक्षमता और अपव्ययता का भी। वस्तुओं की अदल-बदल और विनिमय के आदिम साधन उन्हीं उद्देश्यों की पूर्त्ति करते हैं जिनकी पूर्त्ति आज की

अति विकसित विनिमय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारों द्वारा करती है। यदि आदिम समूह को उस जीविका के प्राकृतिक साधनों से वंचित कर दिया जाय, उदाहरण के लिए यदि शिकारियों और लकड़हारों से जंगल छीन लिये जायँ, तो पूर्व अनुभव पर आधारित उनकी विनिमय और वितरण व्यवस्था तत्काल छिन्न-भिन्न हो जायगी और उन्हें एक नई व्यवस्था निर्मित करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

वे संथाल और मुंडा जो कि कुछ समय पहले तक खाद्य पदार्थों के संचयकर्त्ता और शिकारी थे, अब औद्योगिक अर्थव्यवस्था के चक्रव्यूह में प्रवेश कर गये हैं। वह नागरी-वातावरण में रहते हैं, बाज़ारों में प्राप्त भोजन खाते हैं, ज़ेवरों और नाना प्रकार की फुटकर वस्तुओं पर धन-व्यय करते हैं, और तो और, वह प्रदर्शनों और हड़तालों तक में भाग लेते हैं, नारे लगाते हैं और अपने में से ही बहुत से नेता पैदा कर रहे हैं। जबकि घर पर उनके सम्बन्धी अपरिचित को देख कर दूर भागते हैं, कीड़े-मकोड़े, मेढ़क और रेंगनेवाले जन्तु को खाने में नहीं हिचकते, नंगे रहते या अत्यल्प वस्त्र धारण करते हैं, और जंगल की प्रेतात्मा और पुरखों की साया के लिए मुर्गियों, कबूतरों और बकरों की बलि चढ़ाते हैं तथा नाना प्रकार के निषेध और विचित्र सामाजिक मर्यादाओं का पालन करते हैं। उनके उन्नत सहवासी अपने पुराने सम्बन्धियों के व्यवहार को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और उनसे क़बीली सम्बन्ध त्यागने तक में नहीं झिझकते। भूमि और सामूहिक कृषि की सामुदायिक अर्थव्यवस्था जो विनाश और भूख से उसकी रक्षा कर रही थी उन्हें निरर्थक और झंझटपूर्ण प्रतीत होती है। मुद्रा अर्थ-व्यवस्था में आस्था होने के कारण उनमें एक प्रकार का अनुत्तरदायित्व आ जाता है, जो उन्हें क़बीले के बन्धन से मुक्त करता है, स्वतंत्र और दूरस्थ बनाता है। परन्तु उच्च स्तर के जीवन के ये अवसर धन के लिए काम करने की प्रेरणा देते हैं और वह शीघ्र ही अपने आर्थिक वातावरण से मेल बैठा लेते हैं।

आदिम समाज ने भौतिक आवश्यकताओं और वातावरण की क्षमता के बीच एक समायोजन स्थापित करने की चेष्टा की है। चार कारक इस समायोजन को प्रभावित करते हैं :—

(१) सामाजिक समूहों का आकार

(२) समूह की भौतिक आवश्यकताएँ

(३) प्राप्त साधन

(४) कुशलता की यात्रा जिसके द्वारा इन साधनों का उपयोग किया जा सकता है। एक समूह की क्या भौतिक आवश्यकताएँ होंगी यह न तो मूलतः प्राप्त साधनों पर अवलम्बित हैं न ही सदा सामाजिक समूह के आकार द्वारा निर्णीत होते हैं। इस प्रकार के प्रश्न जैसे भौतिक आवश्यकताएँ क्या हैं, उन्हें किस प्रकार संतुष्ट किया जाना चाहिए और किसके लाभ के लिए समायोजना स्थापित

की जानी चाहिए, प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट होते हैं। शिकार की खोज शिकारियों को एक जंगल से दूसरे जंगल तक ले जाती है और इसी प्रकार संचयकर्त्ताओं को कन्द, मूल तथा फलों के संग्रह के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकना पड़ता है। उनमें कोई स्थाई और स्थिर उत्पादन का संगठन नहीं पाया जाता। भोजन उपलब्धि की खोज कुछ परिवारों को सहयोग द्वारा एक ही प्रकार के आर्थिक जीवन के लिए बाध्य कर देती हैं और सामूहिक एकता और पारस्परिक कर्त्तव्य-भावना सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखती है। भोजन सामग्री उत्पादन की इच्छा सामान्यतः समूह परिवार या कई सम्मिलित परिवारों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति से आगे नहीं बढ़ती और इसीलिए आदिम समाज में प्रायः प्रतियोगिता का अभाव पाया आता है। फिर भी समूहों और व्यक्तियों के बीच स्वार्थों का संघर्ष या आपसी मनमुटाव हो ही जाता है और शिकारी समूहों तक में विभिन्न परिवारों के बीच शिकारी क्षेत्र अथवा पेड़ों का आपसी बँटवारा पाया गया है, जिसकी परिणति समाप्ति या संक्रमण अन्य प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में होती है। भारत के अनेक क़बीली क्षेत्रों में महुआ एक ऐसी फ़सल है जिसका सब लोग समान रूप से उपयोग कर सकते हैं। क़बीली लोग उससे एक प्रकार की शराब बनाते हैं और उसके फूलों से टिकिए बनाते हैं। एक बस्ती के सब पेड़ प्रायः पड़ोस के विभिन्न परिवारों में बाँट दिए जाते हैं जिससे कि परिवारों या परिवारों के समूह में झगड़ा न हो। शिकारी-समूहों का सामाजिक संगठन आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं और खाद्य-उपलब्धि में व्यक्तियों के सहयोग द्वारा निर्मित होता है, और चूँकि यह सहयोग अस्थायी और कामचलाऊ होता है, इसलिए ये बस्तियाँ बिखरी हुई होती हैं और उनके आर्थिक संगठन में एकीकरण का अभाव पाया जाता है।

मयूरभंज, दालभूम (सिंहभूम) और बड़ाभूम (मानभूम) के दुर्गम पहाड़ी दुर्गों में रहने वाले पहाड़ी खड़िया बाहर के लोगों के अधिक सम्पर्क में नहीं आए हैं। जिस प्रदेश में वह रहते हैं वहाँ आराम के जीवन की अधिक गुंजाइश नहीं है और उन्हें निरन्तर खाद्यपूर्त्ति की समस्या का सामना करना पड़ता है। अपने सीमित साधनों से जीवनयापन के प्रयत्न में उन्होंने अपनी क्षमता और चातुर्य से या उत्पादन में सहायक औज़ारों, यंत्रों और प्रविधियों के अविष्कार से खाद्य-पूर्त्ति पर कुछ अधिकार प्राप्त किया है।

इन पहाड़ों में स्थित लोहे की खानों से उन्हें कच्चा माल मिल जाता है जिससे वे यंत्र और औज़ार बना सकते हैं जिनकी उन्हें शिकार खेलने, मछली पकड़ने, लकड़ी काटने, बरतन बनाने तथा लकड़ी के सामान बनाने और कंघे इत्यादि बनाने में ज़रूरत पड़ती है। वनस्पति पदार्थ तुम्बी तथा पेड़ों की छाल और पत्तियों से उनकी बहुत सी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं—वह उनके पानी और अनाज भर कर रखने के, धूप

और वर्षा से बचाव करने तथा रस्सियाँ बनाने के काम में आते हैं जो उनके काम-चलाऊ पत्तियों से बने झोंपड़े और सीढ़ियाँ जिनके द्वारा वे शहद इकट्ठा करते हैं बिछौने के बनाने के लिए भी उपयोगी होती हैं। बाँसों से वे घर के खम्भे बनाते हैं और उन्हें काट कर खरपच्चियों से चटाई, टोकरी, तथा बाढ़ बना लेते हैं।

पहाड़ी खड़िया लोगों ने अभी तक कृषि को पर्याप्त गम्भीरता से नहीं अपनाया है और उनमें से जो लोग आदिम 'झूम' कृषि करते भी हैं उससे उनका गुज़ारा नहीं हो पाता। शहद, फल और खाद्य कंद अभी भी उनके खेतों की अल्प उपज की कमी को पूरा करते हैं। पुरुषों को कभी-कभी सप्ताहों तक के लिए खाद्य-पूर्ति की खोज में जंगलों में जाना पड़ता है। उनकी अनुपस्थिति में स्त्रियाँ घर-बार तथा बाल-बच्चों की देख-रेख करती हैं। चावल उनका मुख्य भोजन हैं, किन्तु प्रत्येक खड़िया को रोज़ चावल नसीब नहीं होता है और बहुत से परिवारों को दिन में यदि एक बार भी चावल मिल सके तो वह अपने को भाग्यवान समझते हैं। प्रायः उन्हें कई-कई दिनों तक उबली हुई सब्ज़ियों, खाद्य-पत्तों और कंद-मूलों पर जीवित रहना पड़ता है। इसलिये चावल उनके लिए एक विलास की सामग्री बन गया है। उन खड़ियाओं को जो पहाड़ों की तलहटी में बसे समृद्ध गाँवों के पास रहते हैं दैनिक मज़दूरी का काम मिल जाता है, लेकिन उन्हें अपनी मज़दूरी प्रायः अनाज के रूप में मिलती है। चावल या चूड़ा मजूरी के रूप में दिया जाता है और आज भी पहाड़ी खड़िया नक़द भुगतान से इसे कहीं ज्यादा पसन्द करते हैं।

पहाड़ी खड़िया चिड़िया पकड़ते या फँसाते हैं। वह उन्हें खाते हैं, बेचते हैं या चावल सब्ज़ी और अन्य खाद्य-सामग्री से उनकी बदली कर लेते हैं। जिन चीज़ों को वह दूसरों को बेच सकते हैं, उनके मूल्य को आँकना उन्होंने सीख लिया है और इस प्रकार पहाड़ी खड़िया प्रायः आम, सिल्क के गुल्ले तथा विशिष्ट प्रकार के गोंद, जिनकी स्थानीय मांग है, बेचते पाये जाते हैं। झूम के खेतों में दो फसल नहीं उगाई जा सकतीं। प्रायः खड़िया लोग झूम के खेतों में एक प्रकार की दाल उगाते हैं जिसे वह रामकली या उड़द कलाई कहते हैं। बरसात के दिनों में जब उन्हें अपने झूम के खेतों पर काम नहीं रहता तो बहुत से लोग शहद, फल और कंद-मूल संग्रह करने के लिए जंगलों में चले जाते हैं और महीनों तक खड़िया बस्तियों में स्त्रियों का राज्य दिखाई देता है।

खड़िया बस्तियों का आकार उनकी सांस्कृतिक अवस्था के अनुसार बदलता रहता है। पहाड़ी खड़िया, पाँच से दस परिवारों के समूह में लगभग सौ गज या उससे कुछ अधिक फासले पर पहाड़ी की ढालों पर बसे, बिखरे हुए झोंपड़ों में रहते हैं। किन्तु अधिक उन्नत खड़िया स्थायी गाँवों में रहते हैं जहाँ पवित्र कुञ्जों, नृत्य स्थलों और कब्रिस्तानों की समुचित व्यवस्था होती है। ईसाई खड़ियाओं के गाँव साफ़ और

अधिक सुव्यवस्थित रूप से बसे हुए हैं। उनके घर भी अधिक मज़बूत बने होते हैं। पहाड़ी और ढेल्की खड़ियाओं में शयनागार बनाए जाते हैं जहाँ अविवाहित युवक और युवतियाँ पृथक्-पृथक् रहते हैं, किन्तु ईसाई गाँवों ने इस रिवाज़ को छोड़ दिया है।

प्रायः एक वर्गाकार घर जो कि सोने और खाना बनाने के कोठों में बँटा होता है, खड़िया परिवार की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करता है। घर बनाने का सामान स्थानीय रूप से उपलब्ध है। जहाँ कहीं भी ग्राम्य शयनागार विद्यमान है, वहाँ वह क़बीली यौवन के निवास का प्रदर्शनीय स्थान है और क़बीले के समस्त लोगों का, विशेषकर युवकों का, समस्त चातुर्य उसे रहने के लिए अधिक से अधिक आराम योग्य बनाने पर व्यय होता है। समृद्ध परिवार अपना घर बनाने में शयनागार की शैली का अनुकरण करते हैं। रसोई पूरे घर का एक हिस्सा भी हो सकती है और या जैसा कि ढेल्की खड़ियाओं में है, वह मुख्य घर के सामने भी बनाई जाती है। खड़ियाओं की गृह-निर्माण-कला छोटा नागपुर की क़बीली जनता के अन्य वर्गों से मिलती-जुलती है और बहुत ही सरल और अप्रदर्शनात्मक है। पहाड़ी खड़िया अभी भी लकड़ी की खरपची को रगड़ कर आग निकालते हैं और समृद्ध कृषक के लिए भी माचिस एक विलास की वस्तु है। एक लकड़ी के चपटे टुकड़े को जिसमें एक छेद कर लिया जाता है, पैरों से जोर से दबाकर उसमें एक गोल पतली लकड़ी को ज़ोर से घुमाया जाता है। उसकी रगड़ से लकड़ी के नीचे रक्खी सूखी पत्तियाँ आग पकड़ लेती हैं। बहुत से गाँवों में औज़ारों के लोहे के फलक बेचाने के लिए देहाती धौंकनियाँ हैं जिनकी बनावट छोटा नागपुर के लोहारों और अघरियों की धौंकनियों के सदृश है। खड़ियाओं की, जो आज भी शिकारी और संचयकर्त्ता हैं, अधिकांश खाद्यपूर्त्ति जंगल से ही पूरी होती है, किन्तु उनके भोजन पकाने की विधि, अन्य पड़ोसी क़बीलों से भिन्न है। वह कच्चा मांस नहीं खाते और क़बीलों के सभी वर्गों में गोमांस नापसन्द किया जाता है। वह नमक के बहुत शौकीन हैं और भोजन के साथ वह उसका प्रचुर मात्रा में सेवन करते हैं। मांस को नमक लगा कर सुखा दिया जाता है, सब्जियाँ नमक के पानी में उबाली जाती हैं और खड़ियों के कुछ उन्नत वर्गों ने तो प्याज़, हल्दी और नमक मिलाकर सब्जियाँ, दाल और मांस भी बनाना सीख लिया है। नमक खाने की यह बहुतायत किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है। अतः आदिम समाज में पोषण के ऐसे पहलुओं की सावधानी से जाँच करने की ज़रूरत है।

खड़िया लोगों ने भोजन के लिए सब प्रकार की पत्तियों और कंद-मूलों पर परीक्षण किए हैं और अनेक प्रकार के पत्तों और फलों के लिए खाद पैदा कर लिया है। उन्हें वह पानी में उबालते हैं या उबलते हुए चावल के माँड़ में छोड़कर तैयार करते हैं। ऐसे भोजन की पोषण-शक्ति हमें अभी तक ज्ञात नहीं है, पर ऐसा लगता

है कि खड़िया लोगों के वानस्पतिक भोजन, विशेष कर पत्तियों और कंदमूलों के विशेष प्रयोग करने का एक कारण उनके जंगलों में जन्तुओं की कमी और मांस आदि खाद्य पदार्थों के मिलने की अस्थिरता है। खड़िया लोगों के अनेक वर्गों में फूलों की टिकिया बहुत लोकप्रिय हैं। वह प्रायः महुआ, सरगूजा और तिल के फूलों को पीस कर मिट्टी के बर्तन में भून कर तैयार की जाती है। फल और मूल साधारण रोगों की औषधि तथा रोगी के भोजन के लिए भी प्रयोग में लाए जाते हैं। जामुन के रस में खमीर उठाया जाता है और महीनों तक रक्खा जाता है और उसका स्वाद सिरके जैसा होता है। चावल में चटनी के लिए इमली का प्रयोग किया जाता है। अधिकांश अन्य मुंडा क़बीलों की भाँति खड़िया भी मांस को छोटे टुकड़ों में काट, पत्तियों में लपेट आग में सेकते हैं और उसे एक स्वादिष्ट भोजन के रूप में खाते हैं। खड़ियाओं के के दूध और ढेल्की जैसे उन्नत वर्ग अब नमकीन और मसालेदार उबले मांस को पसन्द करते हैं; यद्यपि मसालों में वह केवल पिसी हुई हल्दी और काली मिर्च का ही प्रयोग करते हैं।

अन्य मुंडा क़बीलों की ही भाँति खड़िया भी ख़मीर उठा कर एक प्रकार की चावल की शराब बनाते हैं। अनेक भागों में अधिक नशीली और परिणामतः अधिक विस्तृत करनेवाली, खींची हुई शराब बहुत लोकप्रिय है। आबकारी ठेकेदारों द्वारा महुआ से शराब खींची जा रही है और इस प्रकार तैयार किया हुआ अर्क घर की बनी हुई ख़मीरी शराब का स्थान ले रहा है। चावल की शराब समस्त पारम्परिक अनुष्ठानों के सहित तैयार की जाती है और उसे प्रयोग में लाने से पहले उसकी कुछ बूँदें पूर्वज प्रेतात्माओं को चढ़ानी होती हैं। सदियों के अनुभव से खड़िया लोगों ने नाना प्रकार की पत्तियों और जड़ों के ख़मीरी गुणों को जान लिया है और जो लोग इन्हें जानते हैं वह अपने ज्ञान को अपने ही तक सीमित रखते हैं और प्रत्येक घर इस जीवनदायक पेय को तैयार करने की क्षमता नहीं रखता।

कूकी

आसाम के लुशाई पहाड़ में बसने वाले मंगोलीय-क़बीले 'कूकी' के उदाहरण से इसे भली भाँति समझा जा सकता है, कि मनुष्य किस प्रकार अपने निवास-स्थान से समायोजन स्थापित करता है या वातावरण द्वारा सांस्कृतिक प्रगति किस प्रकार प्रभावित होती है।

कूकियों के विभिन्न कुल जैसे फनाई, पैहट और थाडन सभी पर, लुशाई प्रभाव व्याप्त है और कुछ सालों बाद इनमें और लुशाइयों में भेद करना प्रायः कठिन हो जायगा। अधिकांश कूकियों ने उन लुशाइयों के आचार-व्यवहार और रिवाजों को ग्रहण किया है जिन्होंने हाल में अन्य कूकी-क़बीलों को जीता है। यद्यपि विभिन्न कुलों द्वारा

बोली जाने वाली मुक्त बोलियों के चिह्न अभी भी बाकी हैं, तथापि लुशाइयों में आत्मसात् होने की प्रक्रिया अल्पाधिक रूप में पूर्ण हो चुकी है।

बाँस और बेंत के बने हुए चार-पाँच झोंपड़ों की जंगल में स्थित छोटी बस्तियाँ कूकी गाँव का निर्माण करती हैं। कूकी स्वभाव से ख़ानाबदोश हैं। इनकी यह विचित्र आवारागर्दी की वृत्ति, यदि नियंत्रित न हो तो गाँव को पृथक् घटौंडो में परिणत कर दे। मणीपुर के जंगलों में ऐसा ही हुआ है। वहाँ घने जंगलों के बीच अकेले घर नज़र आते हैं और एक घर से दूसरे घर का फ़ासला मीलों तक का हो सकता है। इसी आवारागर्दी की प्रवृत्ति का प्रदर्शन इस रिवाज़ में भी है कि जैसे ही प्रत्येक सरदार का लड़का विवाह के योग्य होता है वैसे ही उसके पिता अपने खर्च से उसे एक पत्नी तथा घर-गृहस्थी की कुछ चीज़ें दे कर एक अलग गाँव में रहने के लिए भेज देता है। उसके बाद से वह अपने गाँव में एक स्वतंत्र सरदार की तरह शासन करता है और उसकी सफलता उसकी अपनी योग्यता के अनुसार होती है। वह अपने पिता को किसी प्रकार का नज़राना नहीं देता किन्तु पिता का पड़ोसी सरदारों से झगड़ा होने पर उससे यह आशा की जाती है कि वह अपने पिता की सहायता करे। किन्तु जब पिता अधिक काल तक जीवित रहते थे तो उनके पुत्रों के लिए इतनी आधीनता को भी अस्वीकार कर देना साधारण सी बात थी। उनके यहाँ सबसे छोटा पुत्र गाँव में तो रहता ही है साथ ही साथ पिता की समस्त जायदाद का उत्तराधिकारी होता है। आर्थिक परिस्थितियाँ सामाजिक आदतों का निर्माण करती हैं और आज नये गाँवों को स्थापित करने की कठिनाई के कारण उत्तराधिकार सम्बन्धी क़बीली विधान में संशोधन हो गया है और सबसे छोटे पुत्र की जगह जायदाद पाने का अधिकार सबसे बड़े पुत्र को प्राप्त हो गया है।

भारत और अन्य स्थानों के आदिम क़बीलों की भाँति कूकी कुल भी अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में पूर्णतः आत्म-निर्भर हैं। लुशाई और अन्य कूकी कुलों की वेश-भूषा पर्याप्त सादी है। पुरुष सात फ़ीट लम्बा और तीन फ़ीट चौड़ा कपड़ा धारण करते हैं और बहुत से एक सफेद कोट पहनते हैं जिसकी अस्तीनों पर, सफेद या कभी-कभी लाल धागे को बुन कर सजावट की गई होती है। मुखिया और सर्वसाधारण की वेशभूषा में केवल इतना अन्तर होता है कि मुखिया सिर पर एक पगड़ी भी बाँधता है जिसमें कौए का पंख लगा रहता है। स्त्रियों को भी वस्त्रों का अधिक शौक नहीं है। वह अपनी कमर भर ढकने लायक कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा दोहरा करके पहनती हैं। अन्तस्थित सुदूर भागों में वे कमर के ऊपर पर्याप्त कपड़ा भी नहीं पहनतीं और केवल गुप्तांगों को अपनी कमर से बँधी डोरी में एक चिथड़ा लटका कर ढँकती है, किन्तु उनके लिए अपनी छातियों को ढकना आवश्यक है। कूकी लड़कियों को प्रायः अपने शरीर पर एक कपड़ा लपेटे घूमते देखा जा सकता है। लुशाई और

अन्य कूकी क़बीलों को गुदना गुदवाने का अधिक शौक नहीं है और यदि गुदवाते भी हैं तो उनके डिजाइन अत्यन्त ही सादे होते हैं। गुदने के चिह्न प्रायः अविवाहित दिनों के स्वच्छन्द प्रेम सम्बन्धों के स्मृति-चिह्न होते हैं।

केवल कानों के आभूषणों को छोड़, जो केवल स्त्रियों द्वारा पहने जाते हैं, स्त्री और पुरुष एक ही प्रकार के आभूषण पहनते हैं और कभी-कभी चेहरे पर बालों के अभाव और सिर पर एक ही प्रकार से बालों को बाँधने के कारण स्त्री और पुरुष में भेद करना कठिन हो जाता है। तम्बाकू पीने का बहुत रिवाज़ है और स्त्री एवं पुरुष दोनों ही अत्यधिक धूम्रपान करते हैं। स्त्री और पुरुष भिन्न प्रकार की चिल्में इस्तेमाल करते हैं जिन्हें वे स्वयं ही चिन पहाड़ियों में पाये जाने वाले एक विशेष प्रकार के बाँस से तैयार करते हैं। लुशाई और कूकियों ने बन्दूक का प्रयोग सीख लिया है किन्तु सौ साल पहले तीर कमान तथा एक विशेष प्रकार का भाला, जिसका फलक लम्बा और हीरे के आकार का होता था, और बर्मियों से मिलता-जुलत डावो ही उनके एक मात्र हथियार थे। योद्धा भैंसे की खाल से बनी ढाल का, जिसके ऊपर के दो कोने बकरे के रंगे हुए लाल बालों से सजे होते हैं, प्रयोग करते हैं। लोहे के भालों और डावो के अतिरिक्त बाँस के भाले भी इस्तेमाल किए जाते हैं। तीरों में लोहे की कटीली नोंकें होती हैं और उन्हें रखने के लिए बाँस के बने तरकस होते हैं जिन पर चमड़े का ढक्कन लगा रहता है।

लुशाई कूकियों के आर्थिक जीवन का विवरण देते समय हम देखते हैं कि उनकी अर्थ-व्यवस्था और कौशल तथा निवास-स्थान के बीच अद्भुत अनुकूलन विद्यमान है संस्कृति और निवास स्थान अन्तर-निर्भर हैं और सामाजिक समूह जितना ही अधिक आदिम होता है उसमें यह अन्तर-निर्भरता उतनी ही अधिक पाई जाती है। निम्न संस्कृतियों में पाये जाने वाले औज़ारों, बरतनों, घटों और अधिकांश भौतिक उपकरणों का वहाँ पर प्राप्त साधनों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम कूकियों के आर्थिक जीवन का सर्वेक्षण करते हैं तब हम उनके भौतिक जीवन में बाँस की प्रभुता की उपेक्षा नहीं कर सकते।

लुशाइयों का एक वर्ग दारलुंग प्लौंग नदी से निकली एक छोटी धारा के किनारे बस गया है। यह धारा जाड़ों में प्रायः सूख जाती है जबकि बरसात में इसे पार करना प्रायः असम्भव होता है। इन स्थानों में वर्षा-ऋतु साल में आठ महीने से भी अधिक समय तक रहती है और इस अवधि के अधिकांश भागों में दारलुंग प्रायः अन्य लोगों से बिल्कुल अलग हो जाते हैं। इसीलिए उन्हें खुले मौसम के चार-पाँच महीनों में जबकि वह आसानी से इधर-उधर जा सकते हैं, अपने दैनिक उपयोग के लिए अपरिहार्य वस्तुओं को जुटाना पड़ता है। विशेष आवश्यकता पड़ने पर वह बरसात में भी आ जा सकते हैं पर उस समय बाँसों के उन बुने जंगलों से गुज़रने में बड़ा जोखिम रहता है

क्योंकि वह कीड़े-मकोड़ों, साँपों और जोंकों से भरपूर रहते हैं और कूकी भी जोंकों के विषैले दंश से डरते हैं, क्योंकि उससे उन्हें दुःसाध्य ज्वर होने की आशंका रहती है।

कूकियों द्वारा बसे हुए जंगल घने बाँसों से ढके हुए हैं। बाँस के अतिरिक्त अन्य कोई पेड़ कठिनाई से ही पाये जाते हैं। इन बाँसों की झाड़ियाँ इतनी घनी हैं कि दिन में भी उनमें से निकलना अत्यन्त दुष्कर है। जब तक कि आदमी उस भाग से पूर्णतः परिचित न हो उसके लिए रास्ता पाना सरल नहीं क्योंकि कभी कभी कूकियों को पानी की धाराओं और नालों को पार करना पड़ता है और तब उनके पैरों के निशान नहीं मिलते। आसाम अपने जंगली हाथियों के झुण्डों के लिए बदनाम है क्योंकि यह झुण्ड अनेक बार, भीषण विनाश करते हैं। हर साल बड़ी संख्या में इन हाथियों को पकड़ा और सधाया जाता है और अच्छे किसानों तक के पास भी अपने हाथी हैं जिन्हें वह जंगल के अन्दर से लकड़ी ढोने के काम में लाते हैं। चीते और तेंदुओं का तो अभाव है, किन्तु हिरण, विसन और जंगली भैंसे अत्यधिक संख्या में पाये जाते हैं। कूकी जंगली भालुओं और सुअरों का शिकार भी करते हैं, कुत्ते और सुअर पाले जाते हैं। कुत्ते रखवाली के और सुअर खाने के काम में लाए जाते हैं। अभाव के समय कुत्ते का मांस भी खाया जाता है। जब कभी उन्हें प्रेतात्माओं या देवताओं की मनौती करनी होती है तो वह सूअरों और मुर्गियों की या कभी-कभी भैंसों की भी, जिन्हें वह पालते भी हैं, बलि देते हैं। कूकी अपने रहने के झोपड़ों में इन पशुओं को रखते हैं। बकरियाँ, बत्तख और मुर्गियाँ, भोजन तथा प्राकृतिक शक्तियों की मनौती के विभिन्न बलि देने के लिए, जिनकी सहायता रोग, महामारी और कृषि सम्बन्धी विपदाओं से बचने के लिए आवश्यक है, पाली जाती हैं।

खानाबदोश कूकी जंगल में रहने के लिए कुछ ही घंटों में एक बहुत हल्का सा घर बना लेता है जिसकी दीवारें बाँस की चटाई की होती हैं और वर्षा से बचने के लिए जिसकी छत पत्तों से ढँक दी जाती है। जहाँ कूकी स्थायी रूप से रहते हैं, वहाँ बहुत मजबूत घर बनाते हैं जिनकी लम्बाई पचास से साठ फ़ीट, चौड़ाई पन्द्रह-बीस फ़ीट और ऊँचाई सात से दस फ़ीट होती है। यह घर लम्बे बाँसों की बल्लियों पर बनाये जाते हैं। इनका निचला आधा हिस्सा ढके जाने के बाद पशुओं और सुअरों के रहने के काम में आता है। हर घर के प्रवेश-द्वार के दोनों ओर बाँस के दर्बे रक्खे जाते हैं जिनमें मुर्गियाँ और कबूतर पाले जाते है। कूकी स्त्रियाँ सवेरे उठती हैं और अपनी टोकरियों में बाँस की खाली नलकियाँ, जो कि पानी भरकर रखने के काम आती हैं, लेकर पानी के सोते की ओर, जोकि कहीं निचाई पर होता है, सूर्य निकलने से पहले ही पहुँच जाती हैं। इन नलकियों में पानी भरकर वह अपनी टोकरियों का भार ले, पुनः अपने घर लौट आती हैं। वहाँ पानी की कमी होने के कारण उनका इसमें काफ़ी समय लग जाता है।

कूकियों की अधिकांश आवश्यकताएँ बाँसों के जंगलों द्वारा पूरी होती हैं। टोकरियाँ, चटाइयाँ, तम्बाकू पीने की चिलमें, मछली पकड़ने के जाल, पशु पकड़ने के फंदे, बुनने के औज़ार, और यहाँ तक कि चूल्हे भी, बाँस के बनाएँ जाते हैं। बाँस की पत्तियाँ घर की छत बनाने और धूप तथा वर्षा से रक्षा करने के काम आती हैं। प्रारम्भिक समय में वह उन्हें अपने कटि-प्रदेश को चारों ओर से ढकने के काम में भी लाते थे। बाँस के हरे-कच्चे अंकुर स्वादिष्ट खाद्य के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। इन्हें वह चावल के साथ उबाल लेते हैं। घर के अतिरिक्त वाद्य-यंत्र भी बाँस के बने होते हैं। संक्षेप में बाँस कूकियों की भौतिक संस्कृति की धुरी है। अन्य कूकी क़बीलों की भाँति दारलुंग भी झूम द्वारा कृषि करते हैं। वह आग जला कर जंगल के एक हिस्से को साफ करते हैं, फिर वहाँ साल दो साल खेती कर उसे छोड़ अन्य हिस्से को साफ करते हैं, और उसी प्रकार उनका क्रम चलता रहता है। जब वह झूम के लिए जंगल साफ करते हैं तो खेत के बीच में एक पेड़ प्रेतात्मा के निवास के लिए सुरक्षित छोड़ देते हैं। वह झुलसा हुआ टेढ़ा-मेढ़ा एकाकी ठूँठ पेड़ वस्तुतः इस बात का आभास देता है कि इसे किसी प्रेतात्मा ने अपने रहने के लिए चुना है। जब खेती कटने का समय आता है तो वह उस पेड़ में बसने वाली प्रेतात्मा के लिए उचित बलि देने और प्रार्थनाएँ करने का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं, अन्यथा उनका विश्वास है कि उनकी फसल अच्छी न होगी। जहाँ कूकी पहाड़ों में रहते हैं वहाँ उन्होंने सीढ़ीनुमा कृषि को ग्रहण नहीं किया है क्योंकि उनका कहना है कि ऐसा करने से पहले उन्हें उचित अनुष्ठानों और बलियों को जानना चाहिए। अतएव कूकियों ने सिंचाई द्वारा चावल पैदा करना नहीं सीखा है और वे केवल झूम कृषि ही जानते हैं। कूकी देश के कुछ भागों में जल द्वारा कृषि सिखाने के लिए संथाल कुलियों को लाया गया है और यह आशा की जाती है कि वह क्रमशः कृषि के इस नये तरीके को स्वीकार करने में अपने अन्य विश्वासों पर विजय पा लेंगे।

झूम के बाद खेत तैयार होने पर बीज बो दिए जाते हैं और जब मानसून वर्षा पड़नी शुरु होती है तो कूकी स्वयं उसको वर्षा में पूरी तरह भिगो लेते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इस तरह का भीगना फसल के लिए लाभदायक होता है। यद्यपि कूकी अपने समस्त नृत्य और बलि द्वारा बहुत सावधानी बरतते हैं तब भी उनका आर्थिक भविष्य अधिक आशाजनक नहीं है। उन्हें जीवन में कोई विशेष आकांक्षा नहीं है और मन में कल की कोई चिन्ता नहीं है। जब फसल कटने का समय आता है और उनके खेत धान की पकी बालों से भरपूर होते हैं तो उनकी समझ में नहीं आता कि इतनी उपज का क्या करें। वह दो फसलों के बीच की अवधि में उतनी भर ही उपज घर ले जाते हैं जितनी उन्हें अपने खाने के लिए आवश्यकता होती है। बाकी फसल पालतू जानवरों के लिए छोड़ दी जाती है। ये शराब के अनन्य

प्रेमी हैं। इसलिए कुछ ही महीने बीतते-बीतते उस अनाज का बड़ा अंश शराब बनाने में या भट्टी की देशी शराब से विनिमय करने में व्यय हो जाता है।

खड़िया और दारलुंग कूकी दोनों ही प्रायः सभ्यता से दूर हैं। दोनों ही अपने निवास से अत्यन्त प्रभावित हैं और अपने वातावरण की शक्तियों से आश्चर्यजनक समायोजन प्रदर्शित करते हैं। जब कि बाँस को कूकियों को भोजन, वस्त्र और साया देने का बड़ा श्रेय है, साल के जंगल खड़ियाओं की अधिकांश आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। कूकियों के आर्थिक जीवन की धुरी बाँस है, खड़ियों के आर्थिक जीवन की धुरी साल है। इसलिए कूकी बाँस के जंगलों को पवित्र मानते हैं और समझते हैं कि उनके देवता उनमें वास करते हैं और खड़ियाओं के लिए साल के पेड़ों के फूल धार्मिक महत्त्व रखते हैं।

बस्तर के गोंड

मध्यप्रदेश के दक्षिण का इलाक़ा बस्तर कहलाता है। यहाँ पर आदिवासियों की बड़ी संख्या निवास करती है। इसमें से सभी गोंड हैं। मरिया, मुरिया, परजा, भत्रा और गड़वा यहाँ के कुछ मुख्य क़बीली समूह हैं। बस्तर के अधिकांश क़बीली लोग (गाँव) आत्म-निर्भर हैं। एक या कुछ गाँवों को मिलाकर एक लोहार पटियार रहता है जो कि लोगों की लोहे की वस्तुओं की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। गाँवों की इस जनसंख्या में दस्तकार लोगों का कोई अपना पृथक् मूल नहीं है। वह सम्भवतः क़बीली लोगों में से ही भर्ती किए गये हैं। उदाहरण के लिए कोई मुरिया जो कि लोहा ढालने और लोहे का औज़ार बनाने में दक्ष था उसे लोहार का काम दे दिया गया और बाद में उसके वंशजों ने उस पेशे को अपना लिया, यही कार्यात्मक समूह लोहार कहलाने लगा। मरिया देश के लोहारों के शारीरिक चिह्न ही समान नहीं है प्रत्युत वह माडिया भाषा बोलते हैं और उनके गोत्रों के नाम भी मडियाओं के ही हैं और वह उनके साथ अन्तर्विवाह भी करते हैं। इसी प्रकार इस प्रदेश के अनेक अन्य क़बीलों के दस्तकार वर्ग का मूल क़बीली ही हैं और उनके अन्दर अभी भी नये लोग प्रवेश कर सकते हैं।

गंजाम एजेन्सी इलाक़े और मद्रास राज्य के विजगापट्टम जिले में बिखरे हुए सावरा लोगों में कुछ पेशेवर समूह हैं, जैसे कि अटीसी जो कि क़बीले के लिए कपड़ा बुनते हैं तथा कुंडल जो कि टोकरियाँ बनाते हैं और लोहार जो कि लोहे का काम करते हैं। यह सभी मूलतः सावरा हैं और अपने क़बीले में विवाह करते हैं। यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से इनमें तथा देश के अन्य भागों में बसे दस्तकार वर्गों में समानता है, इनमें से कुछ समूह किसी प्रकार स्वतंत्र हो गये हैं। यद्यपि अपने से बाहर विवाह करने पर कोई सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध नहीं है फिर भी वह प्रायः अपने समूह में ही

विवाह करते हैं। यह तथ्य जाति-प्रथा के मूल की ओर भी इंगित करता है। अपने वर्तमान रूप में जाति-प्रथा एक किन्तु वह मूलभूत गुण जिन्होंने इसके विकास और स्वामित्व को सहारा दिया, शायद सर्वाधिक रूप में अपने मूल में क़बीली ही थे। बस्तर-प्रदेश में मछली पकड़ कर जीवित रहने वाले कुरुख, धीवर या केवट, ऐसे ही उदाहरण हैं।

चित्रकोट के कुरुख शारीरिक दृष्टि से मरिया के समान हैं। अभी भी कुरुख ग़ैरकुरुखों से विवाह करते हैं। जंगली मरिया कन्यायें अभी भी कुरुखों को अपने पतिरूप में स्वीकार कर सकती हैं। बस्तर के सभी क़बीले और समूह खाली समय में या दिल वहलाने के लिए मछली पकड़ते हैं किन्तु कुरुखों द्वारा इसे एक स्थायी पेशे के रूप में ग्रहण करना और मछली पकड़ने के लिए बंशी का प्रयोग और उनके द्वारा खेती ने उनके और मडियाओं के बीच के सामाजिक अन्तर को विस्तृत कर दिया है। फिर भी यह कुरुख मरिया देश की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के लिए अनिवार्य हैं। वे नदियों और तालाबों से पकड़ी हुई मछलियों का, प्रथा द्वारा निश्चित दर पर, अनाज से अदल-बदल करते हैं।

बस्तर के रावतों के बारे में भी यही बात लागू होती है। वे समस्त देश में बिखरे हुए पाये जाते हैं और लोगों के पशुओं को चराना और उनकी देखभाल करना ही उनका पेशा है। प्रायः अनाज द्वारा ही उनकी सेवाओं का भुगतान किया जाता है किन्तु वह यात्रियों और प्रशासकीय अधिकारियों को दूध और दूध के बने हुए पदार्थ भी बेचते हैं। रावत भी क़बीली जनता से भर्ती हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके और उनके द्वारा सेवा की जाने वाली जनता के बीच शारीरिक अन्तर नहीं पाया जाता। माद्रिया देश के अन्दरूनी भाग में या अन्यत्र, जहाँ की जन संख्या विशुद्ध रूप में आदिवासी है, यात्रियों और राज्य के प्रशासकीय अधिकारियों के लिए घरेलू नौकरों की आवश्यकता अनुभव की गई और एक परिवार विशेष को चुन कर उसे राज्य द्वारा यज्ञोपवीत प्रदान कर दिया गया, ताकि वे आने-जाने वाली जनता के काम आ सकें। इस प्रकार अस्पृश्य आदिवासियों में स्पृश्य जाति पैदा की गई जो उन सब गांवों की सेवा करती है जहाँ पैकगुड़ी है या यदि उन्हें पूर्व सूचना मिल जाती है।

वस्तुतः बस्तर की जनता की भौतिक संस्कृति अत्यन्त ही सादी है और सांस्कृतिक मिश्रण के उपरान्त भी, जनता की आवश्यकताएँ विविध नहीं हैं। स्थानीय लोहार प्रायः हल का फल, कुल्हाड़ी या तीरों के फलक इत्यादि बनाते हैं जबकि हल, कुल्हाड़ियों के लिए लकड़ी के बेंट, तीर और कमान लोग स्वयं ही बना लेते हैं। स्त्रियों द्वारा धारण किए जाने वाले समस्त आभूषण अपने ही यहाँ के बने हुए नहीं होते। कुछ मनकों के हार तो विदेशी होते हैं और बाजूबन्द और चूड़ियाँ या तो फेरीवालों से या स्थानीय साप्ताहिक बाज़ारों से खरीदी जाती हैं। स्त्रियाँ, कौड़ियों और मनकों को स्वयं

ही मालाओं में गूँथ लेती हैं और प्रायः उन्हें स्थानीय प्राप्त देशी रंगों से रंग लेती हैं। कानों में विभिन्न प्रकार के आभूषण पहने जाते हैं। उनमें से अनेक जापान या जर्मनी के बने होते हैं किन्तु अभी भी कानों को छेद कर उन छेदों को ख़ूब बड़ा करने की प्रथा समाप्त नहीं हुई है।

भीतरी प्रदेश में गुदना गुदाने के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। विभिन्न प्रकार के गुदने और टोटमवाद और अन्य सामाजिक व्यवहारों के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध बताना कठिन है। यारिया और मुरियाओं को अपनी क्षमता में पूरा विश्वास है। हल्वा और टाकर प्रायः नहीं गुदवाते, किन्तु अन्य समस्त क़बीली समूह किसी न किसी प्रकार के गुदने का प्रयोग करते हैं। केशों को सुरुचि से सजाया जाता है और स्त्रियाँ अपने जूड़ों को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए उनमें श्वेत बाँस की कंघियाँ खोंस लेती हैं। वहीं की बनी आधी दर्जन या उससे भी अधिक कंघियाँ प्रायः कतारों में जूड़े में लगाई जाती हैं और उन्हें लड़कियाँ बहुत ही सँजो कर रखती हैं, क्योंकि यह कंघियाँ उनके गोतुल (युवागृह) के प्रेमी नवयुवकों द्वारा उपहार के रूप में दी गई होती हैं। जब तक कि लड़की किसी की पत्नी नहीं बनती इन कंघियों का एक लड़की के लिए विशेष आकर्षण है क्योंकि जब वह किसी की पत्नी बन जाती है, उसे अपने पति और प्रेमी द्वारा प्रदत्त केवल एक कंघी से ही संतुष्ट रहना पड़ता है। जैसे ही कोई लड़की स्थायी रूप से गोतुल छोड़ती है, और विवाह पर ही ऐसा होता है, तो वेश-विन्यास और सजावट के प्रति उसका शौक घट जाता है और क्रमशः उसके यौवन का आकर्षण भी घट जाता है और यह मातृत्व की भूमिका को ग्रहण करने के लिए यह सब स्वीकार करती है।

इस प्रदेश में कोई उल्लेखनीय उद्योग नहीं है। खेती करना और लकड़ी काटना यहाँ की जनता का मुख्य पेशा है। जंगली क़बीले अभी भी जंगलों के ख़ानाबदोश जीवन के अभ्यस्त हैं और अपने खाद्य संचय की कमी को वह पिछड़ी खेती द्वारा पूरा करते हैं। दुनिया में जहाँ भी अक्षुण्ण वन पाये जाते हैं, वहाँ कृषि का सामान्य तरीका डिप्पा (कूकी का भूम) ही प्रचलित होता है। इस कार्य के लिए भूमि का एक टुकड़ा चुन कर उसके पेड़ गिरा दिए जाते हैं और उनमें आग लगा दी जाती है। इस प्रकार जब खेत तैयार हो जाता है तो वह छोटे-छोटे गड्ढे बना कर उनमें सब प्रकार के बीज मिला कर बो देते हैं या जमीन की जुताई के लिए छोटे-छोटे हलों का प्रयोग करते हैं और बीज को हाथ से छिटका कर बो देते हैं। उसके बाद देवी माता और जंगल की अन्य छोटी देवियों तथा पूर्वजों की प्रेतात्माओं के लिए बलियाँ दी जाती हैं तथा उनके सम्मान में नृत्य का आयोजन किया जाता है। जब यह सब कार्य विधिवत् सम्पन्न हो जाये और उसमें कोई त्रुटि न रहे तो बहुत अच्छी या दुगनी फ़सल की आशा की जाती है। बीज बोने से पहले कुछ बीज देवी

माता को, जो कि फ़सल की देवी है, अर्पण कर दिया जाता है और बलि दिए गये पशु के रक्त में उन्हें भिगो दिया जाता है मानो कि उन्हें प्रजनन-क्षमता प्रदान की जा रही है।

जंगल से ढँकी हुई उन पहाड़ियों पर जो कि बहुत ढालू नहीं हैं एक प्रकार की सीढ़ीनुमा खेती की जाती है जिसे पेंडा कहते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में खेती का तरीका एक सा है। हर फ़सल के बाद को तीन साल के लिए भूमि को परती छोड़ दिया जाता है ताकि उस पर नयी वनस्पति उग सके। जहाँ पानी मिल सकता है वहाँ ऊँची सतह से कूल काट कर सिंचाई का प्रबन्ध किया जाता है या प्रायः लकड़ी के लट्ठे लगा कर पानी रोकने का प्रयास किया जाता है ताकि जमीन नम रह सके। फिर भी पौधों के उगने की विशेष अवस्थाओं में जब फसल पकने को होती है और उसके काटने का समय आ जाता है, बलि देने की आवश्यकताएँ होती हैं, नृत्यों का आयोजन किया जाता है और रात भर जग कर उनकी रखवाली की जाती है। यद्यपि उन प्रदेशों में स्थायी खेत बनाये गये हैं, सिंचाई और खाद की आवश्यक व्यवस्था नहीं है, फिर भी खेती के तरीके अन्य प्रदेशों के ही समान हैं। जहाँ पर खेती की नयी विधियों का प्रसार हो गया है और उनके द्वारा फ़सल अधिक अच्छी हुई है वहाँ बलि देना तथा अन्य जादू-मंतर के अनुष्ठान समाप्त हो गये हैं और उनका स्थान नई फ़सल के उपभोग के समय पर होनेवाली धन्यवाद की प्रथा ने ले लिया है। खाद्य-पूर्ति की सुरक्षा के साथ-साथ अधिक अवकाश मिला है तथा नये जीवन दर्शन ने उनकी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। इस प्रकार बहुत सी ऐसी आवश्यकताएँ जिनसे जंगली समूह अनभिज्ञ थे, वास्तविक बन गई हैं, और परिणामस्वरूप उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न भी होने लगा है, परन्तु अतृप्त आवश्यकताओं ने अपूर्ण इच्छाओं की भाँति सामाजिक असंतोष की सृष्टि की है। प्रथा का स्थान प्रतियोगिता ने ले लिया है। यद्यपि अभी तक उसका रूप बहुत उग्र नहीं है तथापि कुछ परिवारों की अधिक भूमि की भूख ने अधिक परिवारों को अपने जमे हुए खेतों से उखाड़ने को प्रेरित किया है। दूसरी ओर सामाजिक और आनुष्ठानिक आवश्यकताओं ने बहुतों को उच्च जातियों के चंगुल में फँसने पर बाध्य किया है। ये उच्च जातियाँ अपने फार्मों पर मज़दूरी के लिए इन भूमिहीन परिवारों की सेवाओं का शोषण करती हैं।

कुछ अवसरों पर आदिवासी श्रमिक को नक़द रुपये की विशेष आवश्यकता आ पड़ती है। ये आवश्यकताएँ कई प्रकार की हो सकती हैं; वैवाहिक अनुष्ठान को पूरा करने के लिए या यदि वह इस दायित्व से मुक्त होना चाहे कि वह अपनी लड़की का विवाह उस लड़की के मामा के लड़के से जो कि उसकी लड़की से विवाह करने का पूर्ण अधिकारी है, नहीं करेगा, तो लड़के को हरजाने के रूप में रुपया भरने के लिए या राज्य व ग्राम-पंचायत को किसी प्रकार का जुर्माना देने के लिए यदि वह इस

रुपये का प्रबन्ध अपनी दूसरे के नाम न हो सकनेवाली जमीन को या अपने थोड़े-बहुत व्यक्तिगत सामान को वेच कर नहीं करवाता, तो जिस स्वामी के यहाँ वह काम करता है उससे ऋण ले लेता है और ऋण का भुगतान मालिकों के खेत में कृषि-कार्य द्वारा करता है।

उन दिनों में, जब आदिवासी पास-पास बसे हुए क्षेत्रों में रहते थे और क़बीली संगठन एकीकृत और शक्तिशाली था, उक्त प्रकार की आवश्यकताएँ स्वेच्छापूर्ण चन्दे से पूरी होती थीं। इस प्रकार की रीति छोटा नागपुर के क़बीलों में पाई जाती है, वहाँ आज भी वधू-मूल्य के रूप में दिए जाने वाले पशु क़बीले या गाँव के समस्त लोग मिल कर जमा करते हैं। पड़ोस में उच्च सामाजिक समूहों के बस जाने से आदिवासी क़बीलों के सदस्यों का सम्पर्क उन समूहों के साथ फूल या अपने हाथ की बनाई हुई वस्तुएँ वेचने वालों, ढोल बजाने वालों, मज़दूरों या पालकी ले जाने वालों के रूप में ही होता है। यद्यपि गाँव के सामूहिक जीवन से स्वतंत्र हो कर रहने की सम्भावना ने क़बीली एकता को छिन्न-भिन्न किया है, लेकिन क़बीली पेशों से बिछुड़े हुए व्यक्तिगत परिवारों की निर्भरता स्पष्ट सम्मुख आई है और इसीलिए उनकी आर्थिक असहायता जातिवर्ग द्वारा शोषण का साधन बन गई है। इन लोगों में कृतज्ञता तथा ईमानदारी की भावना बहुत होती है, इसलिए यह जब तक मालिक का क़र्ज नहीं चुका देते तब तक उसकी नौकरी नहीं छोड़ते। अनेक बार उसका अर्थ जीवन-पर्यन्त दासता होती है। यदि पूरा क़र्ज अदा किए बिना ही आदमी बीच में मर जाता है तो उसके लड़के को इस भार को अपने कंधे पर लेना पड़ता है और स्वामी के परिवार में जीवन-दास का, जिसे वहाँ कबाड़ी भी कहते हैं, जीवन-यापन करना होता है। प्रायः स्वामी उसके अपने विवाह आदि के अवसर पर फिर उसे कुछ और रक़म उधार दे देता है और उसका क़र्ज बढ़ता ही जाता है और इस प्रकार कबाड़ी और उसकी संतान का भविष्य कई पुश्तों तक के लिए रेहन हो जाता है। स्वामी द्वारा लादी गई अन्यायपूर्ण शर्तें यहाँ तक कि निरन्तर दुर्व्यवहार और भर पेट भोजन का अभाव भी, कबाड़ी के मन में कोई विद्रोह पैदा नहीं करतीं और वह दार्शनिक धैर्य से अपने भाग्य को स्वीकार करता है। जब तक कि वह अपना ऋण नहीं चुका देता वह अपने साहूकार की सेवा करता है और इस बीच में साहूकार से यह आशा की जाती है कि कबाड़ी और उसके परिवार को भूखा मरने से बचाये और इसके लिए वह कबाड़ी को कुछ निश्चित पारिश्रमिक देता है। राज्य की विभिन्न तहसीलों में इस पारिश्रमिक की दर भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

कबाड़ी के अतिरिक्त बस्तर में अनेक प्रकार के सेवक मिलते हैं। कृषक की माँग तथा प्रथा द्वारा निर्धारित सेवा की शर्त्त और परिश्रम के अनुसार स्वामी और सेवक का पारस्परिक सम्बन्ध बदलता रहता है। उदाहरण के लिए कोंड गाँव और बीजापुर तहसीलों में खेतों पर काम करने वाले नौकर अपने स्वामी से कभी भी रुपया

उधार नहीं लेते। बीजापुर में कृषि-वर्ष में काम करने के वादे पर ये नौकर तीन या चार रुपये पेशगी ले लेते हैं। प्रायः नौकर को साल भर में चार रुपये का धान या एक सोली चावल, रोज थोड़ा नमक, मिर्च और तम्बाकू, त्योहार के मौक़े पर शराब के लिए आना-दो-आना और जाड़े में दो कपड़े मिलते हैं, कोंडा तहसील में जहाँ पर कि ज्वार की फ़सल होती है, नौकर रखने की ऐसी कोई प्रथा नहीं है भूमिहीन प्रायः भूमिवानों की मदद करते हैं और भूमिवान खलिहान उठने के समय इसका ध्यान रखते हुए उन्हें कुछ दे देते हैं। यहाँ एक अन्य व्यवस्था भी है जिसे पेटपोसा कहते हैं, इसके अन्तर्गत एक या अनेक व्यक्ति कठिनाई में अपने रिश्तेदारों के यहाँ, बिना किसी सेवा और पारिश्रमिक के प्रतिदान की शर्त के, परिवार के समस्त आर्थिक कार्यों में सहायता पहुँचाते हुए स्थायी रूप से अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ रह सकते हैं।

यह क़बाड़ी व्यवस्था अधिकांश रूप से नई बस्तियों में पाई जाती है और जहाँ आदिवासी संगठित समूहों में रहते हैं या जहाँ पादरी लोग अधिक नहीं घुस पाये हैं, उन क्षेत्रों में यह प्रथा कम प्रचलित है। यद्यपि कबाड़ी का पारिश्रमिक विभिन्न तहसीलों में भिन्न है, फिर भी वह इस प्रकार है : साल भर में उसे बारह खंडी धान फ़सल काटने और गाहने के समय दंडीमुंडी अनाज को छः खंडी धान फसल उठने पर छः खंडी कटोरधान, दो रुपये नक़द और सात या आठ रुपये की कीमत के कपड़े, लगभग आठ आने की कीमत का नमक तथा किन्हीं अवसरों पर भोजन भी मिलता है। यदि यह सब भुगतान नियमित रूप से किए जाँय तो युद्ध-पूर्व कीमतों के आधार पर, इसका औसत लगभग पाँच रुपया महीना पड़ेगा। पर चूँकि सब कुछ स्वामी की इच्छा पर निर्भर है इसलिए यह परिस्थिति कभी-कभी सेवक के अमानुषिक शोषण का रूप धारण कर लेती है। कबाड़ी को अपने स्वामी के घर के अहाते में छोटे से घरौंदे में रहना होता है जहाँ स्वामी की आवाज पहुँच सके।

समय-समय पर प्रशासन ने कबाड़ी व्यवस्था की बुराइयों को दूर करने के दृढ़ प्रयत्न किए हैं और बस्तर में उसे अब अवैध घोषित कर दिया गया है किन्तु कबाड़ियों को इसमें सन्देह है कि इस प्रकार सामान्य मुक्ति दे देने से उनकी समस्याओं का समाधान हुआ है, क्योंकि जहाँ स्वतंत्र जीवन-यापन की संभावनायें सीमित हैं, वहाँ किसी न किसी रूप में कृषक दासता विद्यमान रहेगी ही। चूँकि भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और राज्य भी इन कबाड़ियों की भलाई के प्रति विमुख नहीं है अतः उन्हें धीरे-धीरे नई भूमि पर बसाना संभव होगा। किन्तु कबाड़ी व्यवस्था इस बात को प्रदर्शित करती है कि किस प्रकार एक ही सांस्कृतिक वातावरण में रहने वाली विभिन्न सामाजिक इकाइयाँ अन्तर्निर्भरता के सम्बन्ध को विकसित करती हैं, यहाँ तक कि एक समूह का जीना अन्य समूहों के सहयोग के बिना दूभर हो जाता है और प्रायः उसकी परिणति अननुकूलीकरण में होती है।

भारतीय क़बीलों का आर्थिक वर्गीकरण

आर्थिक जीवन और पेशों के आधार पर क़बीलों का वर्गीकरण एक दुष्कर कार्य है चूँकि अधिकांश क़बीले सीमान्त संस्कृति की अवस्था में है या एक से अधिक पेशों में लगे हुए हैं। क़बीली अवस्था में कार्यों के विशिष्टीकरण (Specialization of functions) को स्थान नहीं है और इसी लिए क़बीले के सदस्य विभिन्न पेशों को अपनाते हैं। जब क़बीला एक विशिष्ट पेशा अपना लेता है तो उसका व्यवहार एक जाति की भाँति हो जाता है, जैसा कि मिर्ज़ापुर ज़िले के बियारों और खड़वारों ने कत्था बनाने का काम अपना लिया है और वह वहाँ खैरही नाम से प्रसिद्ध हैं।

क़बीले के आर्थिक जीवन को, प्रत्यक्ष प्राप्ति (Direct Appropriation) या केवल आकस्मिक संग्रहकर्त्ता की सहज अवस्था का प्रतिफल नहीं कहा जा सकता। यह तथ्य कि क़बीला अपने जीवन यापन के लिए सब प्रकार के पेशों का उपयोग करता है और शिकार के साथ शहद इकट्ठा करना और लकड़ी काटना तथा स्थानान्तरित कृषि के साथ-साथ पशु-पालन इत्यादि के कई कार्य साथ-साथ करता है, निम्न संस्कृतियों में आर्थिक जीवन की जटिलता को प्रदर्शित करता है।

आर्थिक अवस्था सांस्कृतिक प्रगति के अभियान में पड़ाव या विश्राम को, न कि उसके निरन्तर विकास को सूचित करती है। सांस्कृतिक प्रगति की कल्पना विकासवादी अवधारणा के अनुसार की गई है। आर्थिक जीवन में विभिन्न अवस्थाओं की क्रमशः विकसित प्रगति की अवस्थाएँ मानव-मस्तिष्क के समान रूप से कार्य करने की क्षमता पर आधारित हैं। मानव-समूह समान परिस्थितियों में समान आविष्कार करते हैं और यदि उनके प्रारम्भिक विचार एक से ही हों तो वह एक ही प्रकार की संस्थाओं को जन्म देते हैं। जैसा कि मॉर्गन ने कहा है—एक के बाद एक भूमि की तहों के जमने की भाति मानव जाति के क़बीलों को उनकी सापेक्ष अवस्था के अनुसार विभिन्न क्रमिक स्तरों में रक्खा जा सकता है।

जहाँ तक अवस्थाओं के विकास का सम्बन्ध है, ऐतिहासिक व्याख्या द्वारा आर्थिक जीवन की मौलिक एकता और संचय-अवस्था से आखेट, पशुपालन, और कृषि-अवस्था तक की एक-मार्गीय आर्थिक प्रगति व्यक्त हो जाती है। हाल की खोजें आर्थिक विकास के इस एकमार्गीय सिद्धान्त (Unilinear) की पुष्टि नहीं करतीं। योग्य विद्वानों का कहना है कि माओरी खेती करते हैं और उनके पास पशु न होने के कारण वह सम्भवतया पशुपालन की अवस्था से गुज़रे ही नहीं। अलेक्जेण्डर फान हम्बोल्ट द्वारा अध्ययन किए गये बहुत से अमरीकी क़बीले भी इसी श्रेणी में आते हैं। हिल्डेब्राण्ड, हंटिंग्टन और कई अन्य विद्वानों ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि आदिम जाति-समूह अपने प्राकृतिक वातावरण पर अधिक निर्भर हैं। हिल्डेब्राण्ड आर्थिक जीवन के

बहुमार्गीय (Multilinear) विकास के सिद्धान्त के पोषक हैं। जीड और वाकर आर्थिक प्रगति के एकमार्गीय सिद्धान्त के पोषक हैं। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन पर भौगोलिक प्रभावों का महत्त्व स्थापित करने के कारण मानव भौगोलिक विचारधारा का इस विवाद में विशेष हाथ रहा है। किन्तु फ्रैड्रीक रेज़ल और एडवर्ड हान ने इस शास्त्रीय कल्पना के विरुद्ध अनेक अकाट्य युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं और यह उन्हीं के प्रयत्नों का फल है कि एकमार्गीय सिद्धान्त त्याग दिया गया और उसका स्थान अनेक नई योजनाओं ने ले लिया है जिनमें विकासवाद के सिद्धान्त का अब भी प्रमुख हाथ है।

एडम स्मिथ की उस योजना में जिसके अन्तर्गत उन्होंने आर्थिक संस्कृति को आखेट पशुपालन और कृषि की अवस्थाओं में बाँटा था, लिस्ट द्वारा संशोधन किया गया और उन्होंने आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएँ प्रस्तुत कीं। उनकी योजना में शिकारियों, गड़ेरियों, कृषकों, दस्तकारों और औद्योगिक धन्धे करने वाले लोगों का समावेश है। हिल्डेब्राण्ड ने इस वर्गीकरण की आलोचना इस आधार पर की है कि यह केवल एक ही देश, इंगलैण्ड, के अनुभव पर आधारित है और इसमें संसार के अन्य देशों के अनुभवों का ध्यान नहीं रखा गया है। हिल्डेब्राण्ड की योजना आर्थिक संस्कृति को तीन कालों में बाँटती है:—पहलव-स्तुओं की अदल बदल का काल (Barter); दूसरा, मुद्रा का; और अन्तिम साख (Credit) का काल। अर्नेस्ट ग्रास के अनुसार विशेष प्रकार की भौतिक अवस्थाओं में किए गये विशेष प्रकार के आर्थिक प्रयत्नों द्वारा विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्था निर्णीत होती है। वह यह नहीं मानते कि अर्थ व्यवस्था के प्रकार विकास की अवस्थाएँ हैं, क्योंकि उनका विचार है कि जीवन की स्थानीय अवस्थाओं द्वारा एक विशेष प्रकार की अर्थ-व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। उनके अनुसार संस्कृति का निर्धारण आर्थिक कारणों द्वारा होता है और सामाजिक संस्थाएँ आर्थिक अवस्थाओं की दर्पण हैं। उदाहरणार्थ ग्रास ने पुरानी विकासवादी धारणाओं के बीच एक संश्लेषण स्थापित करने की चेष्टा की और उनके आर्थिक जीवन को सामान्य आर्थिक विकास की अनेक अवस्थाओं में बाँटा, जैसे कि, संचय की (Collectional) अर्थ-व्यवस्था, सांस्कृतिक ख़ानाबदोश अर्थ-व्यवस्था, बसे गाँवों की अर्थ-व्यवस्था, नगर (Town) अर्थ-व्यवस्था, और महानगरी (Metropolitan) अर्थ-व्यवस्था यह विभिन्न अवस्थाएँ विकासवाद के सिद्धान्त पर अधारित कर के केवल प्रकारों के रूप में ही कल्पित की गई। फोर्ड ने आर्थिक अवस्थाओं के विचार का खंडन किया है। उनका कहना है कि लोग आर्थिक अवस्थाओं में नहीं रहते और उन्हें कहीं भी केवल एक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था नहीं मिली, प्रस्तुत संस्कृतियों के विकास में विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं के समुच्चय (Combinations) साथ-साथ पाये जाते हैं। फोर्ड और हर्स्कोविट्स अर्थ-व्यवस्थाओं के पंच-भागी विभाजन अर्थात् संचयात्मक; शिकारी, मछली पकड़ना, कृषि और

पशुपालन, अर्थ-व्यवस्था से सहमत हैं और उनके मतानुसार नई अर्थ-व्यवस्था को ग्रहण करने के लिए पहली अर्थ-व्यवस्था को त्यागना जरूरी नहीं है।

अनेक विद्वानों ने सांस्कृतिक संस्थाओं के विकास में आर्थिक मूल प्रेरणा को अनुचित महत्त्व देने पर आपत्ति की है और इसके विपरीत संस्कृति के मानसिक आधार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रकार संकृति की श्रेणियों या अवस्थाओं और समाज के एकमार्गीय विकास के सिद्धान्त का मिश्रित स्वागत हुआ है। क्षेत्रीय नृतत्त्ववेत्ता द्वारा प्रस्तुत किए गये अनेक तथ्यों तथा अंकों ने उनके दावों को दुविधा में डाल दिया। सामाजिक समूहों के वर्गीकरण का सबसे सरल तरीका खाद्य-प्राप्ति पर आधारित है। इस तरीके के अनेक लाभ हैं। चूँकि आदिम समाज में मनुष्य का अधिकांश समय योजना प्राप्ति के प्रयास में व्यय होता है, इसलिए समस्त सामाजिक जीवन उसी के चारों ओर केन्द्रित होता है। खाना जुटाने के लिए किए गये सब प्रकार के प्रयत्नों की रक्षा असभ्य समाज द्वारा बड़ी तत्परता से की जाती है। इसके लिए वह बड़े लम्बे-चौड़े रस्म-अनुष्ठान, परम्परागत निषेध और सामाजिक प्रतिबन्ध, एवं टैबू, इत्यादि को निभाते हैं जो उन्होंने काफी लम्बे समय में भूल और सुधार के तरीके से सीख कर अपनाये हैं। इसके अतिरिक्त समाज जितना ही सरल होता है, उतनी ही आसानी से उसके खाद्य उत्पादन में आर्थिक प्रयास के महत्त्व को ढूँढ़ा जा सकता है। जैसा कि आदिवासी लोगों में है खाद्यप्राप्ति की रीति और साधन सामाजिक रीति से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। लिबोअर ने इसी तरह का एक वर्गीकरण किया जिसके अनुसार आर्थिक जीवन निम्न प्रकार विभाजित किया गया है:—(क) संचयकर्त्ता (ख) शिकारी (ग) मछली पकड़ने वाले (घ) खानाबदोश, कबर या शिकारी कृषक (ङ) निम्न श्रेणी के बसे हुए कृषक जो कि शिकार भी करते हैं या पशु भी पालते हैं, (च) श्रेष्ठ कृषक जिनके पास जटिल औज़ार हैं, (छ) खानाबदोश गड़रिये। इन सब प्रकारों का कोई क्रमानुसार महत्त्व नहीं है।

जैसे-जैसे हम असभ्य से उन्नत समूहों की ओर आते हैं हम देखते हैं कि सामाजिक संस्थाओं को ढालने में खाद्यपूर्त्ति का महत्त्व कम होता जाता है, इसलिए खाद्य-पूर्त्ति या सामाजिक समूहों द्वारा खाद्य प्राप्ति के साधनों पर आधारित वर्गीकरण की योजना हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं होती। जिंस्बर्ग और कुछ अन्य अंग्रेज समाज-शास्त्रियों द्वारा लिखित एक नये प्रकाशन में हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया है कि मनुष्य विभिन्न पेशों को मिला कर भोजन प्राप्त करता है। वह पशु पालता है, जमीन खोदता है, खेतों की सिंचाई करता है, शिकार करने, मछली पकड़ने और कंद-मूल संचय करने के अतिरिक्त फ़सलों को हेर-फेर कर बोता है। कुछ सामाजिक समूह मछली पकड़ते और शिकार करते हैं, अन्य समूह पशु पालने के अतिरिक्त थोड़ी खेती भी करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य समूह इसके साथ ही दुधारू पशुओं, मुर्गियों इत्यादि को भी पालते हैं। शायद ऐसी कोई संस्कृति नहीं है जो खाद्य-पूर्त्ति के

विभिन्न साधनों में विश्वास न रखती हो और इसीलिए खाद्य-पूर्त्ति के प्रयत्न के सिद्धान्त पर संस्कृतियों का वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। वर्गीकरण की उक्त पद्धति के दोषों ने आदिम अर्थ-व्यवस्थाओं के प्रति हमारी धाराणओं को एक नई दिशा दी है, जिसके अनुसार खाद्य प्राप्ति के प्रयत्नों के जटिल तथ्य का अनेक पहलुओं से अध्ययन किया जाना चाहिए।

इसलिए यह समझा गया है कि सरल समाजों में खाद्य-पूर्त्ति की विधियों के तथ्यों को ही यन्त्र विद्या, कला, जादू, धर्म, मृतकों की अन्त्येष्टि क्रिया की विधि पारिवारिक जीवन के स्वरूपों और आदिकालीन समाजों में प्रचलित मुण्ड आखेट या अन्य विविध प्रकार की संख्याओं की विशेषताओं के साथ मिलाकर देखना चाहिए। जिंस्बर्ग, और हाबहाउस को उक्त विशेषताओं को मिलाने के प्रयत्न से क़बीलों और संस्कृतियों के वर्गीकरण का कोई संतोषजनक आधार नहीं निकल सका है। आदिम संस्कृतियों के विश्लेषण द्वारा प्रमुख सांस्कृतिक गुणों या विशेषताओं के साथ किसी प्रकार का सह-सम्बन्ध (Correlation) स्थापित करने की सम्भावनाएँ अब भी विद्यमान हैं। हमारे विचार में उनकी कठिनाइयों का मुख्य कारण क़बीली संस्कृतियों पर विद्यमान साहित्य द्वारा प्राप्त अस्त-व्यस्त और नाना प्रकार के तथ्यों का उपयोग कहा जा सकता है। व्यवस्थित रूप से सांस्कृतिक विवरण और वैज्ञानिक मूल्यांकन प्रस्तुत करना अभी हाल की ही चीज़ है।

भारत के आदिम और पिछड़े हुए सांस्कृतिक समूहों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में दो योजनायें प्रस्तुत की गई हैं। हर्बर्ट् रिज़्ले ने क़बीलों का प्रजातीय वर्गीकरण किया और उन्हें (१) द्रविड़ (२) मंगोल और (३) तुर्क इरानी, इस तीन समूहों में बाँटा है। रिज़्ले के द्रविड़ वर्ग में पूर्व-द्रविड़ और आस्ट्रेलीय क़बीले भी सम्मिलित हैं। अतः हम इसे मुंड-द्रविड़ भी कह सकते हैं, चूँकि क़बीली संगठन में छोटा नागपुर के पठार और दक्षिण के क़बीलों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मुंडा-द्रविड़ क़बीलों में दो प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है (क) टोटमी और (ख) प्रादेशिक (Territorial)। प्रथम संगठन के अन्तर्गत एक क़बीला अनेक कुलों (Clans) में बँटा होता है जिनका नाम किसी पशु, किसी पौधे या भौतिक वस्तु पर होता है। हरेक कुल की अपनी बस्ती होती है। जिसमें कि प्रायः समस्त गाँव का समावेश होता है। इस प्रकार एक कुल प्रादेशिक इकाई भी बन जाता है। उदाहरण के लिए हो लोगों के एक हाटू (गाँव) में प्रायः एक मुख्य किल्ली (कुल) के लोग बसते हैं। गाँवों की मुख्य किल्ली में से ही गाँव का मुखिया या पुरोहित नियुक्त होता है। उड़ीसा के खोंड क़बीले के बहिर्विवाही वर्ग भी ग्राम इकाइयों में विभक्त हैं।

आसाम के मंगोल क़बीले या तो जारी और खासी की भाँति मातृतंत्री (Matriarchal) या अधिकांश नागा क़बीलों की भाँति पितृतंत्री (Patriarchal) हैं। वह खेलों या

प्रादेशिक इकाइयों में विभक्त हैं। यह इकाइयँ सामाजिक और राजनीतिक समूहों की भाँति कार्य करती हैं और इन पर आनुवंशिक सरदारों, राजाओं या सामंती विशेषाधिकार प्राप्त क़बीली मुखियाओं का शासन है। इस सांस्कृतिक क्षेत्र में व्याप्त अस्थिर अवस्था के कारण दूर-दूर और बिखरे हुए खेत संकटों से मुक्त नहीं हैं। इसीलिए यहाँ पर हमें दो हज़ार से पाँच हज़ार या उससे भी अधिक जनसंख्या की सम्मिलित बस्तियाँ दिखाई देती हैं। प्रत्येक खेल भोजन या स्त्रियों के लिए अन्य पड़ोसी खेलों द्वारा किए जाने वाले आक्रमण से रक्षा करने का प्रबन्ध करता है। समान सामाजिक आवश्यकताएँ खेल के सदस्यों को सामूहिक कर्म के लिए एक सूत्र में बाँधती हैं। तुर्क-इरानी समूह पीढ़ियों से चले आए बैर-विरोधी और ख़ानदानी शत्रुता के सिद्धान्त पर संगठित हैं, यद्यपि कुछ क़बीले समान पौराणिक या ऐतिहासिक पूर्वज के आधार पर भी भाई-चारा मानते हैं। अधिकांश क़बीले हर दसवें साल होने वाले क़बीली ज़मीन के विभाजन में हिस्सा देने और स्थिर जीवन का प्रलोभन दे कर नये लोगों को अपने में भरती करते हैं।

इस विषय में हम पहले कह चुके हैं कि किस प्रकार विभिन्न सामाजिक समूह विभिन्न सांस्कृतिक स्तर पर अपने भोजन-प्राप्ति की व्यवस्था करते हैं। एक सीमा तक इस आधार पर संसार की जातियों का विभाजन भी किया जा सकता है। यही बात उपर्युक्त वर्गीकरण पर भी लागू होती है। भारतवर्ष में ग्राम्य और प्रादेशिक संगठन सर्वत्र बहुत कुछ एक सा ही है। किन्तु यह तर्क निरर्थक होगा कि विभिन्न क़बीलों में इसका मूल एक है और बाद में इसका अन्य स्थानों पर प्रसार हुआ या भारत आर्य समूहों मे यह व्यवस्था ऊपर से आई।

मालाबार के नायर जो कि आदिम और अधिक पिछड़े हुए नहीं हैं, मातृतंत्री लोग हैं। नायरों के प्रादेशिक संगठन की इकाई तरबाड़ है। इसके अन्तर्गत मातृतंत्री परिवार का मुखिया सबसे बड़ा पुरुष होता है जिसे यह कर्णवान कहते हैं। कई तरबाड़ मिलकर तर या स्थानीय इकाई और तराकुट्टम का निर्माण करते हैं या तरा की सभा में विभिन्न मातृतंत्री परिवारों का प्रतिनिधित्व होता है। अनेक तरों से मिल कर एक नाड बनता है जिसका प्रधान एक प्रमणिगल, थट्टस्थर या ज़िले का मुखिया होता है। अनेक नाड मिल कर एक सिमे का निर्माण करते हैं जिनका मुखिया सिमेटोक कहलाता है। इसी प्रकार का प्रादेशिक संगठन मलयालम देश के अन्य भागों में जैसे कि कुर्ग के राजपूतों और हिन्दी आर्य वंश की जातियों में भी पाया जाता है।

सन् १९३१ की जनगणना रिपोर्ट में पहली बार सामाजिक दूरी (Social Distance) के आधार पर क़बीलों का वर्गीकरण किया गया। बहिर्गत या अन्तर्गत जातियाँ, स्पृश्य और अस्पृश्य सामाजिक समूहों को व्यक्त करती हैं और अनुसूची (Scheduled list) में उन जातियों को सम्मिलित किया गया है जिनसे ब्राह्मण और अन्य उच्च जातियाँ

अपवित्र होने के भय से बचती हैं और इनके हाथ का वह हुक्का पानी ग्रहण नहीं करतीं। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का श्रेणीक्रम एक सीमा तक ही सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहित करता है और इसलिए क़बीलों के समूहीकरण करने की समस्या जटिल हो जाती है। भारत की सामाजिक व्यवस्था का क्रम इस प्रकार है :—ब्राह्मण, अन्य-जातियाँ, शुद्ध जातियाँ, अछूत जातियाँ और क़बीले।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस व्यवस्था में पर्याप्त सामाजिक गतिशीलता सम्भव है किन्तु अनुदारता, सामाजिक जड़ता और आनुष्ठानिक सुचिता (Ceremonial Purity) और निराशावादी सामूहिक दर्शन ने सामाजिक समूहों की पृथकता को बढ़ा कर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को प्रायः बेलोच बना दिया है। सिर्फ़ ऊपर से देखने वाले अन्वेषक अब भी भारतीय संस्कृति का वर्णन करते हुए रिज्ले के मत से चिपटे हुए हैं। रिज्ले कहते हैं —"भारत में हमारे सामने ऐसा समाज है जो कि बहुत अंशों में अभी भी आदि-कालीन है और जिसमें अभी भी एक हस्तलिखित पाँडुलिपि की भाँति अनन्त प्राचीनता के अवशेष संरक्षित हैं। यह ऐसा देश है जहाँ की सब वस्तुएँ सदा समान रही हैं, इसलिए हमारा यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि जो आजकल हो रहा है बहुत कुछ वहाँ इसी रूप में सदैव भारतीय मानव समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में घटित हुआ है।" हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में कुछ अंशों तक सामाजिक गतिशीलता की गुञ्जाइश है और उसमें सम्मिलन और विभेद दोनों ही की प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। आंध्र के नैलोर ज़िले की विभिन्न मछिहारी जातियाँ एक जाति में मिल गई हैं जबकि इसके विपरीत उत्तर प्रदेश के कायस्थ विभिन्न अन्तर्विवाही वर्गों में बाँटे गये हैं। क़बीली समूहों के सामाजिक विधान में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप अनेक क़बीली समूह जाति-व्यवस्था में स्पृश्य जातियों के रूप में प्रविष्ट हो गये हैं और उच्च जाति के लोग उनसे पानी ग्रहण करने में आनाकानी नहीं करते। बस्तर के गोंडों ने एक कार्यात्मक जाति को विकसित किया है जिसे कि वहाँ रावत कहते हैं। ये ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियों के यहाँ घरेलू नौकरों का कार्य करते हैं। उत्तर बंगाल के राजवंशी और कोच लोगों के लिए कायस्थ परिवारों में विवाह करके अपने सामाजिक दर्जे को ऊँचा उठाना सम्भव है। इसी का परिणाम है कि वहाँ पिछले वर्षों में कायस्थों की संख्या बढ़ गई है। बंगाल के कायस्थ और अम्बष्ठ (वैद्य) क्रमशः क्षत्रियों और ब्राह्मणों के वंशज होने का दावा करने लगे हैं। प्रचार और संगठन द्वारा उन्हें इस में सफलता भी मिली है। अम्बष्ठ, ब्राह्मणों को चुनौती दे रहे हैं यद्यपि बंगाल के दक्षिण-पूर्वी ज़िलों में कायस्थों और अम्बष्ठों में अन्तर्विवाह सदियों से होता आया है। अम्बष्ठों के इस दावे की भी शायद वही दशा हो जो उत्तर प्रदेश में नाई जाति की है। वे अपने को नाई ब्राह्मण कहते हैं लेकिन आज भी मालिश और ज़र्राही का परम्परागत पेशा करते हैं।

जबकि दो या दो से अधिक समूह एक साथ रहते हैं और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है तो सामाजिक समूहों का ऊँचा उठना सम्भव है। भाषा की भिन्नता और भौतिक साधनों की सीमा के भीतर ही श्रेष्ठ संस्कृतियों के सम्पर्क में क़बीली समूहों ने उनका अनुकरण करना सीख लिया है। जहाँ पर ऐसे सम्पर्क स्थायी नहीं हैं, वहाँ क़बीली समूह अपनी जीवन-रीति पर चल रहे हैं और ऐसे समूहों का तो किसी सिद्धान्त के अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रोफ़ेसर टी. सी. हॉड्सन ने भारत की क़बीली संस्कृतियों की निम्न व्याख्या की है। "यदि कोई समूह अपने भौतिक कार्यों में परीक्षण से इन्कार करे, नये तरीकों की जाँच करने में तो हिचके और नई भावनाओं को आत्मसात् करने में अनुदार हो तो उसके केवल जड़ ही होने का नहीं बल्कि पिछड़ जाने का भी पूरा भय है और उसे निम्न सांस्कृतिक अवस्था में रखा जायगा।"

भारत के अधिकांश सामाजिक समूह, क़बीले और जातियाँ इसी परिभाषा के अन्तर्गत आती हैं। फिर भी हम जानते हैं कि जीवन के प्रति उनकी एक शांतिपूर्ण दार्शनिक भावना है और उनके कुछ मूल्यों के प्रति उनका अति विकसित एक अपना दृष्टिकोण है जो स्थायी और निर्भ्रान्त है।

भारत के क़बीलों को प्रादेशिक और पेशेवर से निम्न प्रकार बाँटा जा सकता है:—

आसाम में गारो, लुशाई, कूकी, मिकिर, अबीर, दफला, अंगामी नागा, सेमानागा, चांग नागा, ल्होटा नागा, कोनयक नागा और खासी मुख्य क़बीले हैं।

बंगाल और बिहार में पोलिया, मातेर, उराँव, संथाल, मुंडा और हो क़बीलों का निवास है।

उड़ीसा और मद्रास में खोंड, सावरा, चेंपू, लम्बाड़ी, सुगाली, कीटा, बडशा, परजा, इहला, टोडा और पनियन मुख्य क़बीले हैं।

बम्बई में भील, कटकरी और कीली मुरिया, मादिया, भटरा तथा प्रजा गोंड क़बीले रहते हैं।

मध्यप्रदेश में कोया और कोकरू मुख्य क़बीले हैं। आन्ध्र प्रदेश में मरिया, मुरिया और राजगोंड, भटरा, भ्रव, गड़वा और चेंपू क़बीलों का बास हैं।

उत्तर प्रदेश में थारू, भोकसा, खस, कोरवा, बीयर, भूइया, माँझी, चेरो, खरवाड़ और राजी मुख्य क़बीले हैं।

भाषा की दृष्टि से क़बीलों को विभिन्न भाषा परिवारों से सम्बन्धित समूहों में बाँटा जा सकता है। मुंडा, हो, संथाल, खड़िया, कोरवा और गड़वा, आस्ट्री-ऐशियाई भाषा परिवार के क़बीले हैं। उराँव, मलेर, खोंड, सावरा, परजा, कोया, पनियन, चेंपू, इरुला, कदार, मलसेर, और मलरियन द्रविड़ भाषा परिवार के अन्तर्गत आते हैं। आसाम के नागा क़बीले गारो, कूकी, मिकिर, दफला, अबोर और खासी तिब्बती-चीनी भाषा परिवार से सम्बन्धित हैं।

३. पेशों की दृष्टि से भी क़बीलों को विभिन्न समूहों में बाँटा जा सकता है। भारत में अनेक क़बीले हैं पर पेशों की संख्या सीमित है। यही बात जातियों के बारे में भी लागू होती है। यद्यपि जातियाँ विशेष पेशों से सम्बन्धित हैं फिर भी जातियों की संख्या पेशों से अधिक है। इसीलिए बहुत सी जातियाँ खेती करती हैं, पशु चराती हैं और खानों में काम करती हैं। इसी प्रकार भारत के विभिन्न क़बीले कन्द-मूल फलों का संचय; रेशम के कीड़े पालने, कातने; सवाई घास, शहद इकट्ठा करने; बान, रस्सियाँ, कत्था, गुड़ और बरतन बनाने; कातने, बुनने, लकड़ी काटने और बेचने, शिकार खेलने, मछली पकड़ने, पशु पालने, झूम द्वारा खेती करने, सीढ़ीनुमा (Terrace) खेती, स्थायी रूप से खेती करने, खानों, कारखानों और बगानों में मज़दूरी करने का काम करते हैं। निम्न तालिका द्वारा विभिन्न राज्यों के मुख्य क़बीलों द्वारा किए जाने वाले आर्थिक कार्यों का अनुमान लगाया जा सकता है।

क़बीलों का आर्थिक स्तर

स्थान	शिकार और संचय अवस्था	स्थान्तरित या झूमकृषि, लकड़ी काटना, कत्था बनाना इत्यादि	स्थायी कृषक, जो मुर्गी और पशु पालते हैं, कातते, बुनते, बर्तन बनाते और सीढ़ीनुमा (Terrace) खेती करते हैं।
उ. प्रदेश	राजी	कोरवा, सहेरिया भुइया, खरवाड़	थारू, माँझी, बींड, भोकसा खस, कोल
बिहार	खड़िया, बिरहौर	कोरवा, असुर	मुंडा, हो, तमरिया, उराँव
बंगाल	कूकी	गारो, मलपहाड़िया	पोलिया, संथाल
आसाम	कूकी, कोनियक नागा	नामा, लखेर, गारो	खासी, मनीपुरी
म. प्रदेश	पहाड़ी मरिया	मुरिया, दंडमी मरिया, गोंड	परजा, भटरा
मद्रास और आन्ध्र प्रदेश	कोया, कांटा रेड्डी पसियन, कडर, पहाड़ी पंटारम	खोंड, कुठम्बा, गोंड सावरा, मुडावन	बड़गा, कोटा, इरुला, परजा
उड़ीसा	जुआंग	सावरा	
बम्बई			भील, गोंड

अध्याय १०

क़बीली जनसंख्या सम्बन्धी समस्यायें

किसी भी समाज की सही जानकारी के लिए उसकी जनसंख्या, विवरण और घनत्व के अतिरिक्त उसके जन्म और मृत्यु के आँकड़ों को जानना ज़रूरी है। अतः आदिम क़बीलों के अध्ययन में उनकी जन्म और मृत्यु-दर का समावेश आवश्यक है, क्योंकि अनेक अंशों में जनसंख्या उनके सांस्कृतिक स्तर को निर्धारित करती है। इसकी तथा क़बीली क्षेत्रों में जनसंख्या को नियंत्रित करने वाले कारणों की जाँच ज़रूरी है। नृतात्त्विक साहित्य में इस पक्ष की पर्याप्त उपेक्षा की गयी है। वास्तव में नृतत्त्व-वेत्ताओं को उसका महत्त्व समझना चाहिए।

भारत में नाना प्रकार की संस्कृतियाँ और प्रजातियाँ हैं। सांस्कृतिक भिन्नताओं के साथ प्रजननत्व (Fertility) में भी भिन्नताएँ हैं। हमें विभिन्न जातियाँ और क़बीलों के प्रजननत्व के बारे में जो सूचनाएँ प्राप्त हैं, वह बहुत ही अपूर्ण हैं।

आदिवासियों के सभ्यता के साथ सम्पर्क ने उनमें एक प्रकार की नैतिक और सामाजिक उदासी की सृष्टि की है। कुछ क़बीले तो बिल्कुल समाप्त हो गये हैं और कुछ सम्पर्क-जनित विश्रृंखलता से पीड़ित हैं। इस सामाजिक विघटन, नैतिक पतन तथा नई परिस्थितियों ने आदिवासी स्त्रियों के प्रजननत्व को भी प्रभावित किया है।

हमारे जन्म और मृत्यु के आँकड़े बहुत अपूर्ण और दोषपूर्ण हैं और उन पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। अशिक्षा, अज्ञान और अन्ध-विश्वास विश्वस्त आँकड़ों के संकलन में बड़े बाधक हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ जनसंख्या का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं हो सकता है। विभिन्न विद्वानों ने भारत की जनसंख्या के सम्बन्ध में विरोधी निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। यही कारण है कि देश के लिए एक सही जनसंख्या-नीति निर्धारित नहीं हो सकी है। आदिवासी क़बीलों के सम्बन्ध में जो कुछ सूचनाएँ उपलब्ध हैं, वह बहुत ही साधारण प्रकार की हैं। बहुत से संकलनकर्त्ता प्रजनन-क्षमता (Fecundity) और प्रजननत्व में अन्तर नहीं करते। किसी एक क़बीले की प्रजनन-क्षमता और प्रजननत्व के विवरणों में मेल नहीं दीखता। विभिन्न क़बीलों में प्रचलित वृद्धों का वध, प्रेतनी-वध (Witchcraft), आदमखोरी, नर-बलि,

मुण्डआखेट जैसी प्रथाएँ इस कार्य को और भी जटिल बना देती हैं। नर-बलि और आदमखोरी उन लोगों के लिए जो इसे करते हैं साधारण बात हो सकती है किन्तु एल्विन ने जेपोर के बोंदो परजा का अध्ययन कर जो आँकड़े प्रस्तुत किए हैं, वे भयावह हैं। जबकि दस लाख आदमियों के पीछे इंग्लैंड में खूनों की संख्या ७ व अमरीका में ५२ है तब बोंदो परजा में वह २,००० है।

आदिकालीन समाजों में ब्रह्मचर्य, संयम, विवाह की उम्र और बच्चों के पालन की अवधि में और अन्य अवस्थाओं में सम्भोग पर प्रतिबन्ध प्रजननत्व को नियंत्रित रखने में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। मुंडा और हो लोगों को अत्यधिक वधू-मूल्य चुकाने के लिए बहुत समय तक विवाह स्थगित करना पड़ता है और प्रायः लड़कियाँ २० वर्ष और लड़के २५ वर्ष से कम आयु में विवाह नहीं करते, और कुछ को जो कि वधू-मूल्य नहीं जुटा पाते यों ही बिना विवाह किए इधर-उधर भटकना पड़ता है या बड़ी उम्र की औरतों का पल्ला पकड़ना पड़ता है और गर्भाधान होने पर भ्रूणहत्या का सहारा ले समाज को दण्ड देना पड़ता है। लड़कियाँ लड़कों द्वारा अलभ्य वधू-मूल्य पर विलाप करती हैं। लड़के भी दुःख-भरे गीतों में उन्हें व्यक्त करते हैं।

आदिम लोगों में भ्रूणहत्या बहुत प्रचलित है। उन्हें इसके बहुत से तरीके ज्ञात हैं। कई बार तो वह बहुत ही क्रूर तरीकों का प्रयोग करते हैं। जहाँ विवाह-पूर्व स्वच्छन्दता प्राप्त है, जैसा कि प्रायः आदिम क़बीलों में होता है, भ्रूणहत्या एक अनिवार्य बुराई है क्योंकि अवैधता का कलंक धोने के लिए लड़के-लड़की के लिए विवाह के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। जबकि वह संयोग से एक ही बहिर्गत् कुल के हों, जहाँ कि उनके बीच विवाह संभव नहीं, उनके लिए, भ्रूणहत्या के सिवाय और कोई चारा नहीं। यह देखते हुए कि अधिकांश क़बीलों में विवाह-पूर्व सम्बन्धों के बारे में कोई रोक नहीं है और साथ ही उनमें अवैध संतति का पर्याप्त अभाव है, यह कहा जा सकता है कि उनमें भ्रूणहत्या एक स्वीकृत व्यवहार है। डेविस के अनुसार आसाम के आओ लोगों ने स्वीकार किया कि वह अवैध संतान से बचने के लिए भ्रूण-हत्या की शरण लेते हैं।

उन क़बीलों में भ्रूणहत्या और भी अधिक प्रचलित है जिनमें कि ऊँचे वर-मूल्य के कारण विवाह को अनिवार्यतः स्थगित करना पड़ता है। सिंघभूम के अनेक हो स्त्री-पुरुषों ने मुझे यह बताया कि उन्होंने भ्रूणहत्या को व्यवहार में लाया है। निराश युवाओं के गीतों तक में इसका ज़िक्र आता है। भ्रूणहत्या के तरीक़ों का ज्ञान एक व्यक्ति से दूसरे के पास पहुँचता है और इस प्रकार क़बीली जनश्रुति का अंग बन जाता है। गंजाम के खोंड लोगों में भी भ्रूणहत्या प्रचलित है। अन्वेषक इसका कारण कुप्रसंगज रोगों की अधिकता बताते हैं। आसाम के मंगोलीय कूकी नौजवानों को अपनी प्रेमिकाओं के साथ रहने की अनुमति देते हैं, किन्तु यह नहीं चाहते कि संभोग की परिणति सन्तानोत्पत्ति में

हो। गर्भाधान एक लड़की के लिए अपमान की बात नहीं है, किन्तु उसे जीवित संतान को जन्म नहीं देना चाहिए।

भारत के अनेक क़बीलों में शिशुहत्या भी पर्याप्त प्रचलित है। इसके अनेक कारण हैं। कमजोर बच्चों को जंगली जनावरों द्वारा खाने के लिए या यों ही मरने के लिए छोड़ दिया जाता है, या उनका गला घोंट दिया जाता है। शिकारी-समूहों में भोजन की कमी उन बच्चों को, जिनका कि वह पेट नहीं भर सकते, मारने पर मजबूर करती है। इसके अलावा भारत के पूर्वोत्तर सीमांत के नागाओं में जहाँ कि विभिन्न कुलों में परस्पर युद्ध होते रहते हैं और अपहरण-विवाह की प्रथा प्रचलित है, कमज़ोर कुलों के सदस्य बलवान कुलों के हमलों से बचने के लिए अपनी स्त्रियों, विशेष कर बालिकाओं का बध कर देते हैं। शिशुहत्या ने कुछ समय तक तो बचाव का काम किया, किन्तु स्त्रियों का अभाव स्वयं अपहरण-विवाह का कारण बना और इस प्रकार नागा देश में, जब तक कि शासन ने उसमें हस्तक्षेप नहीं किया, पर्याप्त अव्यवस्था बनी रही। पर अभी भी कभी-कभी यह संघर्ष फूट पड़ते हैं और आक्रमण से बचने के लिए अभी भी सम्भवतः वहाँ कन्याओं का वध किया जाता है, यद्यपि अब अवश्य ही उसकी संख्या कम हो गई है।

असभ्य समाज में किसी भी समय महामारियों और रोगों द्वारा अत्यधिक शिशु मृत्यु-दर होना और एक सामान्य क़बीले की तुलना में एक आदिम क़बीले की जन्म-दर का कम होना अस्वाभाविक नहीं है। आसाम के कुछ क़बीलों के सभ्यता के साथ-सम्पर्क पर टिप्पणी करते हुए मिल्स ने लिखा है कि जहाँ संवहन और संचार के साधनों के विकास ने आन्तरिक व्यापार की सुविधाओं को अत्यधिक बढ़ाया है, वहाँ उसने रोगों को भी फैलाया है। केवल कुप्रसंगज रोगों और तपेदिक का ही प्रवेश नहीं हुआ है बल्कि महामारियाँ भी अब जल्दी फैलती हैं। इन बीमारियों ने अवश्य ही क़बीली क्षेत्रों की जनसंख्या की वृद्धि पर असर डाला है।

आदिम जनता की प्रजनन-क्षमता के बारे में दो विरोधी मत हैं। एक पक्ष का मत है कि आदिम जनता की प्रजनन क्षमता अनियंत्रित ही नहीं, प्रत्युत् अत्यधिक है जब कि दूसरे पक्ष का कहना है कि प्रजनन-क्षमता की दृष्टि से आदिम जनता सबसे नीचे है। दूसरा-पक्ष पर्याप्त नया है। उदाहरण के लिए एक लेखक ने आदिम से लेकर सभ्य जातियों में प्रजनन-क्षमता के विकास पर विचार करते हुए लिखा कि "सभ्यता के साथ-साथ प्रजनन-क्षमता बढ़ी है।" इनके अनुसार भारतीय और चीनी इस दृष्टि से पूर्व-ऐतिहासिक और यूरोपियन लोगों के बीच में आते हैं। इसका मुख्य कारण जीवन की परिवर्तित अवस्थाओं का संशोधन है। उनके अनुसार यह वृद्धि जैविकीय तथ्यों द्वारा निर्णीत होती है। पुरुष की प्रजननेन्द्रिय में परिवर्तन हुआ है। सभ्य जातियों की तुलना में आदिम जातियों में प्रजननेन्द्रिय का आकार छोटा है। उसमें अवश्य कोई गुणात्मक

परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में उन्होंने अल्प विकसित प्रजननेन्द्रिय और अल्प प्रजनन-क्षमता का सम्बन्ध दर्शाया है। मानव प्रजनन-क्षमता के वर्तमान ज्ञान के आधार पर हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि "जैविकीय भिन्नताएँ प्रजाननात्मक भिन्नताओं का कारण हैं।"

प्रजानन-क्षमता वस्तुतः स्त्री के गर्भवती होने की योग्यता की ओर निर्देश करती है जबकि प्रजननत्व से उसके द्वारा जने गये कुल बच्चों की संख्या का बोध होता है। अत्यन्त असाधारण अवस्था में ही किसी स्त्री की उत्पादनक्षमता वस्तुतः उसके द्वारा उत्पन्न बच्चों की संख्या से मेल खाती है।

दूसरा पक्ष यह है कि उच्च रहन-सहन के स्तर और अल्प जन्म-दर में कार्य-कारण का सम्बन्ध है जैसा कि डबल्डे का कहना है "निर्धन अवस्था अधिक प्रजननत्व से और समृद्ध अवस्था कम प्रजननत्व से सह सम्बन्धित है।" हम इस पर आगे स्वयं-संकलित सूचनाओं के आधार पर विचार करेंगे।

मासिक धर्म

मासिक धर्म की आयु ऋतु के अनुसार बदलती है। सम्भवतः गर्म देशों में लड़कियों को मासिक धर्म कुछ शीघ्र होता है। हमारे पास भारतीय क़बीलों में मासिक धर्म आयु पर कोई विश्वस्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। सिर्फ एल्विन और लेखक ने ही इस सम्बन्ध में कुछ आँकड़े इकट्ठे किए हैं। कंसेर समिति की जाँच के अनुसार सामान्य भारतीय लड़कियों को १२ से १५ वर्ष की आयु के बीच मासिक धर्म होता है। राबर्टसन ने कलकत्ते की हिन्दू स्त्रियों में मासिक धर्म शुरू होने की औसत आयु १२ साल ४ महीने, मद्रास में १३ साल २ महीने और बम्बई में १३ साल ३ महीने बतायी है। भोजन का अन्तर इसके लिए कहाँ तक उत्तरदायी है इसकी जाँच की ज़रूरत है। विभिन्न स्थानों की ऋतुओं के कारण भी परिवर्तन सम्भव है। हमारे देश में विभिन्न स्थानों की ऋतुओं में बहुत अन्तर पाया जाता है।

एल्विन ने पट्टन और उसके आस-पास की ५० क़बीली स्त्रियों से मासिक धर्म के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्र कीं। उन आँकड़ों से कंसेर समिति के ही निष्कर्ष की पुष्टि होती है। इन स्त्रियों में भी मासिक धर्म शुरू होने की आयु १२ से १५ वर्ष है। लेखक ने स्वयं उत्तर भारत के सात क़बीलों में तत्सम्बन्धी आँकड़े एकत्र किए। इसमें हो, कोरवा, और थारू स्त्रियों द्वारा दी गयी सूचनाएँ पूर्णतः विश्वस्त कही जा सकती हैं।

एल्विन ने क़बीली स्त्रियों में मासिक धर्म शुरू होने के सम्बन्ध में आशावादिता का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए बेंगा क़बीले के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "किसी लड़की के लिए यह दीर्घ प्रतीक्षित क्षण बहुत ही उद्विग्नता और आनन्द का है। वह दौड़ कर अपने मित्रों के पास जाती है और उनके कान में जा कर कहती है,

'यह शुरू हो गया।' और कुछ ही घण्टों में सारे गाँव में ख़बर फैल जाती है।" इसके विपरीत हमने जिन क़बीलों की जाँच की उनमें ऐसी आशावादिता व्यक्त नहीं हुई। उनकी लड़कियों में यह क्षण एक प्रकार की घबराहट का होता है और वे कोई आह्लाद अभिव्यक्त नहीं करतीं। आदिम लोगों में खून प्रायः ही एक भय की वस्तु है। विशेष कर उस स्थिति में तो यह और भी स्वाभाविक है जबकि मासिक धर्म की अवधि में उन्हें क़बीले से अलग रखा जाता है। गोंडों में तो उन्हें इस अवधि में इस कार्य के लिए बनाए गये एक विशेष झोपड़े में रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उद्विग्नता के बजाय प्रसन्नता की आशा कैसे की जा सकती है?

हमने विभिन्न क़बीलों की बीस साल से नीचे की ३६७ स्त्रियों की जाँच की। उससे पता चला कि केवल १२ लड़कियों को १० साल से पहले, ९७ को १० से १२ साल के बीच, १९१ को १२ से १४ साल के बीच और ११ को १६ साल और उससे अधिक उम्र में पहला मासिक धर्म हुआ। प्रतिशत आधार पर उन्हें ३·३% १० से नीची, २६·४% १० से १२, ५२·०% १२ से १४, और १५·३% १४ से १६, और केवल ३% १६ वर्ष से अधिक अवस्था में पहला मासिक धर्म होता है। दूसरे शब्दों में, जबकि भारत की समस्त प्रजातियों की स्त्रियों की संख्या जिन्हें १० से १४ वर्ष की आयु के बीच में प्रथम मासिक धर्म होता है ९२·० प्रतिशत है, क़बीली स्त्रियों में उनकी संख्या ७८·४० प्रतिशत है। बावजूद इसके कि ३% क़बीली स्त्रियों को मासिक धर्म १० वर्ष से पहले प्रारम्भ हो जाता है, अन्य लड़कियों की तुलना में उनका मासिक धर्म देर में शुरू होता है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि हो, मुण्डा और अन्य ऑस्ट्रेलीय और पूर्व-द्राविड़ प्रजाति के क़बीलों की तुलना में गारो, कूकी और थारू मंगोलीय क़बीलों में मासिक धर्म कम उम्र में शुरू होता है।

विवाह की आयु

अन्य स्त्रियों की तुलना में क़बीली स्त्रियों में मासिक धर्म और मातृत्व के बीच की अवधि अधिक होती है। जनसंख्या के आँकड़ों के अनुसार १५ से २० वर्ष की आयु की विवाहित स्त्रियों की संख्या क़बीलियों में एक हजार के पीछे ९८७, ईसाइयों में ५६४ और हिन्दू और मुसलमानों में ९०९ है। बाल-विवाह क़बीलों में प्रायः बिल्कुल नहीं है। यद्यपि हिन्दू-जातियों ने क़बीली समाज के यथेष्ट वर्गों में बाल-विवाह का प्रवेश करा दिया है फिर भी इसका अनुपात नगण्य है और इसके बढ़ने की सम्भावना नहीं है। निम्न जातियों और क़बीलों में हिन्दुओं की उच्च जातियों की भाँति बाल-विवाह की परिणति तत्काल संभोग और बाल-माताओं में, जो कि उनके स्वास्थ्य की हानि और दुर्बल सन्तान का कारण बनता है, नहीं होती। छोटा नागपुर के हो और मुण्डाओं की भाँति कुछ क़बीलों में विवाह पर्याप्त देरी से होता है। विवाह के लिए

आवश्यक अत्यधिक वधू-मूल्य युवकों के लिए पत्नी पाना कठिन बना देता है और उन्हें विवाह स्थगित करना पड़ता है। लड़कियाँ मुश्किल से ही १८-२० वर्ष और पुरुष २५ या ३० वर्ष से पहले विवाह कर पाते हैं। रंगपुर के राजवंशियों में जो कि अपने को क्षत्रियों का वंशज बताते हैं, विवाह की आयु (विशेष कर पुरुषों में) अत्यधिक है। उनमें विवाहित स्त्री और पुरुषों की आयु का अन्तर तो बहुत ही ज्यादा है और यह अन्तर कभी भी १५ वर्ष से कम नहीं होता है। यदि किसी को इस प्रथा का पता न हो तो उसे सरलता से एक राजवंशीय की पत्नी का उसकी पुत्री होने का भ्रम हो सकता है। इनमें तसमानिया और ऑस्ट्रेलिया के लुप्त आदिवासियों की भाँति एक बूढ़े व्यक्ति के पास ३०, २० या १५ वर्ष की आयु की दो या तीन पत्नियों का होना सामान्य सी बात है। वधू-मूल्य अत्यधिक है। अतः ३० या ४० वर्ष की आयु से पहले किसी पुरुष के लिए आवश्यक राशि संचय करना सम्भव नहीं है, जबकि लड़कियों को ऋतुमती होने से पहले या तत्काल उसके पश्चात् विवाहित होने की उनकी हिन्दू धारणाएँ उनका बाल-विवाह आवश्यक बना देती हैं। क़बीले द्वारा यौन स्वीकृति प्रदत्त विवाह-पूर्व यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता तथा देरी से विवाह की क़बीली प्रथा राजवंशियों में किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न नहीं करती थी किन्तु हिन्दू-समाज द्वारा उनके पर-संस्कृति-ग्रहण ने पति और पत्नी के अन्तर को बढ़ा दिया है। बलात्कार, भगाए जाने, भाग जाने और वैधव्य के अनेक मामलों का मूल पति-पत्नी के बीच विद्यमान आयु का अत्यधिक अन्तर है। क़बीले के बड़ों का कहना है कि हाल में आर्थिक कठिनाइयों से अवस्था और बुरी हो गयी है। जबकि विवाह के समय एक पुरुष की आयु ३५ वर्ष और उसकी पत्नी की आयु १५ वर्ष की होती है, वह जब तक ५० का होता है उसकी पत्नी ३० की होती है। स्त्री अपने मानसिक यौन सम्बन्धों को जारी रखना चाहती है जबकि हो सकता है कि पुरुष ऐसा अनुभव न करे। पति-पत्नी की आयु के बीच इस अत्यधिक व्यवधान का पत्नी के प्रजननत्व पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि पुरुष विवाह से पहले अनियंत्रित जीवन व्यतीत न करते, तो यह कोई चिन्ता की बात न होती। किन्तु हर गाँव और विशेष रूप से बाजारों में वेश्याओं की उपस्थिति और उनमें रतिज (Venereal) रोगों का प्रसार चिन्ताजनक स्थिति पैदा करते हैं। अधिक आयु के पुरुषों से ब्याही स्त्रियाँ या तो अपने पतियों को छोड़ कर भाग जाती हैं या विभिन्न प्रलोभनों का शिकार होती हैं। इन ज़िलों में मुसलमानों का अधिक अनुपात, अवैध संगमों के धर्म परिवर्तन के कारण है।

हो और राजवंशियों के अतिरिक्त ऐसे बहुसंख्यक भारतीय क़बीले हैं जहाँ लड़कियों की आयु १४ वर्ष से कम या २० वर्ष से अधिक नहीं है। हमारे द्वारा अध्ययन की गई ओहेरो, सावरा, थारू और कूकी क़बीले की ११२ स्त्रियों में से १७·४% १५ वर्ष से कम, ४९·२४% १५ से २० वर्ष, २५% २० से २५ वर्ष, और ८·३४%

संख्या बढ़ जाती है और एक दो सालों में जन-संख्या भी बढ़ जाती है। कोल्हण के एक गाँव में हो क़बीली समाज को एक विचित्र स्थिति का सामना करना पड़ा। उस साल इतने अधिक बच्चे जन्मे कि उनके लिए नाम ढूँढ़ना असम्भव हो गया। उनके यहाँ प्रथा है कि बच्चे का नाम उसके पूर्वज पर रक्खा जाये। उनके पास समस्त पूर्वजों के नामों की सूची समाप्त हो गई। जीवित-बच्चों की संख्या से हम प्रजननता का अनुमान नहीं लगा सकते, क्योंकि जैसा कि हम ज़िक्र कर चुके हैं, अधिकांश क़बीलों में भ्रूणहत्या प्रचलित है। इसके अतिरिक्त, क़बीली स्त्रियाँ अन्य स्त्रियों की तुलना में अधिक शीघ्र वृद्धा हो जाती हैं। एक स्वस्थ और सुडौल कन्या अपने विवाह के कुछ सालों बाद ही समय से पहले बुढ़िया दीखने लगती है। घर पर कार्य का भार और परिवार के दायित्व उसको कुचल डालते हैं और वह अपने भार को नहीं बढ़ाना चाहती। अनेक स्त्रियों ने मेरे सूचनादाताओं को बताया कि वह तीस वर्ष के बाद संतान नहीं चाहती हैं और गर्भ रह जाने की स्थिति में भ्रूणहत्या का सहारा लेती हैं।

हमारे एक अन्वेषक के आधार पर हो लोगों के प्रत्येक परिवार में बच्चों की औसत संख्या ५·१६ है। एक अन्य अन्वेषक के अनुसार विभिन्न प्रान्तों के छः क़बीलों में प्रति परिवार जन्मे और जीवित संतानों की संख्या क्रमशः हो में ६·२ और ४·१०, उराँवों में १·० और ३·९३, कूकी में ६·५ और ४·०, खोंड में ७·२ और २·९९, थारू में ६·५९ और ३·४३ और सावरा में ५·६६ और ३·१९ है।

भारत से बाहर के क़बीलों की तुलना में भारतीय क़बीलों की प्रजननता अधिक लगती है। उदाहरण के लिए बोआस के अनुसार नास नदी के रेड इंडियनों में एक माता से जन्म बच्चों की औसत संख्या और जीवित बच्चों की प्रतिशत संख्या क्रमशः ४·८ और ५५·५%, क्वाकिउत्ल में ३·५ और २६·६%, उताभक्त में ५·३ और ६४·२%, नत्लाकिया पामुगनों में ५·८ और ४१·४% तथा नकामित सिनामुकों में ५·८ और २५·५% है। इसके विपरीत भारतीय क़बीलों में जीवित बच्चों की दर हो में ६७%, उराँव में ६५%, कूकी में ६१%, खोंड में ४१%, थारू में ५२% तथा सावरा में ५६% है। यद्यपि बोआस के आँकड़े बहुत थोड़े परिवारों पर आधारित हैं, फिर भी उनके आधार पर मोटे तौर से यह तो कह ही सकते हैं कि संसार के अधिकांश अन्य क़बीलों की तुलना में भारतीय क़बीलों की प्रजननता अधिक है; सम्भवतः इसका यह कारण है कि अन्य देशों की तुलना में यहाँ पर बाह्य सम्पर्कों का विनाशात्मक प्रभाव नहीं पड़ा है। जबकि अन्य भागों में जहाँ कि श्वेतांग जा बसे हैं, क़बीली लोग लुप्त हो चुके हैं या मरणोन्मुख हैं, पर भारत में उनकी प्रचुर प्रजननता जारी रही है। यद्यपि खोंडों में गुप्त रोगों, विशेषकर आतशक के कारण, मृतजात बच्चों की संख्या बहुत अधिक है। इस प्रचुर प्रजननता का प्रमुख कारण स्वभावतः

उनका पृथक्करण और शासन की निर्हस्तक्षेप नीति रही है। हिमालय के निचले भागों में आतशक का बहुत जोर है और बहुपतित्व यहाँ निःसंतान विवाहों के लिए उत्तरदायी है। कोरवाओं के अन्तर्जनित समूह की स्त्रियों में बाँझपन बहुत व्याप्त है और यह क़बीला विनाशोन्मुख है। अत्यधिक बाल-मृत्यु-दर अल्प जीवन दर के लिए उत्तरदायी है। इसका मुख्य कारण अनेक क़बीलों के आर्थिक-आधार का परिवर्तन है। अनेक शिकारी क़बीले कृषि अवस्था पर पहुँच गये हैं। इस समायोजन ने निवारण और चिकित्सा की उनकी धारणाओं, संरक्षणात्मक और सृजनात्मक जादू, क़बीली ओझा और देशी जड़ी-बूटियों में उनके विश्वास को छिन्न-भिन्न कर दिया है और अनेक कष्टों की सृष्टि की है।

यदि हम प्रजननता सम्बन्धी सूचनाओं की आसाम के जनसंख्या सुपरिंटेंडेंट (१९३१) द्वारा दी गयी सूचनाओं से तुलना करें, तो इससे यह प्रकट होता है कि उन्नत समूहों की तुलना में क़बीली समूहों की प्रजननता अधिक है। उदाहरण के लिए आसाम के चाय बगानों की कुली जातियों में हर परिवार में औसत संतान की संख्या ३·४ और पहाड़ी क़बीलों में ४·७ हैं और प्रजनन अवधि के अन्त में एक कुली स्त्री की संतान की औसत संख्या ६ और क़बीली स्त्री की ७ या ८ होगी। यदि हम हिंदुत्व ग्रहण करने को उच्च सांस्कृतिक अवस्था मान लें तो कहा जा सकता है क़बीली जनता की तुलना में हिन्दू धर्म में दीक्षित जनता की प्रजननता कम है। यहाँ तक की मरणोन्मुख क़बीलों की प्रजननता भी अधिक है। वेस्टरमार्क ने कई अन्वेषकों का हवाला देते हुए लिखा है कि आदिवासी स्त्रियों की प्रजननता प्रचुर है। अतः हम स्थायी रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं (यद्यपि यह प्रो. कार साण्डर्स की इस अवधारणा के विरुद्ध है) कि पिछड़े हुए क़बीलों की प्रजननता पर्याप्त अधिक है। हमारे द्वारा संकलित वंशावलियों से यह भी सिद्ध होता है कि पिछली पीढ़ियों में यह और भी अधिक थी और बाहरी लोगों के सम्पर्क और परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों ने इसे घटा दिया है। जहाँ पर क़बीलों ने नये आर्थिक आधार के साथ समायोजना स्थापित कर ली है प्रजननता में कमी नहीं हुई है। पर जहाँ अननुकूलीकरण (Maladaptation) उत्पन्न हुआ है, वहाँ केवल प्रजननता ही नहीं घटी है प्रत्युत वहाँ बाँझपन और भ्रूणहत्या ने परिवारों के आकार को और भी अधिक घटा दिया है।

अतएव यदि आदिवासी क़बीलों की जनसंख्या घट रही है, या उसकी ऐसी प्रवृत्ति है, तो इसका कारण उनकी प्रजनन-क्षमता की कमी न हो कर, जीवन की वह नई परिस्थितियाँ हैं, जो कि परिवारों को प्रोत्साहित नहीं करतीं और बड़े परिवारों का चलाना असंभव बना रही हैं। क़बीलों की प्रजनन-शक्ति अभी भी पूर्णतः कुण्ठित नहीं हुई है यह विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों में विद्यमान पुरुषों के अनुपात से जाना जा सकता है। ब्राह्मण इत्यादि उच्च जातियों की तुलना में अभी भी क़बीली जनता में पुरुषों की

संख्या कम हैं। जबकि हज़ार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या ब्राह्मणों में ९०२, कायस्थों में ८८८, राजपूतों में ८६८ है; भीलों में वह ९२१ और संथालों में ९९८ है। इसी प्रकार हज़ार पुरुषों के पीछे जबकि १७ से २३ वर्ष की आयु की स्त्रियों की संख्या भीलों में १०७१ और संथालों में ११९६ है, ब्राह्मणों में वह केवल ९१४, कायस्थों में ९१७, और नाइयों में केवल ९०० है। अन्य जातियों और क़बीलों के आँकड़ों के परिणाम भी इससे भिन्न नहीं होंगे। यदि हम कुछ विद्वानों की भाँति पुरुषों की अधिक संख्या को निम्न प्रजनन-क्षमता का चिह्न मान लें तो हम इन आँकड़ों द्वारा क़बीली जनसंख्या के ह्रास को नहीं समझ सकते।

क़बीलों के बच्चों और बड़ों दोनो में व्याप्त मृत्यु की ऊँची दर शायद ऐसा तथ्य है जिस पर विचार करने की ज़रूरत है। यद्यपि विभिन्न आयु-समूहों में मृत्यु की आयु के आँकड़े बहुत विश्वसनीय नहीं हैं, फिर भी अनेक अन्वेषकों ने आदिवासी क़बीलों में बड़ी उम्र के लोगों की अत्यन्त कमी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वृद्ध ही किसी समाज की संस्कृति के संरक्षक होते हैं और उसकी परम्पराओं को जीवित रखते हैं। क़बीली जनसंख्या में उनका अति अल्प अनुपात क़बीली संस्कृतियों के विघटन का एक बड़ा प्रमाण है। जनसंख्या के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों की तुलना में क़बीलों में ४४ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों का अनुपात बहुत ही कम है। जबकि क़बीली जगत में वृद्ध व्यक्तियों का अनुपात कम है, छः महीने से कम आयु के बच्चों की संख्या का अनुपात उनमें अधिक है। पर क़बीली जनता की अधिक प्रजननता अधिक बाल मृत्यु-दर द्वारा बराबर हो जाती है और उच्च जातियों की माताओं की तुलना में उनकी संतान की संख्या अधिक नहीं रह पाती है।

हमारे द्वारा कुछ कोरवा, थारू, और हो ग्रामों में संकलित जन-मृत्यु-दर के आँकड़ों से यह सिद्ध होता है कि मरणोन्मुख कोरवाओं में भी जन्म-दर मृत्यु-दर से कुछ अधिक है और वृद्धि के लिए वहाँ भी कुछ गुंजाइश है, यद्यपि सब गाँवों में जन्म दर पर्याप्त ऊँची है। अन्य क़बीलों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में क़बीली जीवन के कष्टों ने अभी तक भारत में किसी बड़े संकट की सृष्टि नहीं की है। इससे अधिकांश नृतत्त्ववेत्ता सहमत हैं। फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि आदिवासी क़बीलों की शिकायतों को दूर करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाये। इनमें से अनेक कष्टों का समाधान हो सकता है और यह कहना सम्भवतः सत्य है कि इनमें से अधिकांश कष्ट तथाकथित सभ्यता से क़बीली जनता के सम्पर्क का परिणाम हैं। समस्त ऐतिहासिक काल में आदिकालीन और पिछड़े हुए क़बीले बाहरी लोगों के सम्पर्क में आते रहे हैं पर आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत, यहाँ तक कि जहाँ पर उन्होंने जाति-समूहों की कृषि-अर्थ-व्यवस्था को भी अपना लिया, क़बीली लोग अपने पुराने पेशों को करते रहे और कृषि-व्यवस्था ने प्रतियोगिता और

विघटन से उनकी रक्षा की। किन्तु संचार के साधनों के द्रुत विस्तार और रेलों और सड़कों के असाधारण विस्तार ने क़बीलों को आधुनिक युग की आर्थिक शक्तियों के सम्मुख ला पटका। राज्य की पुरानी निरहस्तक्षेप और मुक्त व्यापार नीति ने संगठित समूहों को तो अवश्य लाभ पहुँचाया, पर इस प्रतियोगिता से क़बीलों को पर्याप्त हानि उठानी पड़ी। भावी क़बीली नीति को निर्धारित करते समय हमें इस तथ्य तथा क़बीलों की जनसंख्या से सम्बन्धित जन्म मृत्यु की सूचनाओं को ध्यान में रखना ज़रूरी है। तभी वह सफल हो सकती है, अन्यथा शासन की संरक्षणात्मक व्यवस्था भी उनके विनाश या विघटन का कारण बन सकती है।

अध्याय ११

क़बीली पुनर्वासन

भारत के प्रायः सभी क़बीले उन्नत सांस्कृतिक समूहों के किसी न किसी प्रकार के सम्पर्क में आ चुके हैं। उन्हें मिशनरियों, प्रशासकीय अफ़सरों, ठेकेदारों, उनके गुमाश्तों या ऐसे जमादारों, जो कि दूर स्थित चाय बगानों और सीमा स्थित नगरों के लिए मज़दूरों की भरती करते हैं तथा फेरीवाले जो कि नाना प्रकार के विदेशी और कारख़ानों के बने हुए माल बेचते हैं तथा जंगल विभाग के निम्न कर्मचारियों, या राजस्व विभाग के पटवारियों या अन्य सरकारी कर्मचारियों के सीधे सम्पर्क में आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदा-कदा पर्यटकों, वैज्ञानिकों और राजनीतिक नेताओं से भी उनका संपर्क होता है। इनमें से कुछ साधन संगठित और कुछ असंगठित हैं जिनके द्वारा क़बीली क्षेत्रों में आज सभ्यता का प्रसार हुआ है। निम्न लिखित प्रकार से एक सभ्यता आदिम क़बीलों को प्रभावित कर सकती है।

१—क़बीली-क्षेत्रों में कोयले या विभिन्न धातुओं की खानों का विद्यमान होना, जैसे कि बिहार और बंगाल के कोयले और लोहे की खानों के क्षेत्र विभिन्न अपरिचित लोगों के आवास को प्रोत्साहित करते हैं। इनमें से अनेक लोगों को इन नये स्थानों में बसना पड़ता है।

२—दूरस्थित बगानों या कारखानों में क़बीली श्रमिकों के आगमन द्वारा। उदाहरण के लिए आसाम और पूर्वी-बंगाल में बड़ी संख्या में क़बीली श्रमिक ठेकेदारों द्वारा भरती होकर काम कर रहे हैं। कृषक भू-स्वामित्व के समाप्त हो जाने या अपनी ज़मीन के दूसरे के हाथ में चले जाने के कारण प्रायः ऐसा हुआ है।

३—विभिन्न संवहन और संचार के विस्तार, रेलों और सड़कों के प्रसार ने आश्चर्यजनक गति से भूमिहीन क़बीली जनता के संकोच को कम कर दिया है और बहुत से भूमिहीन क़बीली परिवार स्टेशनों के आस-पास बस गये हैं। इनमें से अनेक वहाँ पर बसे हुए दूसरी जातियों के लोगों की सेवा कर अपनी जीविका उपार्जित करते हैं।

४—अभेद्य क्षेत्रों में विभिन्न ईसाई मिशनों की स्थापना ने क़बीली संस्कृतियों पर अमिट प्रभाव डाला है। क़बीली जनता ने मिशनों से संकट में सहायता

या ज़मींदार और बनियों से लड़ने की शक्ति पाई है और ईसाई-धर्म अपनाकर इस सहायता के ऋण को चुकाया है।

५—विभिन्न प्रशासकीय अफ़सरों, जन-स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों, जंगल विभाग के अफ़सरों और कारिन्दों, ठेकेदारों, व्यापारियों, वकीलों, उनके प्रचारकों, पुलिस के लोगों के साथ क़बीली जनता के स्थायी या अस्थायी सम्बन्ध स्थापित हुए हैं। यह सभी सम्बन्ध स्थानीय संस्कृतियों में विशृंखलता और अव्यवस्था उत्पन्न करने का कारण बने हैं। अन्य सब कारणों से भी अधिक प्रबल कारण, जिसके द्वारा क़बीली जनता सभ्यता के सम्पर्क में आयी, वह महायुद्ध था। युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था के संघात ने क़बीलियों की आत्म-निर्भर अर्थ-व्यवस्था और क़बीलों के नैतिक नियमों को छिन्न-भिन्न कर दिया है।

सम्पर्क के परिणाम

उक्त सम्पर्कों से जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हें हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं:—

१—उन क़बीली क्षेत्रों में जहाँ क़बीलियों पर देश के कानून और क़बीली कानून द्वारा शासन नहीं होता, बाहरी शासन की स्थापना ने शोषण को प्रोत्साहित किया है। श्री रॉय के अनुसार सब सद्भावनाओं के उपरान्त, जजों, न्यायाधीशों, मजिस्ट्रेटों और सब श्रेणी के पुलिस-अफ़सरों के द्वारा आदिवासियों के साथ अन्याय हुआ है। इसका मुख्य कारण जिन क़बीलों से सम्पर्क में आना पड़ता है उनके रीति-रिवाजों और मनोवृत्ति का अज्ञान है। सर्वत्र ही आदिवासी प्रायः मौन रहना पसन्द करता है और बहुत कम अपनी कठिनाइयों को दूसरों के सम्मुख रखता है। वह हर बाहरी चीज़ से शर्माता और कतराता है। वह बाहरी अदालतों की कार्य-विधि को नहीं समझता और न ही वह प्रायः अधिकारियों के पास अपनी कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रार्थना करने जाता है। प्रशासन की यूरोपीय प्रणाली पर आधारित जाँच करने के तरीके आदिवासी की बुद्धि के बाहर हैं।

२—क़बीली क्षेत्रों में घर पर स्वयं शराब बनाने पर प्रतिबन्ध ने खानों और औद्योगिक क्षेत्रों में जहाँ पर क़बीली लोग प्रायः रोज़गार के लिए जाते हैं, शराबखोरी और अनैतिकता में वृद्धि कर दी है। श्री रॉय ने ठीक ही लिखा है कि सरकार द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में भट्टी द्वारा बनी शराब के प्रलोभन ने, जिसे सरकार क़बीली क्षेत्रों में ले गयी है, ऐसी बुराइयाँ उत्पन्न की हैं जिन्होंने उन्हें आर्थिक, नैतिक और शारीरिक हानि पहुँचायी है। डॉक्टर हटन ने आसाम के पहाड़ी क़बीलों में आबकारी शासन की आलोचना करते हुए लिखा है—"घर की निकाली हुई शराब जो चावल, मकई या अन्य अनाज से बनाई जाती है, सम्भवतः विटैमिनों का मुख्य साधन है और कुछ अंश तक यह वहाँ पर्याप्त मात्रा में न मिलनेवाली शक्कर को स्थानापन्न करती है। पहाड़ों में

भट्टी की शराब बनाने पर रोक लगाना ठीक है लेकिन सरकारी आबकारी की दुकानें जिनका भट्टी की शराब पर एकाधिकार है, घर की निकाली शराब को समाप्त करती जा रही हैं। लालुंगू, मिकिर और कछारी क़बीलों में ऐसा ही हुआ है। इस प्रकार अर्क के लिए एक हानिप्रद लत पैदा कर दी है।"

एक आदिवासी मज़दूर जब पहले पहले किसी कारखाने या खान में काम करने जाता है तो वह घर की बनी शराब का एक मटका साथ ले जाता है जो भोजन और नशा दोनों का काम करती है। लेकिन जब वही व्यक्ति घर लौटता है तो उसके हाथ में अर्क की बोतल होती है जो उसे कहीं अधिक नशा देती है और नये वातावरण में उसमें अपने सब नये कष्ट यहाँ तक कि अपनी स्त्री और बच्चों को, जिन्हें वह घर पर छोड़ आया है, भुलाने की क्षमता उत्पन्न करती है। एक बार जब उसे भट्टी की बनी शराब का चस्का लग जाता है तो उसे घर की निकाली हल्की शराब नहीं भाती। यही कारण है कि छोटा नागपुर और अन्य क़बीली क्षेत्रों में भट्टी की शराब की माँग बढ़ती जा रही है यद्यपि अभी भी उत्सव और विवाहों पर तथा आतिथ्य और मनोरंजन के दायित्व को निभाने के लिए घर पर ही शराब निकाली जाती है। नागा और मिकिर लोगों में अफ़ीम का प्रचार बढ़ गया है और इसको नियंत्रित करने के लिए सरकार को विभिन्न प्रतिबन्ध लगाने पड़े हैं। आओ क्षेत्र में सख़्त सरकारी कार्यवाही को इसके उच्छेदन में सफलता मिली है।

३—बहुत से क़बीले शिकार और जंगल के पदार्थों को संचय कर अपनी जीविका चलाते हैं। इसके साथ ही वह झूम अर्थात् एक स्थान पर जंगल जला कर वहाँ खेती कर और पुनः उसे खाली छोड़ नये स्थान पर जंगल जलाकर खेती करते हैं। जहाँ कहीं भी नये जंगलों की प्रचुरता है, कृषि की यह रीति प्रचलित है और इसे विभिन्न स्थानों में विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। झूम या डाहिया एक विनाशकारी कृषि-पद्धति है। इसके कारण आदिवासियों द्वारा अनेक स्थानों पर जंगलों का भीषण विनाश हुआ है। पहाड़ों के ढालों पर से पेड़ों का सफ़ाया हो गया है जिससे ज़मीन का कटाव बढ़ गया है। बाढ़ों में वृद्धि हुई है जिसने अत्यन्त विनाश की सृष्टि की है। जहाँ पर सिंचाई सुगम नहीं है, जैसे पहाड़ों पर, वहाँ वर्षा जंगलों के बढ़ाव पर निर्भर है, साथ ही झूम से उनका बढ़ाव रुक जाता है। लेकिन ऐसी स्थिति में बिना झूम के उन्हें भोजन प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव उनके पास झूम के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जाता। सिंचाई की क्यारियों को स्थायी जल-पूर्त्ति की आवश्यकता होती है पर वह स्वयं जंगल के बढ़ाव पर आश्रित हैं। इसलिए जब एक बार पहाड़ियों की चोटियों के जंगल कटे तो एक दुश्चक्र की सृष्टि होती है। बिना पानी के क्यारियों का कोई अर्थ नहीं, बिना जंगलों के पानी नहीं मिलता। जंगल खत्म हो गये हैं और जब तक उनका पुनरुद्धार नहीं होता क्यारियाँ नहीं बन सकतीं, इस बीच निरन्तर झूम-कृषि ज़मीन के कटाव को

बढ़ाती रहती है। आख़िर लोगों को अपना पेट भरने के लिए चावल पैदा करना ही है।

झूम-कृषि के परिणामों ने जंगल को काटे जाने के सम्बन्ध में सख़्त नियम बनाने की आवश्यकता उपस्थित की। आज बहुत से पहाड़ी क़बीले जो झूम-कृषि पर आश्रित थे, मैदानों में प्रचलित अन्य कृषि पद्धतियों को न अपना सके और उन्हें भी मैदानों में आना पड़ा। इसके लिए क़बीली लोगों की निष्क्रियता, संकोच वृत्ति और प्रशासन की उदासीनता उत्तरदायी हैं और जैसा कि डॉक्टर हटन ने कहा है—अन्य प्रकार की कृषि के लिए आवश्यक उचित जादुई धार्मिक-विधि-विधान का अज्ञान भी इसका कारण हो सकता है। बहुत से स्थानों में क़बीली लोगों द्वारा 'झूम' के लिए प्रयोग में लायी जाने वाली ज़मीनें उनसे ले ली गई हैं और उनमें से कुछ लोगों ने स्थायी कृषि को अपना लिया है जो उनके अनुकूल नहीं है या जिस कृषि के देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उनके पास उचित भेंटें और बलि नहीं हैं।

यह भी सर्वथा सत्य नहीं है कि नियंत्रित अवस्थाओं में भी झूम-कृषि जंगलों के विकास के मार्ग में बाधक है। जहाँ बस्तियों के लिए जंगल साफ़ कर दिए गये हैं स्थायी कृषि ने जंगलों के अन्तर्गत भूमि के क्षेत्र को घटा दिया है। चूँकि भारत के अनेक राज्यों में आवश्यकता से अधिक जंगल हैं, जंगलों की ऐसी कटाई की स्वीकृत दे दी गई और आसाम के बहुत से भागों में हलों का प्रवेश हो गया। ऐसे क्षेत्रों में झूम कम हानिप्रद सिद्ध होती है क्योंकि इसके अन्तर्गत फ़सल उठने के बाद जब तक वहाँ पर दुबारा जंगल न उग आएँ तीन चार साल तक ज़मीन खाली छोड़नी पड़ती है।

झूम से दो अन्य परोक्ष लाभ हैं। झूम-कृषि पशुओं की वृद्धि के प्रतिकूल नहीं है जबकि संगठित कृषि में उनका रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्थानान्तरित कृषि के अन्तर्गत क़बीली जनसंख्या काफ़ी कम रहती है। भारतीय जन-संख्या के विद्यार्थियों के लिए यह स्थिति चिन्ताजनक नहीं कही जा सकती।

४—तथाकथित सभ्यता के सम्पर्क में आने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव क़बीली क्षेत्रों में विभिन्न रोगों का प्रसार है। आज केवल संचार के साधन ही सुलभ नहीं हो गये, रोग भी अधिक शीघ्र फैलने लग गये हैं। जिन कारणों से क़बीली-क्षेत्रों में संक्रामक रोग फैलते हैं वे स्वास्थ्य अधिकरियों को सर्वविदित हैं। क़बीली क्षेत्रों से कारखानों और बगानों में श्रमिकों का निष्क्रमण क़बीली जनता के अनुकूल नहीं सिद्ध हुआ है। इसका परिणाम यह है कि क़बीली इकाइयों और अन्तःस्थित क्षेत्रों में निरन्तर आना-जाना जारी है। इस प्रकार एक रोग की छूत सुदूर-स्थित क़बीली प्रदेशों में पहुँच जाती है। सामाजिक नियंत्रण से मुक्त स्वाधीन जीवन का प्रलोभन स्त्रियों को बगानों और कारखानों की ओर आकर्षित करता है, वहाँ उन्हें व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त होता है। श्रमिकों में रतिज रोगों का कारण हम स्त्री-पुरुषों के

इन स्वच्छन्द सम्बन्धों में ढूँढ़ सकते हैं। मिशनरी और अन्य प्रकार की परोपकारी संस्थाओं की असावधानी ने तपेदिक और अन्य सम्पर्क-जनित रोगों के प्रसार में हाथ बँटाया है। उदाहरण के लिए वह बहुत बार मुर्दों या दूसरे लोगों द्वारा प्रयुक्त पुराने कपड़ों को इकट्ठा कर क़बीली लोगों में बाँटते हैं। इस प्रकार के कपड़े छूत की बीमारियों के घर कहे जा सकते हैं।

नागा देश में कृषि के लिए प्रयुक्त क्यारियों ने सिंचाई के साधनों की आवश्यकता उत्पन्न की है। इस प्रकार मच्छर और मलेरिया उत्पन्न होने के विस्तृत क्षेत्रों का निर्माण हो गया है। इन नये रोगों के उपचार के लिए क़बीली जनता के पास अपनी कोई प्रभावशाली औषधि नहीं है और वह उनके सामने अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करते हैं। उनकी अपनी बीमारियाँ भी उनके जादू और अनुष्ठानों और नुस्खों से ठीक नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए थारू लोगों में कम से कम एक तिहाई स्त्रियों आँख के कुकरों (Trachoma) रोग से पीड़ित हैं। योज़ (Yaws) एक अन्य बीमारी है जिसका प्रभाव बिगड़ी हुई गर्मी (Syphilis) के समान है जो कि प्रायः मंगोलीय क़बीलों में फैली हुई है। गोडों में भी वह बीमारी पायी जाती है। इस बीमारी के कारण अनेक अंग गल जाते हैं और शरीर विकृत हो जाता है।

५—विदेशी माल बेचनेवाले, फेरीवाले, साहूकार, आबकारी दूकानों के ठेकेदार, लाख, शहद और अन्य जंगल के पदार्थों को एकत्र करनेवाले व्यक्ति प्रायः ग़ैर-क़बीली होते हैं। वह क़बीली क्षेत्रों में बस गये हैं और मुद्रा-विहीन क़बीली अर्थ-व्यवस्था के मुद्रा-व्यवस्था में रूपान्तरित होने का अनुचित लाभ उठा रहे हैं। मुद्रा-व्यवस्था की पेचीदगियों से परिचित होने के कारण यह लोग क़बीली क्षेत्रों में बुरी तरह घुस गये हैं और क़बीली जनता के लिए घोर कष्ट का कारण बने हैं।

बहुत से क्षेत्रों में जहाँ विशेष क़ानूनों द्वारा आदिवासियों के भूमिगत स्वार्थों को संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ है, आदिवासियों के हाथ से उनकी ज़मीन साहूकारों और सूदखोरों के हाथ में चली गई हैं जहाँ कि क़बीली लोगों को ही उनका नौकर बनकर काम करना होता है और उन्हें अपनी उपज के अल्प अंश से ही संतुष्ट होना पड़ता है। जहाँ भूमि हस्तान्तरित नहीं की जा सकती वहाँ आदिवासी कृषक को विशेष अनर्हताओं और शोषण का शिकार बनना पड़ता है और दास का सा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अनेक क़बीली भागों में कानून-संरक्षण प्राप्त होने के बावजूद, बनियों की समस्या इतनी गम्भीर बन गयी है कि क़बीली जनता को उनके चंगुल से निकालना प्रायः असम्भव हो गया है। ऋणदाता और ऋणी के आपसी रिश्तों से सम्बन्धित परम्परागत विश्वास कानूनी सुविधाओं को निरर्थक बना देते हैं क्योंकि बहुत कम लोग उनका फायदा उठाना चाहते हैं। सन् १९४७ में बंगाल सरकार ने पिछड़े क़बीलों और जातियों के हितों के संरक्षण के लिए विशेष अफ़सरों की नियुक्ति की लेकिन यह उनका विशेष कल्याण न कर

सके। जब तक कबीली जनता के सामान्य ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाती, इस दिशा में अधिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

अनेक क़बीली क्षेत्रों में मुझे इन विशेष अफ़सरों से मिलने और क़बीली समस्याओं पर बातचीत करने का अवसर मिला है। लेकिन मैंने देखा कि उनमें से बहुत कम को ही अपने कार्य के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त है और क़बीली जनता से वास्तविक सहानुभूति है। न वह उनकी भाषा जानते हैं न ही उन्हें उनकी संस्कृति का ज्ञान है। उनमें से कुछ यह समझते हैं कि क़बीली जनता एक कोरी पटिया की तरह है जिस पर वह जो चाहे लिख सकते हैं। वह नहीं समझते कि देश के जीवन में क़बीली संस्कृतियों को भी कोई महत्त्वपूर्ण योगदान करना है। क़बीली क्षेत्रों के लिए कोई नियोजित अर्थव्यवस्था नहीं है। सहायता करने की इच्छा रहते हुए भी आवश्यक साधनों और योग्यता का अभाव है।

सन् १९४६ में मुझे पश्चिमी खानदेश में एक भील-उत्थान अधिकारी के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इस युवक और सक्रिय अधिकारी को भील और साहूकारों के बीच कुछ संघर्ष होने के समय पर्याप्त ख्याति मिली। इस अधिकारी ने साहूकारों की निन्दा की और उनके शोषण के विरुद्ध भीलों को संगठित किया। उसने भीलों के उत्थान की एक योजना बनाई जिसमें भील देश से बनियों का निकाला जाना तथा वधू-मूल्य से लेकर झाड़-फूँक और शराबखोरी से लेकर स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों जैसी विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर आक्रमण किया गया था। इन सामाजिक समस्याओं को नाटकीय रूप दिया गया और इसके लिए एक आन्दोलन खड़ा किया गया जिसका उद्देश्य भील समाज को परम्परागत विश्वासों और व्यवहारों से मुक्त करना था। एक नाटक-मंडली संगठित की गयी जो साहूकारों के शोषण, पटेलों की नाजायज़ वसूलियों और ओझाओं की ज्यादतियों का गाँव-गाँव में जाकर प्रचार करती थी। भीलों को उनके अधिकारों और उनकी ज़मीन पर उनके स्वामित्व तथा उनकी संघर्ष करने की योग्यता से अवगत कराया गया। इन अन्तिम कार्यवाहियों ने इस कल्याण-अधिकारी के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ उत्पन्न की जिनमें से अनेक सर्वथा निराधार थीं किन्तु शासन और वैज्ञानिकों के लिए भील संस्कृति के प्रति इस अधिकारी का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण था।

मान लीजिए यह अधिकारी भीलों में उनके विश्वासों और व्यवहारों में अनास्था उत्पन्न करने में सफल हो जाता तो उसके क्या परिणाम हो सकते थे? अगर साहूकार भील देश को छोड़ कर चले जाते, कुछ भील स्वयं उनका स्थान ले सकते थे। किन्तु एक बार भीलों के रीति-रिवाजों, व्यवहारों, उनके ओझाओं, पुरोहितों का उपहास कर और उनके प्रति एक उपेक्षा का भाव उत्पन्न करने पर भील संस्कृति में क्या बच रहता? उसकी एकता को किस प्रकार जीवित रक्खा जा सकता? यह ठीक है कि सम्मोहन

और झाड़-फूँक या जादू-टोना औषधियों का काम नहीं कर सकते, किन्तु जब औषधियाँ उपलब्ध नहीं होतीं तो यह संकट और चिन्ता के समय जनता में साहस उत्पन्न कर क़बीली जनता को ढाढ़स बंधाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते ही हैं। यदि क़बीली विश्वासों को समाप्त करना ही है तो यह आवश्यक है कि उनको जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा स्थानापन्न किया जाये। लेकिन भील या अन्य क़बीली संस्कृतियों में फिलहाल यह सम्भव नहीं है। यही नहीं, बल्कि अधिक उन्नत सामाजिक वर्गों में भी अभी ऐसा नहीं हो सका है। यही कारण है कि नृतत्त्ववेत्ता क़बीली संस्कृतियों के संरक्षण की मांग करते हैं, क्योंकि क़बीली विश्वासों और व्यवहारों की विस्तृत-विश्रृंखलता कभी भी अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकती। इसका केवल यही परिणाम होगा कि वे अपनी परम्परागत जीवन रीति के प्रति उदासीन हो जायँ।

क़बीली संस्कृतियों के रूपान्तरण की प्रक्रिया

क़बीली संस्कृतियाँ प्रायः एक या अनेक निम्न लिखित प्रक्रियाओं द्वारा रूपान्तरित होती हैं :

१—सामान्य रीति से ग्रहण (Adoption or taking over)

२—पर-संस्कृति-धरण (Acculturation) जिसमें दो चीजें संमिलित हैं : (क) स्वीकृति (Acceptance) और अनुकूलन (Adaptation)

३—सात्मीकरण (Assimilation); (क) सामाजिक एकपाकता (Social Commensalism) (ख) बहु-साहचर्य (Plural-association)

सामान्य आग्रहण (Adoption) का अर्थ एक सामाजिक समूह द्वारा दूसरे सामाजिक समूह की टेक्निकल दक्षता, नये औज़ारों, यंत्रों, रीति-रिवाज़ों और अनुष्ठानों को ग्रहण करना है। थाना ज़िले के, विशेषतः उसके दक्षिणी भाग के, वार्ली क़बीले के लोग अभी भी अत्यन्त सादगी से रहते हैं। वह कमर पर कपड़े का एक छोटा-सा टुकड़ा पहनते और शेष अंग खुला रखते हैं जबकि उनके ही साथी जो कोलियों के अधिक सम्पर्क में आ चुके हैं उनके अनुकरण में, छोटी धोती और लाल पगड़ी पहनने लगे हैं। वार्लियों की स्त्रियाँ हाथ में केवल चूड़ियाँ पहनना पसन्द करती हैं और पैरों में कुछ नहीं पहनती, लेकिन अधिक दक्षिण में वह टखनों से लेकर घुटनों तक और हाथों में कलाई से लेकर कुहनी तक पीतल के बने ठोस कड़े और चूड़ियाँ पहनती हैं। पड़ोसी समूहों से भौतिक संस्कृतियों के अनेक तत्त्वों का इस प्रकार ग्रहण करना हम आज सभी क़बीलों में देख सकते हैं और इस प्रकार का आग्रहण (Adoption) उनके मूलभूत सांस्कृतिक दृष्टिकोण में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं लाता।

सभ्यता के सम्पर्क में आया हुआ क़बीला अपने पड़ोसियों के कुछ गुणों को स्वीकार कर सकता है। क़बीले द्वारा गुणों के सामाजिक मूल्यों और उनकी पेचीदगियों को बिना

समझे हुए भी ऐसा हो सकता है। बिहार के कुछ क़बीलों में स्वजातीय रस्मों और उत्सवों पर हिन्दू पुरोहितों से काम लेना सामान्य स्वीकृति का उदाहरण है। क़बीले के कुछ सदस्य जो शहरी केन्द्रों के अधिक समीप या क़बीली गाँवों से दूर रहते हैं वे अपने निकट सम्बन्धियों से अधिक अजनबी लोगों के सम्पर्क में आते हैं। उनकी बहुत-सी क़बीली रस्में मौलिक रूप में नहीं पूरी की जा सकती हैं जबकि उनके पड़ोसियों की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाले हिन्दू पुरोहित आसानी से मिल जाते हैं। बहुत से क़बीली परिवार अपनी स्वजातीय रस्मों को पूरा करने के लिए नहीं प्रत्युत काली या चेचक, हैज़ा और अन्य महामारियों की देवियाँ और शिव, नारायण आदि हिन्दू-देवताओं की पूजा के लिए हिन्दू-पुरोहितों को अपने यहाँ बुलाते हैं। उन्हें इन देवी-देवताओं में पूर्ण विश्वास करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु वह यह सोचते हैं, कि हिन्दू पुरोहित को बुलाकर वह देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं या अज्ञात आपत्तियों से बच सकते हैं। उत्तरी बंगाल के राजवंशी क़बीलों द्वारा हिन्दू पुरोहितों का प्रयोग इससे भिन्न है। यह लोग द्विजपद का दावा कर रहे हैं और पौन्ड्र क्षत्रिय कह कर अपने को मूलतः हिन्दू सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ हर जगह यज्ञोपवीत ने क़बीलों को केवल हिन्दू धर्म में ही दीक्षित नहीं किया, प्रत्युत उनमें अपनी शक्ति और योग्यता के सम्बन्ध में विश्वास उत्पन्न किया है और यज्ञोपवीत संस्कार दीक्षा-सम्बन्धी क़बीली नियमों का अंग बन गया है।

बाहरी लोगों से सम्पर्क होने से जो परिवर्तन घटित होता है वह पर-संस्कृति-धरण (Acculturation) है। सभ्यता के सम्पर्क ने भारत की क़बीली जनता के विभिन्न वर्गों को विभिन्न रूप से प्रभावित किया है। अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया की प्रजातियों ने यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत श्वेत सभ्यता के अनेक गुणों को अपना लिया है। आसाम की पहाड़ियों और छोटा नागपुर के पठार के क़बीली लोगों में नई शिक्षा पाने की इच्छा बलवती है और शिक्षा को उन्नति का साधन समझा जाने लगा है। मुंडा, उराँव और उनके समवर्ती क़बीले यह समझने लगे हैं कि वह अपने बच्चों को नई शिक्षा दिला, प्रशासकीय पदों पर नियुक्त करा सकते हैं। आसाम के क़बीलों में भी ऐसी ही धारणा पाई गई है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार, उत्तराधिकार और परिवार के पितृमूलक रूप के ईसाई विचार संथालों को तथा गारों और खासियों की मातृमूलक व्यवस्था को प्रभावित कर रहे हैं। खासियों में सबसे छोटी कन्या द्वारा सम्पत्ति के पाने की प्रथा के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हो गई है और गारो भी अभी तक मातृ-वंशीय उत्तराधिकार के औचित्य के सम्बन्ध में निश्चय नहीं कर सके हैं। उनमें से इसाई धर्म-दीक्षित लोग क़बीली विधान में उन बातों को ढूँढ़ने लगे हैं जो कि शायद उसमें नहीं थी।

पर-संस्कृति-धरण की प्रक्रिया स्वीकृति या अनुकूलन हो सकती है। मुंडा क़बीलों ने

अपने पड़ोसी क़बीलों के सांस्कृतिक गुणों को स्वीकार कर लिया है। राजवंशियों ने अपने को हिन्दू संस्कृति के अनुकूल बनाया है। इससे जहाँ राजवंशियों को हिन्दू-पद प्राप्त हुआ है वहाँ कुछ अनर्हताएँ भी प्राप्त हुई हैं। राजवंशियों का हिन्दू-समाज द्वारा बहुत अंशों में पर-संस्कृति-धरण हुआ है। फिर भी अपने क़बीली संगठन की संरचना के प्रति उनकी धारणाओं में विशेष विघ्न नहीं पड़ा है। उदाहरण के लिए जहाँ एक ओर वह अपने को एक गोत्र, कश्यप का वंशज होने का दावा करते हैं जो कि हिन्दू विधान के अनुरूप है, वहीं दूसरी ओर वह अपने ही गोत्र में विवाह कर उस विधान के प्राथमिक नियम का ही उल्लंघन करते हैं।

दक्षिण भारत के ख़ानाबदोश क़बीले लंबाड़ियों ने खेती करना शुरू कर दिया है तथा अपने पड़ोसियों की वेश-भूषा को ग्रहण कर लिया है। कुछ लंबाड़ियों ने संप्रदायों के आधार पर जातियाँ भी बना ली हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय ने कुछ गोत्र भी ग्रहण कर लिए हैं, और वह विवाह सम्पन्न कराने के लिए ब्राह्मण भी बुलाने लगे हैं। मूलतः उनमें ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह प्रचलित न था किन्तु अपने पड़ोसियों की देखा-देखी वह भी ऐसा करने लगे हैं। गोंड़ों, राजगोंड़ों और नवधरिया गोंडों के कुछ वर्गों में भी इसी प्रकार का अनुकूलन घटित हुआ है।

जब कभी विभिन्न समूहों के लोग एक स्थान पर रहने लगते हैं उनके बीच समायोजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है लेकिन जब भी एक समूह अपने व्यवहार में संशोधन नहीं कर पाता या बाध्य हो कर उसे ऐसा करना पड़ता है और इस प्रकार समायोजन में बाधा होती है, तब वह समूह जीवन के प्रति अपनी अभिरुचि खो बैठता है। यह अननुकूलीकरण (Maladaptation) भारत के अनेक आदिम क़बीलों के विनाश का कारण बना है। एक सामाजिक समूह जिसकी जीवन में अभिरुचि विद्यमान है और जिसमें पर्याप्त जीवन-शक्ति है उसे अन्य समूहों के गुणों को ग्रहण करना और पड़ोसी क़बीलों से सहयोग करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार वह अन्य समूहों के साथ सात्मीकरण स्थापित कर सकता है या बिना अपने को उनसे पूर्णतः मिलाये हुए या पूर्णतः मिलाकर, एक पारस्परिक सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

यदि एक क़बीले के लिए विजातीय गुणों को ग्रहण करना आवश्यक है तो यह आग्रहण (Adoption) चुनाव पर आधारित होना चाहिए। क्योंकि इस चुनाव पर ही किसी क़बीले की उन्नति तथा अवनति अवलम्बित हैं। एक सूत्र में बँधा हुआ सामाजिक समूह, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे पर अधिक निर्भर है और जिसके सांस्कृतिक जीवन में असाधारण एकता विद्यमान है, जब ऐसे समूह के सम्पर्क में आता है जिसके सदस्यों के व्यक्तित्व के विकास में एक प्रकार की अनेकता और विघटन उत्पन्न हो गया है और व्यक्तिगत पुरुषार्थ ने सामाजिक एकता पर प्रहार किया है तब ऐसे समूह का संघात एकीकृत समूह के लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं होता।

जैसा कि गोरर ने संकेत किया है कि लेपचाओं में व्यक्तिगत आक्रमणात्मक वृत्ति का अभाव उनमें व्यक्तिगत पुरुषार्थ के दमन का कारण हो सकता है और उससे लेपचाओं के प्रारम्भिक बाल्यकाल में आत्मप्रकाश (Assertion) के अभाव को अंशतः समझा जा सकता है। उनमें अपने सहकर्मियों को विभिन्न व्यक्तियों के रूप में नहीं प्रत्युत समाज के विभिन्न सदस्यों की भूमिका के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति है। इस प्रकार लेपचाओं का एक ऐसे समूह के सम्पर्क में आना जिसमें व्यक्तिगत और क़बीली आक्रमणात्मकता की प्रवृत्ति हो, उनके सात्मीकरण या विनाश का कारण बन सकता है। भारत में और अन्यत्र बहुत से क़बीलों के साथ ऐसी स्थिति में ऐसा ही हुआ है। अतएव, परसंस्कृतिधरण एक चुनाव है और सांस्कृतिक सम्पर्कों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। किस प्रकार क़बीली समूह विजातीय गुणों को ग्रहण करते या उनके साथ सभावस्थापन (Accomodation) स्थापित करते हैं इस बात पर उनका भाग्य निर्भर है। किन्तु पर-संस्कृति-धरण एक लक्ष्य का साधन मात्र है। यह मनुष्य की उसी प्रेरणा पर आश्रित है जिसने उसे विभिन्न औजारों और टैक्निकल प्रक्रियाओं का आविष्कार करने के लिए प्रेरित किया जिससे कि वह अपने वातावरण पर विजय प्राप्त कर सके। दूसरे शब्दों में पर-संस्कृति-धरण अनुकूलन का एक औज़ार है। लापरवाह या नासमझ आदमी के हाथ में एक उपयोगी औज़ार भी कष्ट का कारण बन सकता है, इसी प्रकार अनुकूलन के औज़ार के रूप में पर-संस्कृति-धरण किसी क़बीले या सामाजिक समूह के लिए कष्ट का कारण बन सकता है।

एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहनेवाले विभिन्न विजातीय समाजों के बीच समन्वय स्थापित करने में पर-संस्कृति-धरण को सर्वत्र सफलता नहीं मिली है। हटन का विचार है कि एल्डरमेन से ओर्कनी तक के ब्रिटिश द्वीपों में यह सफल हुआ है लेकिन सेण्ट जॉर्ज चैनल के पश्चिम में इसे विशेष सफलता नहीं मिल सकी है और न ही यह प्रथा जर्मन और वेन्ड लोगों वेस्क या केट्लन और स्पेनिश लोगों, सवॉय में फ्रांसीसियों और इटालियनों के सम्बन्ध में संतोषजनक रीति से सम्पन्न हो सकी। उनका विचार है कि उत्तर भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों में भी पर-संस्कृति-धरण ने अधिक प्रगति नहीं की है। पर-संस्कृति-धरण एक समजीवी (Symbiotic) सम्बन्ध को जन्म के सकता है या पर-संस्कृति-धरण विरोधी प्रक्रिया को उत्तेजित कर सकता है। जब तक कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे द्वारा बिना किसी राजनितिक प्रभुता की सम्भावना के साथ-साथ रहे, पर-संस्कृति-धरण का सुगम रीति से सम्पन्न होता रहा। कांग्रेस के प्रारम्भिक समय का यूरोपीय रंग में रंगा हुआ हिन्दू पर-संस्कृति-धरण का उदाहरण था किन्तु उसका परवर्ती खद्दरपोश सहयोगी पर-संस्कृति-धरण के विरोध (Contra Accultration) को व्यक्त करता है। बाहरी जातियों के सम्पर्क में आने वाले आदिम क़बीलों ने प्रारम्भ में पर-संस्कृति को प्रसन्नता से ग्रहण किया किन्तु आज वह अपने पुराने मित्रों को

अपने से अलग करने लगे हैं और आज कांग्रेस के लिए भी अपने घोषित उद्देश्यों और आदिवासी जनता की आकांक्षाओं के बीच समझौता स्थापित करना कठिन हो गया है।

किन्तु एक समूह जो कि एक बार पर-संस्कृति-धरण से गुज़र चुका है, उन्नत संस्कृतियां के उन गुणों को जिन्हें वह अपनी संस्कृति में स्थान दे चुका है, केवल चाहने मात्र से छुटकारा नहीं पा सकता। वह पर-संस्कृति से जिन तत्त्वों को लेता है उनकी मात्रा और उनसे लगाव में अन्तर होता है। और वह समान रूप से या परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित नहीं होता। हर्ट्ज़लर के अनुसार समाज के उच्च वर्गों में सांस्कृतिक अभिरुचियों की अधिक विभिन्नता, परिणामतः विदेशी तत्त्वों को ग्रहण करने की अधिक सम्भावना रखती है, जबकि निम्न वर्गों में, जो कि प्रजातीय और प्राथमिक समूही धारणाओं से उत्पन्न सामाजिक पृथक्करण द्वारा अधिक बँधे रहते हैं, उनमें संस्थाओं की अधिक संकीर्णता होती है और वह उस पर अधिक दृढ़ता से चिपके रहना चाहते हैं। अय्यप्पन ने संस्कृति के विदेश तत्त्वों की स्वीकृति को समूहों की सांस्कृतिक सम्पत्ति के अनुपात में पाया। दक्षिण के ब्राह्मणों, विशेषकर नम्बूद्रियों पर अल्प विदेशी प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अंग्रेजी संस्कृति को अस्वीकार ही नहीं किया प्रत्युत उसके प्रति घृणा भी व्यक्त की है, जबकि निम्न जाति नायरों और इरुवाओं ने पाश्चात्य संस्कृति से प्रत्येक अवसर पर लाभ उठाया है। यदि पर-संस्कृति-धरण अनुकूलन का एक साधन है, तो पर-संस्कृति-धरण की मात्रा समूह की वास्तविक या काल्पनिक आवश्यकताओं पर अवलम्बित होगी।

पर-संस्कृति-धरण पर-संस्कृति ग्रहण करने वाले समूह की धारणाओं पर भी अवलम्बित है। एक विदेशी गुण की स्वीकृति समूह के स्वभाव की अवस्थाओं और सामाजिक वातावरण द्वारा निर्धारित होती है। एक क़बीला अन्य क़बीले के आर्थिक दृष्टिकोण से अप्रभावित रहता हुआ भी उसकी वेश-भूषा और आभूषणों को ग्रहण कर सकता है। बहुत से नागा गाँवों ने उत्तल (Terrace) कृषि को ग्रहण नहीं किया क्योंकि उसके लिए ऊँचाई से पानी लाने के लिए नालियों की व्यवस्था करनी पड़ती है और वह सिंचाई के देवता की मनौती की रीति नहीं जानते, जिसके अभाव में, उसके अनुसार, कृषि विनाशकारी सिद्ध हो सकती है। ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रभावित खासियों ने रहन-सहन के उच्च-स्तर के महत्त्व को समझ लिया है और आलू की पैदावार अपना ली है, जो कि उनके लिए एक आर्थिक वरदान सिद्ध हुई है पर जिसने ऐसी अनेक समस्यायें खड़ी कर दी हैं जिनका वह समाधान नहीं ढूँढ़ सके हैं। अत्यधिक बुवाई ने जमीन की उपज-शक्ति नष्ट कर दी है। मुक़दमेबाजी बढ़ गई है, विवाह और सामाजिक कृत्यों सम्बन्धी विधान की पवित्रता नष्ट हो गई है और रुपया कमाने की झोंक ने खासियों को धूर्त विदेशियों के चंगुल में फँसा दिया है।

अतएव पर-संस्कृति-धरण का अर्थ केवल जीवित रहना ही नहीं है। बहुत से क़बीले जो कि पर-संस्कृति-धरण का अनुभव कर चुके हैं उन्हें स्वीकृति या अनुकूलन के परिणाम-स्वरूप कष्ट भोगना पड़ा है। इसीलिए क़बीली जनता और उन्नत वर्गों में पर-संस्कृति-धरण-विरोधी प्रक्रिया भी दिखाई पड़ती है। बहुत पहले से ही पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आए मध्यमवर्गों में जीवन का संघर्ष बढ़ गया है क्योंकि वह अपनी सीमित आय से पर-संस्कृति के प्रभाव द्वारा उत्पन्न आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। यही कारण है कि मध्यमवर्ग आज एक रोगी समूह बन गया है। वह साम्यवाद की ओर आकर्षित होता है किन्तु किसी आदर्शवाद से प्रेरित हो कर नहीं वरन् इसलिये कि वह अपने नये आर्थिक स्तर पर पर-संस्कृति-जन्य सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता।

यदि सर्वत्र पर-संस्कृति-धरण को सफलता नहीं मिली या कुछ स्थानों पर पर-संस्कृति-धरण-विरोधी प्रवृत्ति लक्षित हुई है तब भी विभिन्न समूहों के बीच सांस्कृतिक समायोजन की अन्य सम्भावनायें विद्यमान है। डा. नाडेल ने अपने लेख 'सामाजिक समजीविता (Social Symbiosis)' में उन चार विभिन्न संस्कृतियों की समायोजन की प्रक्रिया को बतलाया है जो मूलतः पृथक् थीं और प्रवास द्वारा अपने विद्यमान स्थान पर जा बसीं और अन्ततोगत्वा उन्होंने एक कार्यपद्धति निकाल ली। आज विभिन्न बस्तियों और प्रवासियों के विभिन्न वर्गों में घनिष्ठ सहयोग पाया जाता है, जो कि अति सफल समायोजन का परिणाम है। इन समूहों के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक कृत्यों में पारस्परिकता और अन्तर-निर्भरता व्यक्त हुई है जो कि एक बृहत् सामाजिक समूह की इकाई के ढाँचों में एक वर्ग को दूसरे वर्ग से मिलाती है। नाडेल ने इसे ऐसी समजीविता कहा है जिसमें कुलत्व के सम्भावित मूल को खोजा जा सकता है और जो कि भिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच सामाजिक संतुलन स्थापित करने का एक सम्भावित तरीका है। यह सन्तुलन तीन रीतियों से हो सकता है, जिन्हें सहयोग, समजीविता और सम्मिश्रण का नाम दिया जा सकता है।

एक जटिल सांस्कृतिक सम्मिश्रण के विकास को विभिन्न अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है। विभिन्न सांस्कृतिक समूह अस्थायी लाभ के लिए एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं या कि जैसे जैसे उनके सम्बन्ध घनिष्ठतर होते हैं और वह पारस्परिक लाभ के लिए स्थायी रूप से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है जबकि उनके पृथक् गुण समाप्त हो जाते हैं।

वस्तुतः सामाजिक समजीविता शब्द से नाडेल का तात्पर्य सामाजिक एकपाकता (Social Commensalism) है जिसका अर्थ है कि साथ में रहनेवाले विभिन्न समूह एक आर्थिक जीवनयापन करते हैं और जिनका अल्प या अधिक स्थायी सम्बन्ध एक दूसरे के लिए लाभप्रद है, लेकिन इसका अर्थ शारीरिक एकता (Organic Union) नहीं, इस अवस्था में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच आन्तरिक साझेदारी स्थापित

नहीं हुई है और एकपाकियों के बीच सम्पर्क का न होना समूहों के सांस्कृतिक जीवन के लिए घातक सिद्ध नहीं हुआ है। सैद्धान्तिक दृष्टि से एक ऐसी अवस्था की कल्पना की जा सकती है जहाँ असम्पर्क का अर्थ विभिन्न साझी-समूहों के सांस्कृतिक जीवन की इतिश्री हो। इसे सामाजिक समजीविता कहा जा सकता है। अन्ततः समजीविता उपमा मात्र है और सांस्कृतिक समूहों के सम्बन्ध में इसका प्रयोग तभी हो सकता है जब समजीवी समूहों के सांस्कृतिक जीवन की निरन्तरता वस्तुतः पृथक्करण द्वारा समाप्त हो जाती हो। संक्षेप में इस अवस्था में समूह का सांस्कृतिक जीवन मृत्यु को प्राप्त होता है। लेकिन सांस्कृतिक साक्षी इस बात को सिद्ध करती है कि चाहे विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान क्यों न हो, यह सम्भव नहीं। यदि हमें ऐसे सामूहिक सहयोग और हितों के तादात्म्य को व्यक्त करने के लिए किसी जैविक अवधारणा (Biological Concept) की आवश्यकता ही पड़े तो सामाजिक एकपाकता शब्द ही ग्रहण करना अधिक उचित होगा। समजीविता की कल्पना तभी की जा सकती है जब कि मनुष्यों के समूह पूर्णतः इतने भिन्न हों कि उनकी तुलना जीव-जातियों से की जा सके और उन विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच इस प्रकार की जैविक एकता या आन्तरिक साझेदारी स्थापित हो सके जो कि केवल मृत्यु द्वारा ही समाप्त हो सकती है। यदि, जैसा कि नाडेल ने स्वयं ही सुझाया है, हम जैविक शरीर (Organism) को सांस्कृतिक समूहों और मृत्यु को निरन्तर सांस्कृतिक विद्यमानता की समाप्ति से सम्बोन्धित करें। यह उपमा समजीविता के अन्य आवश्यक अंगों को पूरा नहीं करती, किन्तु सांस्कृतिक नृतत्त्व और समाजशास्त्र में प्रयुक्त जैविक कल्पनाओं की भाँति जिन्हें कि हम विस्तृत या विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त करते हैं समजीविता को भी उसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

फरनीवाल ने बताया है कि विभिन्न राष्ट्रों के लोग जैसे कि हिन्द एशियाई, यूरोपीय, भारतीय और चीनी जो कि अल्पाधिक रूप से एक दूसरे से पृथक् रहते हैं, किस प्रकार सामान्य-कल्याण में योगदान करते हैं। इसे उन्होंने बहुजनीय समाज (Plural Society) कहा है।

हटन ने जाति व्यवस्था को इस प्रकार की समजीविता के एक उग्र उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। जाति व्यवस्था एकीकृत व्यवस्था है जिसमें उसके विभिन्न निर्माता तत्त्व समान सामाजिक धारणाओं, विश्वासों और व्यवहारों को स्वीकार करते हैं। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक इकाई एक विशेष पेशे का अनुगमन करती है और प्रत्येक जाति समग्र शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं के आंशिक कार्य द्वारा योगदान देती है। इसके विपरीत हालैंड में विभिन्न सांस्कृतिक समूह समान धर्म और व्यवहार में विश्वास नहीं करते और न जिस देश में वे रहते हैं उसके प्रति समान भावात्मक धारणाएँ ही रखते हैं। ऐसी स्थिति में भी उन्हें विभिन्न समुदायों में उत्पादन के, न कि सामाजिक

जीवन के उद्देश्य से संगठित किया जा सकता है। डच लोग अपने पुराने दक्षिणी पूर्वी एशियाई साम्राज्य को परोक्ष शासन और संघ के एक विशेष प्रकार द्वारा जो कि बहुजनीय समाज के विभिन्न तत्त्वों की भिन्न आर्थिक आवश्यकताओं के बीच समन्वय स्थापित कर सका, एक सामाजिक ढाँचे में एकीकृत करने में सफल हुए।

इस प्रकार का संघ (Confederation) समान भौगोलिक सीमाओं में रहनेवाले विभिन्न राष्ट्रों के बीच सम्भव है, परन्तु संस्कृति की ऐसी कठोर सीमाएँ नहीं हैं औ विभिन्न समूह या क़बीले, विभिन्न सांस्कृतिक संस्थान (Patterns) रखते हुए भी साथ रहकर समान सांस्कृतिक गुणों को व्यक्त करते हैं। मेरा अपना विचार है कि एक समान भू-भाग में रहनेवाले और एक समान आर्थिक ढाँचे का अंग बननेवाले, विभिन्न जनसमूह विलयन, समजीविता या एकपाकी सम्बन्ध स्थापित किए बिना ही, एक दूसरे से उपयोगी गुणों को ग्रहण करते हुए और बड़े पैमाने पर पर-संस्कृति-धरण की प्रक्रिया से गुज़रते हुए, फिर भी निर्माता तत्त्वों या समूहों की भाषा और संस्कृति की एकता कायम रखते हुए अपना निजी जीवन बिता सकते हैं और साथ ही विभिन्न इकाइयों में एक ऐसी समान चेतना या एक प्रकार का सांस्कृतिक पंथ विकसित कर सकते है जिसमें आधीनता और दमन का स्थान पारस्परिक सहयोग ले लेता है और विभिन्न सहयोगी समूहों और इकाइयों पर बिना अनुचित दबाव डाले और कष्ट दिए संघीय ढाँचे को सरलता से चलाने का आधार बनता है। यदि यह सम्भव हो तो हमें सांस्कृतिक विभेदों से मुक्त होने की आवश्यकता नहीं रह जाती और साथ ही सांस्कृतिक मिश्रण का एक कामचलाऊ साधन भी मिल जाता है।

आज हम पहाड़ और मैदान में बसनेवाली जनता तथा क़बीलों और जातियों में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक अन्तर देखते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन सबके कल्याण के लिए यह एक दूसरे के समीप आएँ और इनके पृथक् गुण इन्हें विरोधी दिशाओं में न ले जायँ जिसकी आशंका पर-संस्कृति-धरण-विरोधी प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। इसके लिए पारस्परिक सम्मान और एक दूसरे को समझने की आवश्यकता है। जहाँ पर प्रबल शासक-समूह ने इस सम्मान और समझदारी का परिचय दिया है, सांस्कृतिक सात्मीकरण सरलता से सम्पन्न हुआ है। मेरे विचार में यदि क़बीलों और पिछड़े हुए समूहों की बहुसंख्या को राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्त्ति का हथियार न बना कर देश में एक विस्तृत सांस्कृतिक आंदोलन को जन्म देना हो जिसका उद्देश्य क़बीली और पिछड़ी हुई जनता का सात्मीकरण है, तो यह सम्भव है कि क़बीले अपने को सुरक्षित समझ सकेंगे और देश की सांस्कृतिक प्रगति में अधिकाधिक हाथ बँटा सकेंगे। यदि देश के नेता क़बीली और बहिर्गत् जातियों की राजनीतिक विचारधारा, नवचेतना और आकांक्षाओं को समझने में सफल नहीं होते, तो भारतीय संस्कृति का भविष्य किन्हीं भी अर्थों में आशाजनक नहीं कहा जा सकता।

अध्याय १२

अपराधोपजीवी और भूतपूर्व-अपराधोपजीवी क़बीले

तथाकथित भूतपूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों (Ex-Criminal Tribes) को सभ्यता से प्रभावित कर उनके समाज-विरोधी कार्यों को रोकने का पहला ठोस प्रयास १८७१ के प्रथम अपराधोपजीवी क़बीली अधिनियम (Criminal Tribes Act) के नियमों में निहित था। इस ऐक्ट (अधिनियम) का मुख्य अभिप्राय था : (१) शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिये अपराधोपजीवी क़बीलों के सभी सदस्यों का रजिस्ट्रेशन, और (२) इन क़बीलों के सुधार और पुनर्वास के लिये बस्तियों की स्थापना। इन खानाबदोश क़बीलों के सदस्यों का शासन के साथ रजिस्ट्रेशन एक अत्यन्त कठिन काम था, और आज भी उत्तर प्रदेश में अपराधोपजीवी क़बीलों में गिने जाने वाले ४३ लाख व्यक्तियों में से केवल १५ लाख व्यक्ति ही 'अपराधोपजीवी क़बीली ऐक्ट' के अन्तर्गत घोषित किये गये हैं।

केवल भारत ही वह देश है जहाँ ऐसा ऐक्ट था, और यह समझने के लिये, कि इस समुदाय के लोगों की सहायता के लिये कौन से कदम उठाये गये हैं और किनको उठाने की आवश्यकता है, ऐसे समुदाय की सत्ता के कारणों के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान आवश्यक है। डा. बी. एस. भार्गव जिन्होंने अपराधोपजीवी जातियों के अध्ययन में अन्य किसी भी नृतत्त्ववेत्ता से अधिक समय दिया है, कहते हैं : "इनके द्वारा किये गये अपराधों का कारण अधिकांशतः आर्थिक है, जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत में अपराधों का पारा फ़सल कटने तथा जनता की सामान्य समृद्धि के साथ घटता-बढ़ता है।" भारत की दरिद्रता ही वह मूल तथ्य है जो जीवन तथा संस्कृति के व्यापक निम्न स्तर जैसे कारणों को जन्म देती है। निरन्तर स्थान-परिवर्तन करनेवाले जन-समुदाय को एक स्थायी संस्कृति के विकास का अवसर नहीं मिलता। यद्यपि क़बीले के भीतर इनका अनुशासन प्रशंसनीय है, तथापि व्यापक रूप से इन अपराधोपजीवी क़बीलियों में नागरिकता और नैतिकता की लेशमात्र भी चेतना नहीं है। क़बीले के अन्दर प्रचलित रीतियों का पालन दृढ़ता से कराया जाता है, जबकि अन्य लोगों और समूहों से व्यवहार में इन्हीं रीतियों का अक्सर उल्लंघन किया जाता है, विशेषकर तब जब इन मान्य नियमों की अवहेलना से क़बीले को किसी पारितोषिक

अथवा प्रतिफल-प्राप्ति की आशा रहती है। अपराध ही इन क़बीलों का आदर्श माना जाता है तथा अपने पड़ोसियों पर डाका डालने और लूटने में सर्वाधिक सफल व्यक्ति ही नई पीढ़ी के नायक होते हैं। क़बीली परिसीमा का अतिक्रमण अत्यन्त कठिन है क्योंकि क़बीले के सार्वजनिक कार्य क़बीली पंचायत द्वारा बड़ी सतर्कता से रक्षित एवं संचालित होते हैं। अतः उस व्यक्ति के लिये क़बीला छोड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है जो अपनी परंपरागत वृत्ति का परित्याग कर ईमानदारी से जीवनोपार्जन करना चाहता है। बचपन से ही बच्चों को चोरी की शिक्षा दी जाती है और ज्योंही वे अपने माता-पिता की शिक्षा को ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं त्योंही उनमें चोरी करने की आदत और उसकी विधियाँ कूट-कूट कर भर दी जाती हैं। ये सभी तथ्य बीसवीं शताब्दी के भारत में भी अपराधोपजीवी क़बीलों के क्रिया-कलापों के स्थायित्व की व्याख्या करने में सहायता पहुँचाते हैं।

अपराधोपजीवी क़बीली ऐक्ट के पास होने पर सरकार ने यह अनुभव किया कि क़ानून बना देने मात्र से ही इन ख़ानाबदोश क़बीलों का सुधार नहीं हो जायेगा। उनके जीवन में और अधिक स्थिरता लानी होगी और उन्हें ईमानदारी से धनोपार्जन के अवसर प्रदान करने होंगे। इस लक्ष्य के परिणामस्वरूप निर्माण बस्तियाँ (Settlement Centres) बनाई गई जहाँ एक क़बीले के सारे सदस्य लाये जाते थे, उनको रहने के स्थान दिये जाते थे और कृषि, उद्योग, अथवा अन्य प्रकार के कला-कौशल सम्बन्धी कार्य करने का अवसर दिया जाता था। इन निर्माण बस्तियों की स्थापना के फलस्वरूप कई समस्याएँ उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम तो इन निर्माण-बस्तियों को चलाने में बहुत अधिक धन व्यय होता था और इसीलिए अनेक अपराधोपजीवी क़बीली क्षेत्रों में प्राप्त धन यथेष्ट निर्माण-बस्तियों का प्रबंध करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त था। डा. भार्गव के अनुसार, "संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर-प्रदेश) में अपराधोपजीवी क़बीली बस्तियों द्वारा प्रस्तुत सुधार सम्बन्धी सुविधाओं से केवल १८८१ रजिस्टर्ड और १५८७ अरजिस्टर्ड सदस्य ही लाभ उठा सके हैं, जहाँ ३९,००० रजिस्टर्ड और १४,००,००० अरजिस्टर्ड क़बीलियों के लिये कोई संतोषजनक प्रबंध नहीं है। अजमेर-मारवाड़ में तो सुधार-व्यवस्था उत्तर-प्रदेश से भी बुरी है। वहाँ अपराधोपजीवी क़बीलों के सुधार की संस्थाएँ सर्वथा नगण्य है। पंजाब में लगभग १३,००० रजिस्टर्ड और १,३२,३६५ अधिसूचित व्यक्ति अपराधोपजीवी क़बीलों में से हैं, और उनकी अवस्था कुछ अच्छी है, क्योंकि विभिन्न व्यवस्था-केन्द्रों, बस्तियों, गाँवों तथा सुधार-सम्बन्धी विद्यालयों में २५,७०० व्यक्ति 'अपराधोपजीवी क़बीली विभाग' के प्रत्यक्ष नियंत्रण में हैं।" अपराधोपजीवी क़बीलों के सदस्य नगरों और गाँवों में भी बसाये गये हैं और यह विदित नहीं है कि उपर्युक्त आँकड़ों में ये भी सम्मिलित हैं या केवल सरकारी बस्तियों में रहनेवाले मात्र ही। चाहे जो कुछ

भी हो, यह तो स्पष्ट है कि अपराधोपजीवी क़बीलों में से अधिकांश के प्रति उचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

क़बीली पुनर्वासन से उत्पन्न समस्याओं के दो विभाग किये जा सकते हैं, (१) भौतिक या उनके जीवन के आर्थिक और भौतिक रूपों से सम्बन्ध रखनेवाली, और (२) मनोवैज्ञानिक अथवा लोगों की मानसिक और नैतिक विशेषताओं से सम्बन्ध रखनेवाली।

भौतिक

(१) **भारतीय कृषि में निम्न उत्पादन :** हमारा तात्पर्य इससे यह नहीं कि भारतीय भूमि की उत्पादन संभावनाएँ उपयोगी नहीं हैं वरन् केवल यही है कि भूमि पर अभी तक कृषि की आधुनिक वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग नहीं हुआ है। अतः उसकी संभावित उत्पादन-शक्ति का कुछ प्रतिशत-मात्र ही प्रयुक्त किया जा सका है। आजकल भारत में कृषि-सम्बन्धी संघर्ष कठिन और निराशापूर्ण है। निर्माण-बस्तियों द्वारा निर्धारित कुछ क्षेत्रों में वर्षा बिल्कुल मौसमी होती है। किसान और विशेषकर भूतपूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों के सुधरे हुए सदस्यों पर इसके दो बुरे प्रभाव पड़ते हैं। इस मौसमी वर्षा के कारण वे वर्ष में कई महीनों तक बेकार हो जाते हैं, जिसके कारण बाक़ी समय पुराने व्यापार द्वारा अतिरिक्त धनोत्पत्ति का लोभ उत्पन्न हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यह मौसमी वर्षा उसकी आय भी मौसमी बना देती है। फ़सल काटने वाला मौसम की समाप्ति पर अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में रहता है, परन्तु उसके चार महीने बाद तक अत्यन्त निर्धन हो जाता है। अतः निम्न आय की अवधि पर विजय प्राप्त करने के लिये वह डकैती की अपनी पुरानी कला को पुनर्जीवित कर सकता है। इस समस्या की निवृत्ति के भी दो उपाय हैं, (१) भारतीय भूमि की उत्पत्ति में वृद्धि करना, जिससे कि मौसमी आय ही एक परिवार के वर्ष भर तक रहने के लिये पर्याप्त हो सकेगी, और (२) कुछ अतिरिक्त आय प्रदान करना, जिससे फ़सल खराब और फ़सल न होनेवाले मौसम में भी किसान संकट से बच सके।

(२) **नगर में अधिक धनोपार्जन का प्रलोभन :** औद्योगिक क्षेत्रों में पुनर्वासित लोगों की अवस्था किसानों से साधारणतः अच्छी है। उनका वेतन अधिक और अनुरूप है। अन्य सदस्यों के प्रभाव से बाहर होने के कारण परिवार या क़बीले का सदस्य पुनः सरलतापूर्वक अपनी पुरानी आदतों में नहीं पड़ता। किन्तु दूसरी ओर शहर की संपत्ति शीघ्रता से प्राप्त होनेवाले धन के लिये उसको अपनी पुत्रियाँ बेचने के लिए प्रलोभित कर सकती है, और इस प्रकार क़बीली समाज में प्रचलित वेश्या-गमन-प्रथा का पुराना प्रकार सम्पूर्ण क़बीले के लिये नहीं, प्रत्युत केवल एक परिवार के लाभ के लिये पुनर्जागरित हो जाता है। शहरों में बसे अपराधोपजीवी क़बीलों में वेश्यागमन का सार्वभौम प्रचलन इस बात का प्रमाण है।

मनोवैज्ञानिक

(१) **आरामतलबी की प्रवृत्ति :** अपराधोपजीवी क़बीले का सदस्य सरल प्रकृति के जीवन का अभ्यस्त रहा है। उसे आवश्यकता के समय धन सरलता-पूर्वक प्राप्त होता रहा है। उसका काम अधिकतर रात्रि तक ही सीमित रहा है, और उसे थोड़े परिश्रम की आवश्यकता रही है। आरामतलब डाकू का कृषि सम्बन्धी तथा औद्योगिक कार्यों में पुनःस्थापन उसके लिए अवांछित श्रम है। इतनी कम आय के लिए वह इतना कठिन काम नहीं करना चाहता। जबकि पहले उसका सूत्र था कि "थोड़ा प्रयत्न अधिक लाभ के बराबर है", आज उसे इस नये सूत्र का आदी होना पड़ रहा है कि "अधिक प्रयत्न थोड़े लाभ के बराबर है।" नैतिक मूल्यों के पुनः समायोजन के लिये समय की आवश्यकता है, और समय का अभाव नैतिकता के प्रवेश में बाधा उत्पन्न कर रहा है। अतः किसान अपने पुराने व्यापार को, जहाँ वस्तुएँ सरलता से अधिक परिमाण में प्राप्त हैं, फिर से अपना सकता हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिये पुनर्वासित अपराधोपजीवी व्यक्ति की आय इतनी प्रलोभक होनी चाहिए कि कम नैतिक अवसरों के बीच भी वह अपने काम पर जमा रह सके।

(२) **नैतिक मूल्यों का सर्वथा अभाव या उनकी विकृति :** अपराधोपजीवी क़बीलों में नई पीढ़ी को रूढिगत नैतिकता के ठीक विरुद्ध शिक्षा दी जाती है। यदि बच्चा भूखा है और माँ से रोटी का टुकड़ा माँगता है, तो इसकी प्रबल संभावना है कि वह (माँ) उसे बाज़ार से जाकर चुरा लाने के लिये कहे जिससे केवल उसकी भूख ही शान्त न हो बल्कि वह अपने भावी व्यवसाय में भी दक्ष हो जाए। बच्चों की प्रशंसा उनकी समाज-विरोधी करतूतों के अनुपात में होती है और जब वे किसी व्यक्ति की चीज ठगने में असफल रहते हैं तो उनकी निन्दा होती है। बच्चों की कहानियों तक में उन क़बीली नायकों का अतिशय वर्णन होता है जिन्होंने कपट और समाज-विरोधी कार्यों में दक्षता प्राप्त की हो। इन नैतिक प्रतिमानों को भंग करना और नये प्रतिमानों का प्रचार करना है। यह काम सरल नहीं है। सुधरे हुए अपराधोपजीवी क़बीली को उसके व्यवहार-परिवर्त्तन के लिए सही मार्ग प्रदर्शित करना अपेक्षित ही है। निश्चय ही उसके जीवन में नवीन प्रोत्साहन और लक्ष्यों का प्रवेश कराना होगा और उसके कार्यों को बदलना होगा।

(३) **पारिवारिक जीवन का भंग होना :** कभी कभी यह आवश्यक हो जाता है कि बच्चों को उन पुराने और अनुभवी अपराधोपजीवी व्यक्तियों से बचाया जाए जिनका उदाहरण और प्रभाव हानिकारक है। यदि संभव हो तो बच्चों के लिये एक पालनकर्त्ता परिवार होना चाहिए जिससे वे सुरक्षा के साधनों और वात्सल्य से वंचित न रह जाएँ। प्रायः गृह-निर्माण की सामग्री देकर पुनर्वासितों को पारिवारिक इकाइयों

में रखने का प्रयत्न किया जाता है। वास्तव में उस वर्ग की नैतिक अवस्था बनाये रखने के लिये यह आवश्यक भी है।

इन आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अनन्तर भी पर-संस्कृति-धरण (Acculturation) में अपराधोपजीवी क़बीली ऐक्ट की कुछ सफलता परिलक्षित हुई है। अपराधोपजीवी क़बीलों के जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में कुछ महान् और कुछ आपेक्षित परिवर्तन हुए हैं। पुनर्वासित जीवन के निम्नलिखित क्षेत्रों में परिवर्तन देखाई देते हैं :

निवास-स्थान : ख़ानाबदोशी के दिनों में अपराधोपजीवी जातियों के अपने मकान नहीं थे, लेकिन वे अधिकतर खुले आकाश के नीचे और जलमार्गों तथा लूटे जाने वाले गाँवों के निकट रहते थे। सिर्फ़ बाँस के कुछ टुकड़े, चटाइयाँ, भोजन बनाने के दो या तीन बरतन और निजी उपयोग से अधिक कुछ चीथड़े ही उनकी वह संपत्ति थी जिस पर उनका स्वामित्व था और जिसे वह या तो अपने साथ ले जाते थे अन्यथा ज़मीन में गाड़ देते थे। आज उनका जीवन व्यवस्थित है। वे स्वयं अपना मकान बनाते हैं, लगभग सामान्य फर्नीचर रखते हैं, और कहीं कहीं तो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं से परे विलास-साधन की कुछ सामग्री भी जुटा लेते हैं। इस प्रकार उन्होंने अन्य लोगों की भाँति रहना सीख लिया है। बावरिया बस्ती के एक गाँव में अपराधोपजीवी क़बीले के एक सदस्य के पास ५०० बीघे जमीन, ६ कुएँ, एक बड़ा मकान, बहुत से पशु और आधुनिक विलास-प्रसाधन थे जिससे यह प्रकट होता है कि क़बीलों के परंपरागत अपराधियों को भी क़ानून-सम्मत लाभप्रद व्यवसायों में ढ़ाला जा सकता है। अभी भी कुछ लोग ऐसे होंगे जो घर की उन्नति और परिवार के उत्थान के स्थान पर शराब और सुअर के मांस पर अधिक धन व्यय करेंगे, लेकिन ज्यों ज्यों शिक्षा का परिणाम व्यापक होता जाएगा त्यों त्यों वे कम होते जायेंगे।

वेष-भूषा : आवारागर्दी के दिनों में शरीर की सजावट को प्रधानता दी जाती थी। उत्सव के अवसरों पर वे अपने को विशेष रूप से सजाते थे जिसमें स्त्रियाँ कभी कभी अपने शरीर के ऊपरी भाग के लिये ५०-६० गज़ कपड़ा और एक चादर पहनती थीं। आजकल वे अपने पड़ोसी समाज के साधारणा सदस्यों के समान वस्त्र ग्रहण करते हैं। बूढ़े लोगों का रुझान अभी भी क़बीली वस्त्रों की ओर अधिक है जबकि नवयुवक आधुनिक वस्त्र अपना रहे हैं और सामर्थ्य होने पर रेशमी सूट जैसे फैशनेबल वस्त्र पहनने में होड़ लगाते हैं।

नैतिक चरित्र

क़बीली अर्थ-व्यवस्था में विवाह कभी भी एक धर्म-विधि (Sacrament) नहीं था। क़बीले के बाहर के लोगों के साथ यौन सम्बन्ध क्षम्य था किन्तु क़बीले के सदस्यों के

बीच ऐसे सम्बन्ध रखने वाले अत्यन्त कठोरता से दण्डित किए जाते थे। यदि किसी लड़की ने विवाह के पूर्व व्यभिचार किया है तो उसके माता-पिता उसके भावी पति को विवाह के अवसर पर देने के लिए कुछ निश्चित धन पृथक् रख देते थे। वधू-मूल्य देने की परम्परागत प्रथा को पुनर्वास-कार्यक्रमों के अन्तर्गत भी जारी रक्खा गया है किन्तु मूल्य विशेष रूप से बढ़ पाये हैं और इसलिए स्त्री का पहले से अधिक महत्त्व हो गया है। अपराधोपजीवी क़बीली ऐक्ट ने २०० रुपये वधू-मूल्य और उसके साथ ६५ रु. वैवाहिक-व्यय निर्धारित कर दिया है। फिर भी क़बीली भ्रातृ-पंचायत ६०० रुपये से लेकर १००० रुपये के अन्दर कोई भी मूल्य निश्चित करती है। वधू-मूल्य में इस वृद्धि का प्रभाव विवाह को कुछ स्थायी बनाने के लिए हुआ है।

भांतू क़बीले के लोग अपनी पुत्रियों को नाच-गा कर, धनोपार्जन करनेवाले बेढ़ियों के हाथ भी बेच देते हैं। आज भी लड़कियाँ उस क़बीले के साथ, जिसने उनको कुछ समय के लिए मोल लिया है, ठहरती हैं, फिर उनके बहुमूल्य द्रव्यों को चुरा-कर अपने क़बीले में वापस भाग जाती हैं।

पुनर्वासित सदस्यों के पथ-प्रदर्शन और नियंत्रण के लिए पुनर्वासित क्षेत्रों में पंचायतों की स्थापना की गई है। अभी भी ये पंचायतें अन्तर्क़बीली नैतिकता की निरीक्षक हैं। दुर्भाग्यवश पुनर्वासित क़बीलों के नेता सरकार द्वारा चुने गये हैं जिससे नेताओं में बेईमानी बढ़ी है और इस प्रकार क़बीली संगठन भंग हुआ है।

क़बीली लोग पहले तो हाथ के काम को (Manual Labour) अपमानजनक समझते थे किन्तु अब वे श्रम की मर्यादा के विचार को कुछ-कुछ स्वीकार करने लगे है और कठिन परिश्रम पर से कुछ पुराने प्रतिबंध हट गये हैं।

पहले किसी भी योजना का प्रत्येक कार्य देवताओं अथवा पुलिस के साथ जुआ मात्र ही था। जुए की अन्तर्जात प्रवृत्ति से पूर्णरूपेण लाभ उठाया गया। अवकाश के क्षणों में जुए की प्रवृत्ति क़बीले के सदस्यों द्वारा चलाए हुए जुए के विभिन्न खेलों के रूप में प्रकट हुई। ये आदतें निर्माण-बस्तियों में भी आई और इनके सुधार का क्रम मंद किन्तु सर्वथा सफल रहा है। श्री भार्गव के अनुसार जुए की प्रथा शीघ्रता से मिट रही है।

क़बीली विचार-प्रणाली के अनुसार मानव-जीवन का मूल्य बहुत थोड़ा था। हत्या एक साधारण क्रिया थी और इस कार्य के विरुद्ध कोई भी सद्विवेक उत्पन्न नहीं किया गया था। यह उनकी जीविका-प्राप्ति के उपायों का एक अंशमात्र था। नवीन धार्मिक विचारों के सम्पर्क से जीवन के मूल्य की एक नई चेतना आई है और ऐसे सद्विवेक का विकास हुआ है जो हत्या को नैतिक दृष्टि से अनुचित घोषित कर देगा। सभ्यता-सम्पर्क और सभ्य जीवन की चिकित्सा और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं पर निर्भरता के कारण कुछ प्राचीन अंध-विश्वास और विधि-क्रियायें मिट रही हैं। जबकि एक समय

रोग-मुक्ति दुष्टात्माओं की संतुष्टि पर निर्भर थी, अब अनेक सुधरे हुए क़बीली औषधियों का उपयोग करते हैं तथा आधुनिक औषधियों एवं चिकित्सा-विधियों से परिचित हैं। जिन लोगों के मस्तिष्क उन देवताओं के सामर्थ्य के विश्वास से इतने दिनों तक पूर्ण रहे हैं और जो इन विचारों के स्थान पर अधिक संतोषप्रद धारणाओं की पुनः-स्थापना नहीं कर सके हैं वे लोग अब भी क़बीली देवताओं को बलि चढ़ाते हैं।

व्यवसाय

अनेक पुनर्वासित व्यक्तियों ने अपनी निजी भूमि प्राप्त कर ली है। अन्य लोग बहुत अधिक ऋणी हैं और कदाचित् सदा रहेंगे। पहले ये क़बीली कृषि-साधना को न तो समझ सके और न उसके सफल उपयोग में ही समर्थ हो सके किन्तु अभ्यास और संतोष से कृषि में बहुत उन्नति हुई है। अब भी इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या नियमित आय की है। जहाँ आय घटती-बढ़ती रही है वहाँ लोगों ने अतिरिक्त व्यापार अपना लिए हैं। बावरिया लोग घी और झाड़ू के लिए घास बेचते हैं। डोम छाज बनाते हैं। हूबड़े टोकरियाँ बुनते और मुर्गियाँ पालते हैं और कंजर लोग जूतों की मरम्मत और पालिश करते हैं।

बहुत-से लोग औद्योगिक केन्द्रों की ओर गये हैं और रेलवे स्टॉलों में काम करते हैं। यह जानते हुए कि इन लोगों को कार्यरत न रखने से कदाचित् ये अपने अपराध-पूर्ण जीवन की ओर पुनः लौट आएँ, अधिकांश निर्माण बस्तियों ने कला तथा बढ़ई का काम, बुनाई, सिलाई, लुहारी का काम, चित्रकला, फर्नीचर बनाने, पालिश करने का काम, खेल का सामान बनाने का काम, कालीन बनाना, बेंत का काम और मीनाकारी जैसी हस्तकलाओं की शिक्षा देने का प्रयत्न किया है।

आर्थिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि कृषक पुनर्वासित क़बीलों के लोग औसत भारतीय किसान से अच्छे नहीं हैं। कुछ लोगों में, जो यह कहते हैं कि बीते दिन कहीं अच्छे थे क्योंकि तब वे शराब खरीद सकते और बलि दे सकते थे जबकि अब वे कठिनाई से अपने आप को जीवित भर रख सकते हैं, गहरा असंतोष है। उद्योग और कला-उद्योगों में लगे हुए लोग कृषकों की अपेक्षा श्रेष्ठतर जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

सामाजिक स्थिति

यह दुर्भाग्य की बात है कि इस वर्ग के लोग जिनमें से अनेक समाज का उपयोगी सदस्य बनने के लिए अपने को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं, अब भी उच्च जातियों के अनेक लोगों द्वारा अस्पृश्य समझे जाते हैं। सरकार के शासकीय अपराधोपजीवी वर्गीकरण के साथ इस अस्पृश्यता ने सामाजिक मापदंड में उनके लिए निम्नतम स्थान

निर्धारित किया है। यह निम्नश्रेणी के नैतिक अथवा आर्थिक पुनर्लाभ के स्वस्थ मनो-वैज्ञानिक वातावरण का निर्माण नहीं करती। कुछ गांवों के लोग अपने निकटवर्ती भूतपूर्व-अपराधोपजीवी क़बीलों के लोगों को अपने कुँओं का उपयोग तथा अपने साथ सामाजिक मिश्रण होने नहीं देंगे। जोधपुर राज्य में सांसी भंगियों से भी हीन समझे जाते हैं। अपराधोपजीवी क़बीले के लोगों का दिया भोजन भंगी भी ग्रहण नहीं करेगा लेकिन अपराधोपजीवी क़बीले के लोग भंगियों का भोजन ले लेंगे। भंगी इनके लिए सफाई भी नहीं करते हैं। दूसरी ओर, उन अपराधोपजीवी क़बीलों ने जिन्होंने नये धर्म ग्रहण कर लिए हैं अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाया है, और कुछ अवस्थाओं में उच्च सवर्ण हिन्दू भी अपराधोपजीवी क़बीलियों का भोजन बिना किसी संशय के ग्रहण करते हैं।

कुछ व्यक्तियों ने अपराधोपजीवी क़बीलों की समस्याओं का अध्ययन किया है और अपराधोपजीवी क़बीली एक्ट की कमियों को समझा है। डा. भार्गव और इन पंक्तियों के लेखक ने इन लोगों के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ सुझाव रखे हैं। इन सुझावों में से अपराधोपजीवी क़बीली एक्ट के संशोधन सम्बन्धी सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) केवल शासन सम्बन्धी कार्यों के लिए ही सरकार को इनका 'अपराधोपजीवी क़बीला' नामकरण नहीं करना चाहिए था। यह विशिष्ट नाम क़बीले के सभी सदस्यों के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि वास्तविक समाज-विरोधी कार्य तो अधिकतर पूर्ण अभ्यस्त नेताओं तक ही सीमित रहते हैं। इस प्रकार जो कभी अपराध नहीं करते उन पर भी बिना किसी वारंट के ही अपराधी का बिल्ला लग जाता है जो अन्त तक उनसे चिपका रहता है और यह उनके सुधार में बाधक है।

(२) अपराधोपजीवी क़बीले के प्रत्येक सदस्य का रजिस्ट्रेशन क़बीले के निरपराध सदस्यों पर एक सामाजिक लांछन लगाता है। इस प्रकार वे वही बनने की ओर झुक जाते हैं जो समाज उन्हें, उसके विपरीत सिद्ध करने का एक अवसर प्रदान किए बिना ही, घोषित कर चुका है।

(३) पंचायत-प्रथा में सुधार की आवश्यकता है। भूतकाल में सरकार पंचायत को उससे नियंत्रित व्यक्तियों की सहमति के बिना ही स्थापित करती रही है। इससे नेताओं को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए हैं और उनमें से अनेक ने अपने राजनीतिक प्रभाव का बेईमानी से उपयोग किया है। विशेष पक्षपात करने के लिए उन्होंने घूस स्वीकार की है। इस प्रकार वही पंचायतें जो कभी सम्पूर्ण क़बीले को एक साथ रखने के लिए सर्व था सुयोग्य होती थीं अब क़बीलियों के विश्वास के अयोग्य ही नहीं हो गई वरन् एक राजनीतिक अस्त्र भी बन गई हैं।

(४) कार्यकर्त्ताओं को अवश्य ही इससे अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए। बहुत ही कम पंचायत-इंस्पेक्टरों और निर्माण-बस्तियों के कार्यकर्ताओं को मानसिक रोगों के

चिकित्सा और अपराध-विज्ञान का अध्ययन कराया गया है। वर्तमान आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि अपराधी अक्सर रोगी होते हैं, जिन्हें कुशल मार्ग-प्रदर्शन और सहायता की आवश्यकता होती है। यदि सुधार के परिणाम को नियमित और समाजोपयोगी बनाना है तो सामाजिक कार्य-कर्ताओं को अपना कार्य ठीक से जानना चाहिए।

(५) वर्तमान बड़ी निर्माण-बस्तियों को समाप्त कर लोगों को गाँवों के समान अपना घर स्वयं बनाने के लिए उत्साहित करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यह आरम्भ कराने के लिए उन्हें कुछ आर्थिक सहायता देनी होगी। किन्तु यदि वे स्वयं ही अपनी भूमि के स्वामी हों, उनका अपना घर हो और वे सामान्य सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हों तो शेष समाज, यदि वे स्वयं अपराधी क्षेत्र से पृथक् हो जायँ, उन्हें अपेक्षाकृत शीघ्रता से स्वीकार कर लेगा।

(६) कुछ अवस्थाओं में बच्चों को उनके माता-पिता से पृथक् रखना चाहिए। नये की अपेक्षा एक पुराने कुत्ते को नई चालें सिखाना अधिक कठिन है। शायद कभी-कभी अनभिज्ञता से बूढ़े लोग पुराने चिन्तन और पुरानी कार्यप्रणाली का अनुसरण करते हैं। कभी-कभी परिवार-भंग जैसे कार्य तक की आवश्यकता पड़ती है लेकिन बच्चों की सुरक्षा के लिए इसकी माँग है। इन पंक्तियों के लेखक ने इस कार्य को करने की दो रीतियाँ प्रस्तावित की हैं। ज्यों ही बच्चा ४ वर्ष की आयु का हो जाय, उसको किसी छात्रालय वाले स्कूल में तब तक के लिए भेज देना चाहिए जब तक कि वह किसी नवीन व्यापार अथवा धंधे को नये सिरे से सीखने के लिए योग्य न हो जाय। दूसरे परिवारों को शहरों में स्थानान्तरित कर देना चाहिए जहाँ माता-पिता काम कर सकें तथा बच्चे स्कूल जा सकें। इस कार्य में पूर्ण पार्थक्यीकरण की आवश्यकता नहीं होगी और यदि माता-पिता काम करने को प्रस्तुत हों और नये प्रकार के जीवन में अपने आपको व्यवस्थित कर लें तो यह इस समस्या का सर्वोत्तम समाधान होगा।

(७) वहाँ बसाए गये लोगों को नियमित आय का आश्वासन मिलना चाहिए। यह विशेष रूप से कृषकों के लिए आवश्यक है जिसकी आय धूप और वर्षा पर निर्भर करती है।

(८) पंचायत-प्रथा में सुधार होना चाहिये जिससे लोग पहले के समान अपने नेताओं को आप चुन सकें। उनमें यह भावना उत्पन्न करनी चाहिए कि वे अपनी इस नवीन संस्कृति में भी अपना शासन स्वयं करने के योग्य हैं जैसा कि वे पुरानी अवस्था में भी करते थे। इससे क़बीले में आत्म-सम्मान और आत्मनिर्भरता विकसित होगी। पंचायत के प्रधान के अन्तर्गत किए गये अपराधों के लिए वह उत्तरदायी होगा।

(९) विभिन्न प्रकार और श्रेणियों के अपराधियों को भिन्न भिन्न बस्तियों में पृथक् पृथक् कर देना चाहिए। आधुनिक अपराध-सम्बन्धी सुधारों के अनुसार हम एक नवयुवक अनुभवरहित अपराधी को पक्के अपराधियों के साथ एक ही कोठरी में

रखने के पक्ष में नहीं हैं। अभी तक बस्तियों में प्रायः अपराध करने वाले (Habitual offenders) और उनमें जो ऐसे क़बीलों के अचानक सदस्य बन गये, कोई भेद नहीं किया गया है। अपराधी प्रमाणित व्यक्तियों को पहले अनुशासन और कोई व्यापार सीखने के लिए नवयुवक अपराधी को सुधारालय (Reformatory) भेज देना चाहिए। लोगों को जितनी हो सके उतनी अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिए। इसके साथ बस्ती को कारागृह से अधिक से अधिक भिन्न बनाना चाहिए।

सन् १९४७ में निम्नलिखित उद्देश्यों से अपराधोपर्जीवी क़बीली जाँच-आयोग की स्थापना हुई थी।

(१) १९४० ई. में स्थापित पंचायतों के कार्यों की खोज करना और उसकी रिपोर्ट देना।

(२) अपराधोपजीवी क़बीलों के बच्चों की शिक्षा और उनके पार्थक्यीकरण के साधनों की जाँच करना।

(३) अपराधोपजीवी क़बीली एक्ट के सामान्य-संशोधनों पर विचार करना।

(४) निर्माण-बस्तियों के बाहर के अपराधोपजीवी क़बीलों के सुधार, शोध और नियंत्रण के लिए आवश्यक उपायों को प्रस्तावित करना।

(५) अपराधोपजीवी क़बीली ऐक्ट के संशोधन के लिए शासन सम्बन्धी प्रबंध के लिए सुझाव रखना।

इस आयोग ने अब भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दी है और अपराधोपजीवी क़बीलों के सुधार और उन्नति के लिए नृतत्त्ववेत्ताओं और समाजशास्त्रियों के सुझावों पर भी कुछ ध्यान दिया गया है। आयोग ने एक अच्छी बात यह प्रस्तावित की है कि अपराधोपजीवी क़बीली एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर्ड प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण रूप से परीक्षण यह देखने के लिए होना चाहिए कि वह निम्नलिखित के योग्य है या नहीं :

(१) पूर्ण-स्वतंत्रता

(२) प्रस्तावित "स्वाभाविक अपराधी और स्वेच्छाचारी एक्ट" के अन्तर्गत रक्खे जाने योग्य जो स्वाभाविक अपराधियों से निम्नलिखित तीन अंशों में सम्बन्धित है :

(क) वे जो अच्छी पारिवारिक परम्परा और वातावरण होने पर भी स्वाभाविक अपराधी बन जाते हैं

(ख) वे जो वातावरण और पारिवारिक अवस्थाओं के कारण अपराध करते हैं, और

(ग) व्यवस्थित वृत्ति के बिना बने आवारागर्द।

यहाँ स्पष्टतः उनमें जो स्वेच्छा से अपराधी बनते हैं तथा उनमें जो अचानक या प्रारम्भिक शिक्षा के फलस्वरूप अपराधी हो जाते हैं भेद बताने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया तो फिर अपराधोपजीबी क़बीलों के लिए व्यापक वर्गीकरण प्रयुक्त न होगा वरन् किसी निश्चित अपराध की सजा पा चुकनेवालों के साथ ही यह छाप लगी रहेगी और तब फिर "अपराधी" शब्द के स्थान पर "स्वाभाविक अपराधी" हो जायगा। आयोग ने आगे यह भी सुझाव रखा है कि कोई तब तक "स्वाभाविक अपराधी" न घोषित किया जाय जब तक कि उसने कम से कम तीन अपराध न किए हों और भारतीय दण्ड विधान की ११०वीं धारा के अनुसार ज़मानत न दे सकने के कारण एक बार जेल न जा चुका है। स्वाभाविक अपराधियों में वह चार अपराध कर लेने तक श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता और १९३५ ई. के पूर्व की कोई भी सज़ा उन चार में सम्मिलित नहीं की जायेगी।

आयोग ने यह भी सुझाव रखा है कि एक विशेष निरीक्षण समिति की नियुक्ति होनी चाहिए जो स्वाभाविक अपराधियों की देखभाल करे और सम्बन्धित क्षेत्र के परीक्ष्यमान पदाधिकारियों के साथ उन लोगों की मुक्ति की संभावना पर विचार करे जिनका आचरण संतोषजनक हो।

आयोग की रिपोर्ट के ५३वें पैरा में वर्णित "स्वाभाविक अपराधियों" को एक ही जेल में नहीं रखना चाहिए। यदि मितव्ययता के कारण सभी प्रकार के लोगों को एक ही कारागृह में भेजना आवश्यक हो तो उन्हें कारागृह के भिन्न-भिन्न खण्डों में रखना होगा जिससे पुराने और अधिक प्रमाणित अपराधी वर्ग नवयुवक सदस्यों को सम्बन्धित रूप से प्रभावित न कर सके।

प्रत्येक अपराधी की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक कारागृह में एक मनश्चिकित्सक (Psychiatrist), रोगजन्य विकृतियों (Pathological abnormalities) का चिकित्सा-विशेषज्ञ और एक अपराधशास्त्री होना चाहिए। निश्चय ही यह अपराधोपजीवी क़बीलों के सुधार में सहायक और उनके पुनर्वासन में अधिक अभ्यस्त कार्यकर्त्ताओं की मांग करनेवालों के लिए उचित दिशा में एक प्रयत्न है।

आयोग ने एक विशेष कारागृह वाली श्रेणीबद्ध बस्तियों का सुझाव दिया है जिसमें सबसे ऊपर नवयुवकों के सुधार-स्थान और सबसे नीचे स्वतंत्र बस्तियाँ होंगी, और बस्तियों की वर्तमान व्यवस्था में तत्काल सुधार की अत्यधिक आवश्यकता समझते हुए उन्होंने प्रस्तावित किया कि उनके पुनर्संगठन के लिए सरकार को उन सभी को दो वर्ष की अवधि के लिए ले लेना और उस समय के अंत में सुयोग्य प्रशासकीय संस्थाओं को लौटा देना चाहिए। एक समिति के द्वारा जिसका प्रधान जिलाधीश और मंत्री पंचायत निरीक्षक (इन्स्पेक्टर) हो, प्रत्येक जिले में उस क्षेत्र के निवासियों के रोज़गार

इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अपराध सम्बन्धी अधिक प्रगतिशील-रीतियों को अपनाना होगा। यद्यपि इस दिशा में, विशेषकर भूतपूर्व-अपराधोपजीवी क़बीले के बच्चों के पुनर्वासन के लिए अभी बहुत कुछ करना है तथापि पर्याप्त भलाई की जा सकी है और राज्य पदाधिकारियों और वैज्ञानिकों के प्रबुद्ध नेतृत्व के साथ मानवतावादी संगठनों के त्यागपूर्ण प्रयत्नों के फलस्वरूप ये लोग स्वस्थ भारतीय सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन की रचना के अन्तर्गत ढल जायेंगे।

अध्याय १३

भारतीय ग्रामों का संगठन

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की ३६ करोड़ जनसंख्या में से ८२ प्रतिशत लोग ग्रामवासी हैं और उनमें से ७० प्रतिशत लोग जो कि ६,५०,००० गाँवों में निवास करते हैं, अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर हैं। १९४८ में भारत में काम करनेवालों की संख्या १३ करोड़ ३० लाख आँकी गई थी। यदि ४५ लाख मजदूरों के लिए खोले गये उद्योगों में कृषक जनसंख्या के केवल ५ प्रतिशत भाग को खपाया जा सकता है तो अनुमान लगाया गया है कि आजकल २५ लाख मजदूर हैं। इसलिए योग्य विद्वानों का यह मत है कि आर्थिक और यान्त्रिक दृष्टि से निकट भविष्य में एशिया में लगनेवाली रकम का विस्तार एशिया के संभावित समृद्धतम स्रोत-श्रम के अपव्यय को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मोटे तौर पर ऐसे उद्योग अधिक पूँजी चाहते है और श्रम की बचत करते हैं। इसलिए आज छोटे ग्राम-उद्योगों की आवश्यकता है जो कि श्रम का उपयोग करें न कि उसकी बचत करें। इस प्रसंग में विशेषतः यह स्पष्ट रूप से कह देना आवश्यक है कि भारत गाँवों का देश है।

भारतीय ग्रामों का विवेचन एक कठिन कार्य है। भारत के बारे में चाहे कोई कुछ भी कहे, ऐसे लोगों की कमी नहीं जो कि उसके विरुद्ध न कह सकें। समस्त भारतीय उपमहाद्वीप की जलवायु, भूमि की बनावट और जनसंख्या में पर्याप्त भिन्नताएँ हैं। विदेशियों के आक्रमणों, विभिन्न सरकारों तथा भिन्न धर्मों ने भारत के कुछ भागों को ही छुआ है--कभी भी सम्पूर्ण देश को नहीं। परिणामतः सम्पूर्ण भारत कोई एक सामाजिक संस्थान नहीं है। इसीलिए प्रादेशिक संस्थानों पर जोर देने की आवश्यकता है।

उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के एक गाँव को लें। खेतों या कभी कभी किसी बगीचे से घिरा हुआ यह गाँव मिट्टी के घरौंदों का एक समूह है। मुख्य सड़क गाँव से काफी दूर होने के कारण गाँव का रास्ता प्रायः खेतों की मेड़ों से ही होता है। फसल कटने से पहले अच्छी फसलें प्रायः गाँवों के दृश्य को ढक लेती हैं। अलग-अलग दीवालों के बीच से निकल कर चक्करदार तंग गलियाँ प्रायः बीच के एक चौक में खुलती हैं, जहाँ पर अक्सर गाँव के पुरुष जमा होते हैं। प्रायः गावों में एक

तालाब या पोखर और कई कुँएँ होते हैं। गाँव के कुँओं पर स्त्रियाँ मिलती जुलती और गपशप करती हैं। घर ही प्रायः गाँव की इमारतें होते हैं, कभी-कभी आस-पास मन्दिर और मस्जिद भी होते हैं। यहाँ के घर वस्तुतः घिरे हुए अहाते हैं जिनमें प्रायः छोटे या बड़े आंगन और एक या अधिक अंधेरे कोठे होते हैं। इनका आकार परिवार की भूतपूर्व या वर्तमान सम्पत्ति, समूह के आकार, परिवार के रहन-सहन के स्तर तथा अन्य कई कारणों पर आश्रित होता है। आज भले ही कोई परित्यक्त या नई इमारत गाँव वालों की सभा करने या गाँव के स्कूल के लिए नियत कर दी जाये—पर प्रायः चौक के खाली स्थान अथवा किसी पशुशाला से यह काम चल जाता है। अधिकांश गाँवों में कोई दुकान, बाज़ार और अन्य सार्वजनिक भवन नहीं हैं। इनके लिए गाँववालों को बड़े कस्बों या शहरों में जाना पड़ता है।

इन गाँवों में जनसंख्या की अधिकता के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि प्रायः सभी लोग खेती-बाड़ी में लगे हुए हैं। योजना आयोग के सरकारी आँकड़ों के अनुसार १९४१ में काम में लगे हुए पुरुषों में से ७१ प्रतिशत या १९४८ में कुल-जनसंख्या के ६८.२ प्रतिशत लोग खेती में लगे हुए हैं। सामान्यतः गाँवों में कृषकों और वेकारों का निवास है। कृषक या तो स्वयं जमीन के मालिक हैं या शिकमी या शिकमी-दर-शिकमी काश्तकार हैं। अकृषकों में खेत पर स्थायी या मौसमी रूप से काम करनेवाले मजदूर, गाँवों के सेवक और गाँव के दस्तकार आते हैं। न काम करने वालों में उन जमींदारों का जो कि केवल लगान वसूल करते हैं तथा कोई कृषि-कार्य-सम्पन्न नहीं करते, गाँवों के साहूकारों, दुकानदारों और उन पुरोहितों, मुल्लाओं या भिखारियों का समावेश है जो कि अपनी रोटी के लिए धर्म और दान पर आश्रित हैं। इन समूहों से सम्बद्ध अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित अनेक संस्थाओं के कारण गाँव एक जटिल इकाई है। किन्तु पूरे गाँव को बाँधनेवाली एक भौगोलिक सीमा इसे एक सरल भौगोलिक इकाई बना देती है।

विभिन्न जटिल समस्याओं और सम्बन्धों को अति सरल रूप देने का खतरा मोल लेते हुए भी इस अध्याय में गाँव के संस्थात्मक समूहों के विवेचन का प्रयास किया गया है। स्थानाभाव के कारण हम ग्राम समुदायों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन नहीं कर रहे हैं।

ऊपर उल्लिखित आर्थिक समूह मुख्यतः तीन औपरिक वर्गों, स्वयं गाँव, परिवार और जाति, के प्रति निष्ठा जाग्रत करते हैं। व्यवहारतः एक ग्रामवासी का सारा बचपन उसका विवाह, उसका कार्य-काल, कार्य-रूप और अवकाश, उसका बुढ़ापा सभी इन्हीं संस्थाओं द्वारा ढाले जाते हैं।

ग्राम एक आत्मीय समूह है। एक ग्रामवासी अन्य ग्रामवासियों को अपने से इतना अधिक घनिष्ठतः सम्बन्धित मानता है कि वह अपने गाँव में विवाह करने को निकटाभिगमन (Incest) अर्थात् निकट सम्बन्धी के साथ व्यभिचार के समान समझता है।

पितृस्थानीय संस्थान (Patrilocal Pattern) के अनुरूप पत्नियों को अन्य पड़ोसी गाँवों से ग्रहण किया जाता है तथा गाँव की कन्यायें बाहरवालों के साथ ब्याही जाती हैं। ग्राम-बहिर्विवाह (Village Exogamy) के नियमों का दृढ़ता से पालन होता है। ग्राम समस्त व्यक्तियों को निवास और सुरक्षा प्रदान करता है। व्यक्ति के बंधन यहाँ पर बिखरे हुए न हो कर केन्द्रीभूत होते हैं। रागात्मक दृष्टि से ग्रामवासी अपने को ग्राम के अति निकट अनुभव करता है, क्योंकि ग्राम ही उसकी जन्मभूमि है, ग्राम ही उसका घर है। गाँव की रूढ़ियों (Customs) और गाँव के अपने देवता ही ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें वह जानता है। जैसे ही गाँव में नववधू का आगमन होता है उसका स्थानीय देवता से परिचय करा दिया जाता है। इस देवता का निवास किसी भी पत्थर, पेड़ या टीले पर हो सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामवासियों की समस्त सम्पत्ति स्थानीय भूमि और घरों तक ही सीमित रहती है। यद्यपि वह कभी-कभी किसी कस्बे या शहर में अपनी किस्मत आजमा सकते है, फिर भी उसकी सुरक्षा अपनी गाँव में ही निश्चित है। वह जब चाहे वहाँ लौट सकता है। बाह्य रूप से गाँव में कुछ अंशों में दलबन्दी नज़र आती है लेकिन वह सदा अन्दर ही रहती है। चाहे यह मनमुटाव और दलबन्दियाँ कितनी ही क्यों न बढ़ जाँय, ऐसे अवसर कम ही आते हैं जब कि वे गाँव को अलग-अलग भागों में बाँट दें। विभिन्न टक्करों के उपरान्त भी गाँव सदा एक परस्पर-आश्रित इकाई ही रहता है।

पारिवारिक समूह भी इसी प्रकार रागात्मक और आर्थिक दृष्टि से परस्पर-आश्रित हैं। अभी हाल तक परिवार सम्मिलित आय-व्यय, संयुक्त चूल्हे और संयुक्त भूमि के आधार पर संगठित रहा है। ओमेली का कहना है कि १८८० तक यही नियम था किन्तु १८८० के बाद से यह संस्थान भंग हो रहा है। आजकल गाँवों में अनेक प्रकार के पारिवारिक संस्थान, पुरातन संयुक्त परिवार, एक संयुक्त परिवार जो एक ही घर में रहता है पर जिसके अलग-अलग चूल्हे चढ़ते हैं, पृथक् आणविक (Nuclear) परिवार जो एक दूसरे से दूर रहते हैं पर जिनकी खेती साथ-साथ होती है या सर्वथा स्वाधीन पृथक् परिवार साथ-साथ देखने में आते हैं। किन्तु रहने की भौतिक व्यवस्था चाहे जो भी हो एक परिवार को बाँधनेवाले रागात्मक बन्धन अभी भी सशक्त हैं।

व्यक्तिगत जीवन में परिवार के धार्मिक और आर्थिक दोनों ही कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। व्यवहार में पूजा पूर्णतः एक घरेलू कर्म है और दैनिक पूजा-पाठ मन्दिर में न हो कर घर में ही सम्पन्न किया जाता है। व्यक्ति के ऊपर परिवार का शायद सबसे प्रबल नियन्त्रण उसके विवाह के निर्णय के सम्बन्ध में होता है। यह परिवार का विषय समझा जाता है और प्रायः परिवार के बड़े-बूढ़े ही इसका फैसला करते हैं। वह परिवार जिसमें कि वह विवाह करना चाहता है, विवाह पर होनेवाला व्यय और उससे सम्बन्धित

अन्य सब व्यय, पारिवारिक निर्णय पर आधारित होते हैं। समूह के लिए भूत और भविष्य में परिवार का विस्तार महत्त्वपूर्ण है। इस पारिवारिक संगति (Continuum) को इसी बात से समझा जा सकता है कि वधू को तब तक सम्मानित नहीं माना जाता जब तक कि वह खानदान के नाम को चलाने के लिए विशेषरूप से एक पुत्र-संतान को जन्म नहीं देती। प्रायः वर्तमान में अतीत के परिवार और पूर्वज को स्मरण किया जाता है, उनकी पूजा की जाती है। यह वंशानुक्रम (Lineage) संस्थान उच्च जातियों में विशेषरूप से विद्यमान है। ज़मीन जोतने और रुपया उधार देने जैसे मामलों में वंशानुक्रमानुसार वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है। एक व्यक्ति अपने निकट के कुटुम्बी जनों को अपने श्रम और धन का भागीदार बनाने के लिए उत्सुक रहता है। प्रायः इस प्रकार की वंश व्यवस्थाएँ विभिन्न कुलों (Clans) में संगठित होती हैं जिनमें कुल का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य से किसी पौराणिक, अज्ञात पूर्वज द्वारा सम्बन्धित होता है। वंशानुक्रम (Lineage) की भाँति ये कुल (Clans) भी बहिर्विवाही (Exogamous) होते हैं। कुलों का अगला वर्गीकरण कुलवृन्द (Phratries) हैं जिनमें बहुत से कुल एक दूसरे से संयुक्त होते हैं। इस प्रकार के संगठनों में गोत्र भी है।

नातेदारी के ऊपर और सब व्यक्तियों पर लागू संस्था जाति है। वंशानुक्रम (Lineage) कुल (Clan) और कुलवृन्द (Phratry) अन्तर्विवाही (Endogamous) जाति के बहिर्विवाही (Exogamous) विभाग हैं। सम्भवतः जाति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है, चूँकि ग्राम्य और पारिवारिक संस्थान प्रायः उसी के द्वारा निश्चित होते हैं। प्रायः एक ही जाति के सदस्य पास-पास रहते हैं और गाँव के पड़ोसी समूहों के रूप में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। विवाह की रस्में, खान-पान के नियम, जन्म और मृत्यु पर होनेवाले हर्ष और शोक के प्रदर्शन जाति की स्थिति द्वारा ही निर्णीत होते हैं। अपनी जाति-स्थिति को भूल जाना ही सबसे बड़ा पाप है, पद प्रारम्भ करने और ऊँचा स्थान देने, अभिवादन की स्थिति में सम्मान का प्रदर्शन इत्यादि सभी कृत्य जाति द्वारा निश्चित होते हैं।

किसी एक गाँव की जातियों में विभिन्न अन्तर पाये जाते हैं। अनेक गाँव तो एकजातीय भी हैं। किन्तु बिना विशिष्ट जातियों का नाम लिए हुए, जातियों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार है: १—आनुवंशिक (Hereditary) पुरोहित जाति या ब्राह्मण या उनकी विभिन्न उपजातियाँ; २—खेतिहर जातियाँ जिनमें कि प्रायः सैनिक-समूहों का समावेश है; ३—दस्तकार (Artisans) जातियाँ, जैसे कि बढ़ई, कुम्हार, तेली, इत्यादि जो कि परम्परागत जाति के पेशे का अनुसरण करते हैं और खेती भी करते हैं; ४—अनुसूचित (Scheduled) जातियाँ या अछूतवर्ग, धोबी, चमार, भंगी, इत्यादि। गाँव के सामान्य सम्बन्ध विभिन्न जातियों के सदस्यों की संख्या और उनके भूमि-स्वामित्व के अनुपात पर निर्भर होते हैं। परम्परानुसार ब्राह्मण उच्च वर्ग का निर्माण

करते हैं, किन्तु भूमि-स्वामित्व उनकी राजनीतिक शक्ति को समाप्त कर सकता है। जाति-सम्मान तो उन्हें फिर भी दिया जाता है।

यह जातियाँ गाँव के लिए केवल कुछ परम्परासम्मत कार्य ही नहीं करतीं जो कि अंशतः और कहीं पूर्णतः लुप्त हो गये हैं, वरन् कुछ पृथक् सामूहिक कृत्यों को भी सम्पादित करती हैं। जाति-नृत्य उसका एक प्रमुख उदाहरण हैं। निम्न जातियों के विशिष्ट नृत्य हैं जो कि उत्सवों के अवसरों पर आयोजित होते हैं और इन नृत्यों में भाग लेनेवाले पुरुषों या स्त्रियों का प्रायः एक निश्चित वेश होता है। अन्य जातीय विधि-क्रियाएँ (Rituals) भी समूह को एकता के सूत्र में बाँधती हैं।

सामूहिक एकता में मुख्य और महत्त्वपूर्ण चीज़ वह शक्ति है जो कि व्यक्ति को जाति से प्राप्त होती है। एक व्यक्ति चाहे वह ऊँची जाति का हो चाहे नीची जाति का, अपने जाति-कृत्य में अपनी सुरक्षा अनुभव करता है। छोटी जातियाँ विशिष्ट कार्यों को बन्द कर हड़ताल कर सकती हैं। विशिष्ट सीमाओं के अन्दर जाति-समूह निर्धारित सीढ़ी पर कुछ ऊँचा चढ़ सकते हैं। अपने जाति-पद के साथ संयुक्त श्रम करने से इन्कार कर और उच्च जातियों द्वारा संरक्षित विधि क्रियाओं को अपना कर, निम्न जातियाँ ऊपर उठ सकती हैं। इस प्रकार समूह द्वारा समग्र रूप से अन्तर्जातीय सम्बन्ध भी निर्धारित किए जा सकते हैं। अनुजातीय (Intra-Caste) कृत्य तो समूह द्वारा नियंत्रित होते ही हैं। जाति-नैतिकता सामूहिक दबाव द्वारा नियंत्रित होती हैं और व्यक्ति को उसके अनुरूप आचरण करने के लिए तैयार किया जाता है। उसके उल्लंघन पर अपराधी को कुँए में पानी न भरने देने या विवाह-उत्सवों में आमंत्रित न करने अथवा आर्थिक बहिष्कार का सहारा लेकर उस पर दबाव डाला जाता है।

जाति पंचायतें : कुछ जातियों में, विशेष कर निम्न जातियों में, जाति-पंचायतों के रूप में अपने विशिष्ट संगठन होते हैं। यह उनकी अदालतों, पंचों तथा फैसला करनेवालों का काम करते हैं। थॉर्नर के शब्दों में "यह पंचायतें जिनका रूप प्रायः अनौपचारिक होता है, विधि-क्रियाओं, अन्य जातियों से सम्बन्धों तथा जाति नियमों में परिवर्तन करने तथा उनके उल्लंघन होने पर दण्ड देने की व्यवस्था करने के लिए बुलाई जाती हैं। यह अपराधी पर जुर्माना कर सकती हैं, उससे प्रायश्चित्त करवा सकती हैं तथा उसे जाति बहिष्कृत कर सकती हैं।"

जाति पंचायतें गाँव की सीमाओं का अतिक्रमण कर एक भौगोलिक क्षेत्र में एक गाँव को दूसरे गाँवों से संयुक्त करती हैं।

जजमानी व्यवस्था : यह जाति-व्यवस्था अन्योन्याश्रित है। अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित गाँव का प्राचीन आर्थिक संगठन जजमानी व्यवस्था है। वस्तुतः यह प्रथा गाँवों की विभिन्न जातियों के बीच परस्पर सेवाओं के आदान-प्रदान के सम्बन्ध को व्यक्त करती है। इस प्रथा के अन्तर्गत निम्न जाति के परिवार या कमीन या काम

करनेवाले उन उच्च जातियों की सेवा करते हैं जो जजमान कहलाते हैं। उदाहरण के लिए हर ब्राह्मण परिवार के साथ एक नाई, एक सोनार, एक कुम्हार, एक लुहार, एक बढ़ई, एक धोबी और कुछ अन्य जातियों के विशिष्ट परिवार संयुक्त होंगे जो कि उनके लिए तथा अपने लिए निर्धारित कृत्य सम्पादित करते हैं। इसके बदले में वे ब्राह्मण जन्म या मृत्यु या अन्य अवसरों पर या बच्चों को पढ़ाने की सेवाएँ अपने पुरजनों को मुफ्त प्रदान कर सकते हैं। कोई जरुरी नहीं है कि यह सेवाएँ पारस्परिक हों। अधिकांश ब्राह्मण निम्नतम जातियों के लिए कुछ कार्य नहीं करते। पुरजन परिवार अपने जजमानों के साथ घनिष्ट आत्मीयता प्रकट करते हैं। यह परिवारिक सम्बन्ध आनेवाली पीढ़ियों में परम्परागत चलते रहते हैं।

पुरजनों की सेवाओं का भुगतान अपनी सेवाओं के पारस्परिक विनिमय द्वारा या नक़द या खलिहान उठने और विशेष त्योहारों पर अनाज और अन्यवस्तुओं के रूप में किया जा सकता है। सेवाओं का प्रतिदान रूढ़ि द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, नाई और उसका परिवार जानता है कि विवाह के अवसर पर उसे क्या काम करने चाहिए; इसी प्रकार उसका जजमान जानता है कि उसे उन अवसरों पर क्या-क्या देना होगा। एक अन्य प्रकार के भुगतान जो कभी-भी मुद्रा या उपज के विभाजन क्षेत्र में नहीं आते, वे रियायतें हैं जो कि पुरजन को प्राप्त होती हैं। रहने के लिए मुफ्त ज़मीन, जलाने के लिए मुफ्त लकड़ी, औजारों के मुफ्त उपयोग की सुविधा, मुकदमों में मदद, आदि ऐसी चीजें हैं जो कि उन्हें दी जा सकती हैं।

गाँवों की अन्य अनेक संस्थाओं की भाँति यह व्यवस्था भी टूट रही है। ग्राम्यजीवन आज ऐसे अनिश्चित संक्रमण काल से गुज़र रहा है कि उसके निश्चित स्वरूपों का वर्णन करना कठिन हो गया है। गाँववाले बाह्यप्रभावों से दबे हुए भी आय के पुराने सहज स्वपरिचालित (Automatic) स्रोत से चिपटे हुए हैं। जनसंख्या के दबाव ने बहुत से दस्तकारों को खेती अपनाने के लिए मज़बूर किया है। भुगतान से प्रथा-पोषित अपर्याप्त मापदंडों ने बहुतों को रुपया पैदा करनेवाले धंधों की ओर ढकेल दिया है; उच्च जातियों के दिवालियापन और उनकी स्थिति के पुनर्संगठन ने उनके द्वारा बहुत सी पहले दी जानेवाली रियायतें बन्द कर देने के लिए बाध्य किया है। हमारे गाँवों के सामाजिक और आर्थिक संगठन पर भारत के विश्वबाजार में प्रवेश की प्रभावशाली प्रतिक्रिया हुई है।

ज़मींदार-काश्तकार सम्बन्ध

गाँव के अन्दर अन्य महत्त्वपूर्ण समूहीकरण ज़मींदार-काश्तकार सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धों को जाति का सहारा हो सकता है, पर यह आवश्यक नहीं है। उत्तर प्रदेश में प्रायः उच्चजातियाँ ज़मींदार और निम्न जातियाँ काश्तकार हैं। ज़मींदार और किसान

जजमान और पुरजन रूप में संयुक्त हो सकते हैं और नहीं भी। यदि वह हों तो दो परिवारों को बाँधनेवाले सूत्र अधिक दृढ़ होंगे। किसी भी झगड़े में पुरजन अपने ज़मींदार का पक्ष लेगा। ज़मींदार भी बुरी फसल में उसे छूट देगा। पर यदि ज़मींदार एक अनुपस्थित स्वामी है और गाँव और काश्तकारों से उसका सीधा सम्पर्क नहीं है तो सारी व्यवस्था बड़ी ही व्यावसायिक सी और मालगुजारी का विनिमय मात्र रह जायगी।

अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत में कोई जमींदार वर्ग नहीं था। समस्त भूमि पर उस क्षेत्र के शासक का स्वामित्व था और उपज के एक भाग के बदले एक काश्तकार को उसे पट्टे पर दे दिया जाता था। अंग्रेजों ने एक जटिल भूमि-व्यवस्था स्थापित की। व्यक्तिगत स्वामित्व और भूमि के स्वामित्व की विदेशी अवधारणाओं (Concepts) को स्थान दिया गया। बिक्री और विनिमय के अन्य साधनों द्वारा भू-स्वामित्व को विकसित किया गया। काश्तकारी, शिकमी काश्तकारी, शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारी जीवित संस्थाएँ बन गईं। भारत के अन्य भागों में भी जहाँ मालगुज़ारी की अदायगी की भिन्न पद्धतियों का विकास हुआ, एक जमींदार वर्ग का उदय हो गया। बम्बई और मद्रास के राज्यों में तथाकथित रैयतवाड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वयं जमींदार-काश्तकार के ऊपर सरकार की मालगुजारी देने का दायित्व डाल दिया गया। किन्तु जमींदारों ने यहाँ पर भी भूमि के नियंत्रण को हथिया लिया है। नये क़ानूनों के अन्तर्गत इन सम्बन्धों को पूर्णरूप से पुनर्संगठित किया जा रहा है। जमींदारी उन्मूलन ने ग्राम-सम्बन्धों को नई दिशा में मोड़ दिया है और उन शक्तियों को जन्म दिया है जिनके प्रभाव की भविष्यवाणी करना अभी जल्दबाज़ी है।

वर्तमान भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत जमींदारों और विभिन्न श्रेणियों के काश्तकारों के अतिरिक्त भूमिहीन मजदूरों का भी समावेश है। इन लोगों का एक विशेष समूह है जो कि काश्तकारों से भी अधिक निर्धन है तथा जिसकी अपनी विशिष्ट समस्यायें हैं। भू-हीनों की वृद्धि एक कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था के लिए चिन्ता की बात है। १८८२ में भूहीनों की संख्या ७५ लाख थी परन्तु १९३१ में ३ करोड़ ३० लाख या कृषक जनसंख्या का एक तिहाई और भारत की कुल काम करनेवाली जनसंख्या का पाँचवा भाग थी।

जमींदार और काश्तकार सम्बन्धों का एक अगला क़दम अनुबद्ध (Indentured) मज़दूर है। गुजरात में ऐसे मजदूरों को 'हाली' तथा मद्रास में 'पाडियाल' कहा जात है। प्रायः इस पद्धति का प्रारम्भ तब होता है जब एक काश्तकार विवाह या किसी खर्चीले किन्तु अनार्थिक नियोजन के लिए उसे श्रम की सेवा के रूप में वापिस करने की शर्त पर जमींदार से रुपया उधार लेता है। कर्ज बढ़ता ही जाता है, खत्म ही नहीं होता और एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब देनदार बिना मजदूरी के जीवन-पर्यन्त जमींदार का कार्य करता है। यद्यपि इस प्रथा को अवैध घोषित किया जा चुका है, किन्तु अन्य सामाजिक रूढ़ियों की भाँति यह भी रातों-रात समाप्त नहीं हो सकती।

मुखिया : गाँव का अगुआ जिसे देश के विभिन्न भागों में पटेल, कर्नम और मुखिया आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है, समुदाय की सुरक्षा, मालगुज़ारी की वसूली और झगड़ों के निपटारे के लिए राज्य के प्रति जिम्मेदार है। उनका पद प्रायः आनुवंशिक होता था जो प्रायः उच्च जाति के पुरुष को प्राप्त होता था। उसकी सेवाओं के लिए उसे प्रायः कुछ लगान-मुक्त भूमि दे दी जाती थी। कभी वह गाँव का एकमात्र प्रतिनिधि कहा जा सकता था। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात्, स्वभावतः स्थानीय अधिनायकों को पदच्युत करने तथा शासन को अधिक कार्य-कुशल बनाने के उद्देश्य से सरकार मुखियाओं की नियुक्ति करने लगी। इस प्रकार उसकी निष्ठा गाँव के प्रति न रह कर उससे उच्च सत्ता से संयुक्त हो गई और गाँव के प्रति उसके दायित्व की भावना क्षीण होने लगी। अभी हाल तक वही जमींदारी व्यवस्था वाले गाँवों में मालगुजारी जमा करता, अफसरों को गाँव में घुमाता तथा उनके दिए हुए सरकारी आदेशों का पालन करता था। अभी हाल तक वह गाँव का मान्य नेता था। विदेशी सरकार द्वारा संरक्षित मुखिया प्रथा क्रमशः ग्रामवासियों के उत्पीड़न का यन्त्र बन गई। इन सब कुरीतियों के प्रकाश में आने तथा लोकतन्त्रीय नेतृत्व के विकास ने पुरानी मुखिया प्रथा की निरर्थकता सिद्ध की। उत्तर प्रदेश की सरकार ने १९५५ में इसे समाप्त कर दिया।

गांव के अधिकारियों पर विचार करते हुए उसमें विद्यमान गुटों पर विचार करना भी ज़रूरी है। नेतृत्व संरचना के अध्ययन में गुटों का विश्लेषण बहुत ही प्रासंगिक है। किसी भी गाँव में कुछ परिवार आपस में अन्य परिवारों की तुलना में अधिक आत्मीयता अनुभव करते हैं। रुचि और अरुचि के आधार पर कुछ समूह बनते दिखाई देते हैं। इन समूहों की मुख्य विशेषता उनके बीच विद्यमान सामाजिक अन्तः-क्रिया है। इनका पारस्परिक आदान-प्रदान भी अन्य समूहों की तुलना में अधिक है। विभिन्न समूहों के बीच विद्यमान सम्बन्धों को निकटता और उदासीनता के परिमाण के अनुसार विभाजित किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ सामुदायिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सम्मिलित रूप से भाग लेने का अभाव नहीं है। उसी प्रतीक के अनुसार वह उस अन्तःसम्बन्धित संस्थान का एक भाग बनते हैं जो कि निर्णायक शक्ति-संरचना का निर्माण करता है। ऐसे समूहों को हम गुट नहीं कह सकते। जहाँ तक उनकी प्रभुता का प्रश्न है, कुछ अपवादों को छोड़ कर अन्य समूह गुटों में जा मिलते हैं और इस प्रकार गाँव के सामुदायिक जीवन में विभेद की सृष्टि करते हैं। जब ऐसा होता है तो गाँव एक युग्मशाखी संस्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसा बहुत ही कम होता है कि यह संघर्ष त्रिशाखी रूप धारण करें। एक अन्य प्रकार के गाँव वे हैं जहाँ वास्तविक संघर्ष केवल कुछ प्रभावशाली वर्गों तक ही सीमित हैं और बाक़ी गाँव उनसे अछूता रहता है। ऐसे गाँवों को हम दलबन्दीपूर्ण गाँव नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ पर प्रतियोगी

समूह केवल सामुदायिक जीवन की बाह्यसीमा पर प्रकट होते हैं। यदि बाकी समुदाय भी व्यक्तिगत निष्ठाओं के अनुसार विभिन्न समूहों में बँटा हो, तो उन्हें हम तब तक दलों का नाम नहीं दे सकते, जब तक कि उसके निषेधात्मक और शत्रु-सम्बन्ध न हों। इसके विपरीत, वे एक सामुदायिक रचना के अंश हो सकते हैं और एक सर्वमान्य नेतृत्व को जन्म दे सकते हैं।

पटवारी : मुखियाओं के घटते प्रभाव के उपरान्त गाँव के लेखपाल (पटवारी) की शक्ति और प्रतिष्ठा क्रमशः बढ़ गई है। अँग्रेजी राज्य के अन्तर्गत जनसंख्या, भूमि-स्वामित्व और मालगुजारी के हिसाब-किताब के लेखे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। यह पटवारी का काम था कि वह मालगुजारी, भूमि-स्वामित्व, काश्त की शर्तों, रेहन और सीमाओं के परिवर्तन का हिसाब रक्खे। ऐसे महत्त्वपूर्ण आँकड़ों का अधिकारी तथा गाँव के इने-गिने साक्षर व्यक्तियों में होने के कारण पटवारी पर प्रायः घूसखोरी प्रवृत्त होने का आरोप रहा।

चौकीदार : चौकीदार की यह जिम्मेदारी है कि वह सीधे स्थानीय पुलिस थाने में या मुखिया के द्वारा सरकार को गाँव में हुए जन्म या मृत्यु की सूचना दे। उसका एक मुख्य कार्य पुलिस को गाँव में हुए अपराधों की सूचना देना भी है। जब तक गाँव में बिल्कुल ही अराजकता न हो जाय, अक्सर पुलिस गाँव पर हाथ नहीं लगाती। चौकीदार को इधर-उधर की बात मिलानेवाले की ख्याति प्राप्त हो जाती है। इस काम को अक्सर छोटी जाति के लोग करते हैं।

पंचायत : पंचायत स्थानीय स्वायत्त शासन का ऐतिहासिक साधन रही है। यह संगठन अंग्रेजों के आने से पहले कितना विस्तृत था, इस सम्बन्ध में कोई निश्चितता नहीं है। उस समय कुछ पंचायतें तो चुनी जाती थीं और कुछ अधिकारियों की नियुक्ति भी ग्राम-समूह के एकमत से होती थी। हर पंचायत में कुछ प्रमुख सदस्य होते थे जो कि पंच कहलाते थे। उक्त नाम के अनुसार उनकी संख्या भी हमेशा ही पाँच हो ऐसा नहीं था। कभी-कभी उनमें निम्न जातियों के प्रतिनिधि नहीं होते थे किन्तु अल्तेकर ने १६७३ के एक लेखबद्ध मामले का ज़िक्र किया है जिसका फैसला २३ पटेलों अर्थात् पंचों की पंचायत ने किया था। इन पटेलों में १० चौगदला, ४ सुनार, १ बढ़ई, २ चमार, ६ महार और एक अन्य किसी जाति के सदस्य थे। पंचायत का अधिकार-क्षेत्र प्रायः गाँव की भूमि के आवधिक वितरण, सम्मिलित भूमि और सिंचाई के नियंत्रण से मालगुजारी की रकम के सामुदायिक वितरण और न्याय के सस्ते और शीघ्र प्रशासन तक विस्तृत था। पंचायत गाँव के कार्यों में सहायता देने के लिए ग्रामवासियों पर कर लगा सकती थी। सरकारी अदालतों की स्थापना और स्थानीय पुलिस की व्यवस्था ने गाँवों की सर्वोच्च सत्ता पर आघात किया। अन्तिम निर्णय अब पंचायतों के हाथ में न रहा। ज़मीन की अधिकाधिक मांग तथा ज़मींदारों के दावों के कारण पंचायत के

अधिकार-क्षेत्र में आनेवाली सामूहिक ज़मीन अब समाप्तप्राय हो गई। गाँववालों को अपने साथ रखने की उसकी शक्ति भी कम हो गयी। इस प्रकार धीरे धीरे समस्त व्यवस्था टूटने लगी। दक्षिण भारत में जहाँ कि पंचायत का स्वरूप अधिक प्रशासनात्मक था, स्थानीय स्वायत्त शासन का यह साधन कुछ अधिक समय तक चलता रहा। किन्तु उत्तर भारत में, जहाँ पर न्यायात्मक कार्य पर अधिक ज़ोर था, पंचायत व्यवस्था न टिक सकी। इटावा विकास योजना के अनुसार पंचायतें अधिकांशतः सुप्त हैं।

सहकारिता : हाल में एक नई संस्था ने जो वर्तमान रूप में अर्थिक है किन्तु जो भविष्य में एक सामाजिक सम्मिलन की शक्ति बनने का सामर्थ्य रखती है, भारतीय ग्रामों में प्रवेश किया है। सहकारी ऋण समिति ऐक्ट १९०४ तथा सहकारी समिति एक्ट १९५२ के अंतर्गत समस्त देश में सहकारी समितियों का प्रसार होने लगा। मन्दी की चोट लगने पर भी युद्धकाल में संभलने और सशक्त होने के पश्चात् यह समितियाँ गांव के कल्याण के लिए प्रयुक्त हो सकती हैं। ऋण समितियों और कृषि-सहकारी समितियाँ अत्यन्त सफल सिद्ध हुई हैं। सन् १९४६ की भारतीय अध्ययन माला के अनुसार भारत में १,४२,००० सहकारी समिति हैं जिनके ६५ लाख सदस्य हैं। इनमें से १,०४,००० कृषि-समितियाँ हैं। इतना होने पर भी इनकी सफलता काफी कुछ सीमित है। सहकारी समितियाँ उस निर्धन वर्ग तक नहीं पहुँच पातीं जिसे उनकी सबसे अधिक आवश्यकता है। उसके पास उनका सदस्य बनने की सामर्थ्य नहीं हैं। यह समितियाँ सुचारु रूप से नहीं चल पातीं क्योंकि इन्हें कृषकों से अधिक सहयोग नहीं मिलता और यह सहकारी बैंक की सहायता पर अधिक निर्भर हैं। निरक्षरता के कारण इनका नियंत्रण कुछ पढ़े-लिखों के हाथ में रह जाता है। इसके अतिरिक्त इनकी सफलता का शायद सबसे बड़ा कारण यह है कि उनके पीछे सरकारी प्रेरणा है और यह गाँव वालों की ओर से स्वयं अपनी सहायता करने का आन्दोलन नहीं है।

उपर्युक्त समूह गाँव की मुख्य संस्थाएँ हैं। इनका ग्रामवासियों के दैनिक-जीवन पर सबसे प्रबल प्रभाव है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ संस्थाएँ हैं जिनका वर्णन आवश्यक है।

स्कूल : अनेक गाँवों में स्कूल भी हैं और आजकल उन्हें बढ़ाने के लिए सरकार बहुत जोर दे रही है। किन्तु शिक्षा प्रायः बहुत सीमित है और उच्च जातियों तक ही पहुँच पाई है। ये स्कूल या तो किसी मंदिर या मस्जिद से लगे हुए या बीच गाँव में स्थित होते हैं। उत्तर प्रदेश सरकार ने इस बात का निश्चय किया है कि वह ऐसे प्रत्येक गाँव में जहाँ कम से कम ६० बच्चे भी पढ़ने के लिए उपलब्ध हो सकें एक अध्यापक की व्यवस्था करेगी। विद्यमान स्कूलों और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों के प्रकार पर विश्वस्त आँकड़े नहीं मिलते।

शिक्षा का रूप भले स्कूली न हो, गाँव के बच्चे निरन्तर अपने बड़ों से सीखते हैं। तरुण लड़के सदा पुरुषों के साथ रहने के कारण आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अपने दायित्व की शिक्षा प्राप्त करते हैं और तरुण लड़कियाँ छोटी उम्र से ही अपने से छोटे बच्चों की देख-भाल और घर के कामों में अपनी माताओं की मदद करती हैं। पर्यटक भजनी तथा पर्यटक नाटक मंडली और विचरणशील साधू गाँववालों को नाना प्रकार की पौराणिक और लौकिक कथाएँ सुनाते हैं। धार्मिक शिक्षा प्रायः मन्दिर या मस्जिद द्वारा प्राप्त होती है किन्तु यह प्रायः उच्च जातियों तक ही सीमित रहती है। अधिकांश पूजा व्यक्तिगत रूप से घर में ही सम्पन्न होती है। मन्दिर या मस्जिद प्रायः गाँव की सामान्य गति-विधि से दूर रहते हैं और पाश्चात्य देशों के गिरजों और सिनागॉग की भाँति सामाजिक कृत्यों से घनिष्ठतया सम्बन्धित नहीं होते।

मेला : शिक्षा का एक अन्य साधन और अधिकांश गाँववालों के लिए अत्यन्त महत्त्व की एक संस्था मेला या पैंठ है। यह समस्त गाँव में मिलने-जुलने का अवसर प्रदान करता है। यह उत्सव और मेले, किसी धार्मिक त्योहार से सम्बन्ध, व्यापारिक कृत्य, कहानियों और नाटकों द्वारा धार्मिक शिक्षा के कार्य साथ-साथ सम्पादित करते हैं। शिक्षा के इतने प्रभावयुक्त साधन होने के कारण नई विकास योजनाएँ कृषि और सफाई के प्रदर्शनों के लिए मेलों का प्रयोग कर रही हैं।

ऊपर लिखित संस्थाओं की केवल संक्षिप्त रूपरेखा ही हमने दी है। इसमें से प्रत्येक पर इस दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार की आवश्यकता है कि उसका व्यक्तिगत रूप से एक ग्रामवासी पर अच्छा या बुरा क्या प्रभाव या दबाव पड़ता है। सामाजिक दृष्टि से भारतीय ग्राम एक जटिल संरचना (Structure) है। हिन्दू धर्म की संस्थाएँ और मूल्य इसकी धुरी हैं।

सरकारी प्रयत्न : आज गाँव की सामाजिक व्यवस्था का एक संतोषजनक चित्र उपस्थित करना व्यवहारतः प्रायः असंगत है। गाँवों की वर्तमान संरचना और उनमें विकसित परिवर्तनों के आधुनिक अध्ययन बहुत कम हैं। किन्तु यहाँ हम सरकार द्वारा प्रेरित परिवर्तनों पर दिए हुए सरकारी वक्तव्यों पर विचार कर सकते हैं। फिलहाल हम उनके प्रभाव का मूल्यारंभ नहीं करेंगे। वह बाद में उचित होगा।

राष्ट्रीय सरकार की समस्त चेष्टा गाँवों को सहायता प्रदान करने की ओर है। नये क़ानून, विकास के कार्यक्रम और पंचवर्षीय योजना सभी ग्रामीण समस्याओं पर केन्द्रित हैं। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि गाँव के ढाँचों के पुनर्गठन और पुनः एकीकरण के बिना औद्योगीकरण और ग्राम-सुधार की कोई योजना सफल न होगी।

विभिन्न राज्य सरकारों ने सहकारी समितियों के विकास को पुष्ट करने के लिए अनेक क़ानून पास किए हैं। केवल ऋण-समितियों के स्थान पर बहु-उद्देश्यी सरकारी समितियों के विकास का प्रयत्न हो रहा है। बम्बई योजना के अन्तर्गत पन्द्रह वर्षों में

गाँव की साठ प्रतिशत जनता तक बहु-उद्देश्यी सहकारी समितियों को पहुँचाने की आशा है। जून १९४९ में उत्तर प्रदेश सरकार ने १,१०,०० बहुउद्देश्यी सहकारी समितियों का लक्ष्य अपने सम्मुख रक्खा ताकि ये समितियाँ प्रायः प्रत्येक गाँव को छू सकें। राज्य में उस समय तक ६०,००० ऐसे संगठन विद्यमान थे, जिनमें से २०,००० बहु-उद्देश्यी थे।

विकेन्द्रीकरण और आंशिक स्थानीय स्वायत्त शासन के लिए प्रयत्नशील सरकार ने पंचायतों के विकास पर जोर दिया है। बम्बई राज्य में १,००० से अधिक आबादी-वाले प्रत्येक गाँव में पंचायत की योजना बनाई है। सरकार को आशा थी कि १९५० तक १००० और १९५२ तक ५००० पंचायतें वहाँ पर कार्य करने लगेंगी। सड़कों, कुँओं, तालाबों और चारागाहों जैसी सरकारी सम्पत्ति को, शीघ्र संचालन के लिए, मालगुजारी का पन्द्रह प्रतिशत भाग प्राप्त होगा।

स्वायत्त राज्य

सन् १९५६ के उत्तर प्रदेश पंचायत राज्य एक्ट के अन्तर्गत २१ वर्ष से अधिक आयु के समस्त स्त्री-पुरुष ग्रामवासियों से मिलकर गाँव-सभाओं का निर्माण किया गया। निर्वाचित कार्यकारिणी अर्थात् गाँव पंचायत सभा का संचालन करती है और सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। उसे शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य और सामुदायिक संगठन के क्षेत्र में नये विकास कार्यक्रम प्रारम्भ और कार्यान्वित करने का अधिकार है। अन्ततः स्थानीय न्यायालयों अर्थात् अदालती पंचायतों को समस्त गौण मामलों को निपटाने का काम सौंपा गया। इन अदालतों को १०० रु. तक जुर्माना करने का अधिकार है, पर सज़ा देने का नहीं। उत्तर प्रदेश की पंचायतों के प्रथम चुनाव में २७० लाख मतदाताओं में से ६० प्रतिशत ने इन चुनावों में भाग लिया। स्त्रियाँ, हरिजन या अछूत भी इन सभाओं की अदालतों के सदस्य और प्रधान चुने गये।

पंचायतों का प्रभाव: इन पंचायतों का प्रभाव कितना है, यह बताना कठिन है। एक सुप्त संस्था को पुनर्जीवित करना और उसे समस्त गाँव के लिए योजना बनाने और गांव के विभिन्न दलों के प्रतिनिधित्व करने का कार्य निःसंदेह दुष्कर है। नये कानून द्वारा स्वीकृत नेताओं द्वारा पुराने 'स्वाभाविक' अनौपचारिक रीति से निर्वाचित नेताओं को स्थानच्युत करना सरल नहीं है। यह तथ्य पुनर्संगठन की जटिलता की ओर संकेत करता है।

भूमि-व्यवस्था का पुनर्गठन : स्वाधीनता प्राप्ति से पहले सरकार द्वारा काश्त-कारों के संरक्षण के विभिन्न प्रयत्न किए पाये थे। १९३९ के काश्त-कानून ने एक निश्चित अवधि तक भूमि पर कब्जा रहने की दशा में काश्तकार को विशिष्ट अधिकार प्रदान किए थे।

किन्तु जनसंख्या के अत्यधिक दबाव और काश्तकारों के बीच विद्यमान भीषण प्रतियोगिता ने इन कानूनों को कार्यान्वित करना कठिन कर दिया। अंशतः काश्तकारों की सौदा करने की अल्पशक्ति और अंशतः क़ानून की कमियों से लाभ उठा कर विशेषतः घनी आबादी वाले क्षेत्रों में जमींदार काश्तकारों से निर्धारित से अधिक लगान वसूल करने में समर्थ होते हैं। उत्तर प्रदेश में यू. पी. कृषि-कानून पास होने के बाद हजारों काश्तकार बेदख़ल कर दिए गये और कहा जाता है कि जमींदारों ने नये काश्तकारों से करोड़ों रुपया इकट्ठा कर लिया।

जमींदारी उन्मूलन अधिनियम

भूमि-व्यवस्था के पुनर्गठन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण कदम जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों का पास होना है। अप्रैल १९५२ में सांविधानिक संशोधन द्वारा क़ानून का रूप धारण कर अनेक राज्यों में यह अधिनियम लागू हो गये। पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, आसाम और कश्मीर ऐसे ही राज्य हैं। उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन अधिनियम अन्ततोगत्वा १ जुलाई १९५२ को पास हुआ। इसका उद्देश्य राज्य और असली किसान के बीच मध्यस्थों को समाप्त करना था। ऐसा कहा जाता है कि एक स्थान पर तो किसान और राज्य के बीच मालगुजारी में हिस्सा पानेवाले मध्यस्थों की संख्या ५० तक थी। जमींदार को खुद-काश्तसीर की कुछ ज़मीन के अलावा सारी जमीन छोड़नी पड़ती है, जिसके बदले में उसे अपनी असल वार्षिक आय की आठगुनी रकम मिल जाती है। भूमि-कर के अनुसार उसे एक वर्गीकृत (Graded) दर पर कुछ पुनर्वासन सहायता भी मिलती है। जो किसान वार्षिक लगान की दसगुनी रकम राज्य को जमा करा देते हैं वे ज़मीन के स्वामी या भूमिधर बन जाते हैं और उसके बाद उन्हें उस ज़मीन के बेचने का हक भी मिल जाता है और पिछले लगान की आधी रकम ही देनी पड़ती है। सीरदार या हल के मालिक को अपनी ज़मीन पर पूरा अधिकार न होगा किन्तु उसे भूमि पर कुछ अधिकार होंगे और वह राज्य को सीधे मालगुज़ारी देंगे। पांच साल तक शिकमी काश्तकारों (Sub-Tenants) की अवस्था पहले जैसी ही रहेगी, पर उसके बाद उन्हें ज़मीन खरीदने का अधिकार होगा। इस क़ानून का मुख्य लक्ष्य बीच के खानेवालों को खत्म करना है। भावी सरकारी खेती के सम्बन्ध में भी कुछ विधान हैं। भूमि का छोटे टुकड़ों में बिखरा होना आर्थिक कृषि के लिए एक अभिशाप है। अतः व्यवस्था की गई है कि यदि दो तिहाई भूमिधर या सीरदार सरकारी खेती चाहते हैं; तो बाकी एक तिहाई लोगों को भी उसे मानना होगा।

जमींदारी उन्मूलन क़ानून का प्रभाव : यह एक मुख्य और कठिन प्रश्न है कि यह कानून कहाँ तक सफल हुआ है। किसी लिखित साक्षी और क्रमबद्ध सूक्ष्म

अध्ययन के अभाव में, कुछ गाँवों से प्राप्त सामान्य सूचनाओं के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि इसने कोई महत्त्वपूर्ण क्रान्ति पैदा नहीं की। पुराने संस्थान अभी भी काफी गहरी जड़ें जमाए हुए हैं। जमींदार अभी भी एक हद तक कायम हैं। किसानों के पास पर्याप्त प्रेरणा नहीं है कि वह दसगुना लगान दे कर ज़मीन के मालिक बनें। फिर भी यह ज़मीन का गौण पुनर्वितरण अवश्य है जिससे कुछ किसानों को लाभ पहुँचा है। किन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं हमारे पास इसे पुष्ट करने के लिए प्रामाणिक तथ्य नहीं हैं।

नये प्रभाव : अंत में उन नये प्रभावों की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है जो कि अन्ततोगत्वा गाँव के ढाँचे को परिवर्तित कर सकते हैं। आज भारत में अनेक ऐसी योजनाएँ हैं जिनका केन्द्र गाँव है। इनमें सामुदायिक योजनाएँ सबसे प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त संघ के "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन; उत्तर प्रदेश की प्रसिद्ध इटावा विकास योजना; संघ और राज्य सरकारों द्वारा परिचालित विदेशी विनियोजन के कार्य-क्रम, प्रेसीडेंट ट्रूमन की चार-सूत्री योजना और राष्ट्र-मण्डल की कोलम्बो योजना, फोर्ड फाउन्डेशन योजनाओं जैसी बड़ी व्यक्तिगत विकास और प्रशिक्षण योजनाएँ ऐसे ही प्रयत्न हैं। हम इन्हें बढ़ते हुए औद्योगिक विकास, गाँवों तक पहुँचने-वाले मोटर और रेडियो जैसे सुधरते हुए संचार-साधनों और नये सार्वजनिक चुनावों द्वारा जगाई हुई नई राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना के साथ संयुक्त कर गाँव में होने-वाली क्रान्ति के पहरुए कह सकते हैं।

भारत सरकार इस संभावित क्रान्ति की ओर देख रही है और वह उसे एक विशेष दिशा में ढालना चाहती है। भारतीयों के मस्तिष्क में आज अनेक विरोधी मत और योजनाएँ चक्कर काट रही हैं। कुछ पूर्ण राष्ट्रीयकरण चाहते हैं; अन्य गाँव के ढाँचे को भूल कर औद्योगिक विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं। आचार्य विनोबा भावे और उनके अनुयायी भूमि पर किसान को स्वामित्व के साथ छोटे पैमाने पर खेती का समर्थन करते हैं।

एक भारतीय गाँव का ढाँचा

भारतीय ग्राम संगठन को सही और स्पष्ट रूप से समझने के लिए लेखक और उसके गवेषणा-सहायकों द्वारा हाल ही में अध्ययन किये गये उत्तर प्रदेश के एक गाँव के ढाँचे का संक्षिप्त विवरण उपयोगी और रोचक सिद्ध होगा।

मोहाना गाँव का सामाजिक ढाँचा एक जटिल सांस्कृतिक ढाँचा है जो जाति-व्यवस्था पर आधारित परम्परागत हिन्दू सामाजिक व्यवस्था पर खड़ा है। यद्यपि ग्रामसमाज की प्राथमिक इकाई ऐकाकी (Unitary) या संयुक्त (Joint) परिवार है, सामाजिक सम्बन्धों का निश्चय जाति-विभाजन ही करता है। मोहाना गाँव का जाति-ढाँचा किस प्रकार कार्य

करता है इस पर एक विहंगम दृष्टि डालकर हम इस गाँव के संगठन को भली भाँति समझ सकते हैं। जातिगत सांस्कृतिक संरचना (Cofiguration) में सामाजिक स्थान (Social Status) जन्म से निश्चित होता है। कठोर परम्परागत नियमों के अनुसार व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की प्राप्ति में व्यक्तिगत योग्यता, गुण या सम्पत्ति का सामाजिक पद को निर्धारित करने में कोई विशेष हाथ नहीं होता। किन्तु एक चीज जो आज किसी भी समाजवैज्ञानिक का ध्यान आकर्षित करती है, वह सिद्धान्त और व्यवहार के बीच क बढ़ता व्यवधान है।

मोहना में ब्राह्मण, ठाकुर, अहीर, कुर्मी, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, गड़रिया, नाई, कथिक, कलवार, पासी, धोबी, चमार और भकसोर पन्द्रह जातियाँ निवास करती हैं।

पारम्परिक वर्ण-व्यवस्था के अनुसार इन पन्द्रह जातियों का वर्गीकरण कठिन है। किन्तु जाति-श्रेष्ठता की दृष्टि से, जो साथ खाने, हुक्का-पानी स्वीकार करने, उठने-बैठने और अभिवादन में परिलक्षित होती है, यह पन्द्रह जातियाँ श्रेणी-बद्धक्रम में रक्खी जा सकती हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यह पदानुसार वर्गीकरण एक अस्थायी प्रयत्न है। एक जाति की अन्य जातियों के सामने क्या स्थिति है, इसे उसके अन्य जातियों के साथ सम्बन्धों में देखा जा सकता है।

(क)	ब्राह्मण		ठाकुर
(ख)	अहीर		कुर्मी
	लुहार	गड़रिया	बढ़ई
		कुम्हार	
		नाई	
		कथिक	
		कलवार	
(ग)	पासी		धोबी
		चमार	
		भकसोर	

जाति-श्रेणी-क्रम के इस त्रिविभाजन में ब्राह्मण और ठाकुर सबसे ऊँची सीढ़ी पर हैं। गाँव में इनकी सम्मिलित जनसंख्या २३ प्रतिशत है। जाति श्रेणी-क्रम में ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊँचा है। अछूतों को छोड़कर वह समस्त जातियों के धार्मिक कृत्यों में पुरोहित का काम करता है। वह अन्य किसी जाति के सदस्य के हाथ का नहीं खाता। वह उनके यहाँ से "सीधा" ग्रहण कर स्वयं अपने हाथ से अपना भोजन पकाता है। ठाकुरों से भी जो सामाजिक सीढ़ी के पहले डंडे पर हैं, वह "सीधा" ही स्वीकार करता है। ब्राह्मणों का शैक्षणिक और धार्मिक पेशा और उनका तद्जनित ऊँचा स्थान उनके लिए कठोर और पवित्र जीवन बिताने का विधान करता है। ठाकुर ब्राह्मणों के ऊँचे पद

स्वीकार करते हैं और साथ बैठने में इस बात का ख्याल रखते है। गाँव में सहयोग का आधार बदला है। किन्तु गाँव के रामदीन शुक्ल को किसी जाति के सदस्य का काम किए बिना भी उसकी मदद मिलती है। व्यवहार में ब्राह्मण को यह सम्मान और सेवा तभी प्राप्त होती है जबकि वह शास्त्रों के अनुसार सात्विक जीवन बिताए। यदि ऐसा नहीं होता तो उन्हें उससे हाथ धोना पड़ता है। अपने व्यक्तिगत दुराचरण और ऐशों के कारण मोहना के कई ब्राह्मण अपना सम्मान खो बैठे हैं। उदाहरणार्थ रमई बाबा के एक ब्राह्मणी के साथ नाजायज सम्बन्ध होने के कारण उसे कोई अपने यहाँ पुरोहिती के लिए नहीं बुलाता। टाकुर विश्वनाथ के मत में गाँव का पुरोहित रामदीन शुक्ल लोभी है, हरिहरप्रसाद शुक्ल जो कि सेना में भी रह चुका है, शराब पीता, जुआ खेलता और शहर के चकलों में जाता है। पिछले जाड़ों में लोगों ने उसे एक खिश्चान के साथ चाय पीते देखा और इसकी खबर सारे गाँव में फैल गई।

इन समस्त कारणों से जाति श्रेणी-क्रम में ब्राह्मणों का पद और प्रतिष्ठा घटती जा रही है। ठाकुरों के नौजवान लड़के ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते। अहीरों ने अपने धार्मिक कार्यों में दूसरे गाँव के ब्राह्मणों को बुलाना शुरू कर दिया है। पुरोहित परिवार की बिना बदले के सेवा देना अब लोग पसन्द नहीं करते। हरिहरप्रसाद को शिकायत है कि अब उसे सिंचाई कराने के लिए चमारों को मजदूरी देनी पड़ती है।

ठाकुरों का गाँव में सबसे ज्यादा ज़ोर है। संख्या में भी उनका दूसरा स्थान है। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से गाँव में उनका सबसे अधिक प्रभाव है। वह उनमें से हैं जो गाँव में २५० वर्ष पूर्व सबसे पहले बसे। १९५१ में जमींदारी उन्मूलन से पहले वह गाँव के जमींदार थे। वह सामन्ती रीति से रहते और गाँव की समस्त जातियों द्वारा गाँव के शासक समझे जाते थे। यद्यपि जाति-व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान अधिक ऊँचा था फिर भी ठाकुरों को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इसका कारण शायद यही था कि अन्य सब जातियाँ उनकी 'आसामी' थीं और उन्हें किसी भी समय बेदखल किया जा सकता था। देश की स्वाधीनता के पश्चात् ज़मींदारी उन्मूलन, किसानों द्वारा भूमिधारी और सीरदारी अधिकारों की प्राप्ति ने ठाकुरों की प्रतिष्ठा और दबदबे को बहुत कम कर दिया है।

२२ ठाकुर परिवारों में २० परिवार चौहान उपजाति और एक खानदान के और २ परिवार बैस उपजाति के हैं। व्यक्तिगत ईर्ष्या और जाति-अन्तर्गत प्रति-स्पर्धाएँ प्रायः खुले झगड़ों का रूप धारण कर लेती है, लेकिन जब पूरी जाति का प्रश्न आता है, सब ठाकुर हाल तक मिलते रहे हैं। गाँव में अपनी आर्थिक शक्ति और सामाजिक प्रभाव के ह्रास के परिणामस्वरूप अपनी खोई शक्ति को बटोरने के लिए अन्य गाँवों के ठाकुरों से सांठ-गांठ के प्रयत्न हो रहे है और गाँव में अन्तर्जातीय प्रतियोगिता और संघर्ष ज़ोर पकड़ रहे हैं। अभी भी समस्त जातियाँ अपने झगड़े निपटाने के लिए

ठाकुरों की मदद लेती है। यहाँ तक कि ब्राह्मण भी, जो पारम्परिक दृष्टि से ठाकुरों से ऊँचे हैं, आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए उन्हें पंच बनाते हैं। केवल अहीर ही ऐसे अपवाद हैं जो कि ठाकुरों की सत्ता की अधिक परवाह नहीं करते न ही वे अपने को ठाकुरों से नीचा समझते हैं और ठाकुरों के प्रभाव को कम करने में प्रधान कारण वे ही हैं। यद्यपि जमींदारी समाप्त हो गई है, फिर भी पुराने ज़मींदारों का गाँव में पर्याप्त प्रभाव है।

ठाकुर जब ज़मींदार थे तो वे अपनी खेती आसामियों से कराते थे लेकिन अब वह उसे अपने हाथ से करने लगे हैं। किन्तु अभी उनकी काफी ज़मीन अन्य जातियों द्वारा 'बँटाई' पर जोतने के लिए ले ली जाती है। इसके अलावा स्थानीय महाजन भी अपनी स्थिति का लाभ उठाने से नहीं चुकते।

गाँव के सामाजिक ढाँचे की माध्यमिक सीढ़ी पर गड़रिया, कुर्मी, कुम्हार, कथिक, कलवार, लुहार, और नाई हैं जिनकी सम्मिलित जनसंख्या गाँव में २०.५ प्रतिशत है।

अहीरों का जाति-कर्म पशु-पालन है। वे गाय-भैंस पालते, उसका दूध बेचते, उससे घी और खोवा बनाते हैं, और पशुओं की कमी के कारण उन्होंने खेती को दूसरा पेशा बना लिया है। श्रेष्ठता की दृष्टि से अहीर और कुर्मी गड़रियों से ऊँचे हैं और यह लुहार, बढ़ई और कुम्हार से श्रेष्ठ हैं। बाद की यह तीनों जातियाँ दस्तकार वर्ग का निर्माण करती हैं। कुम्हार का दर्ज़ा बढ़ई और लुहार से नीचा समझा जाता है। नाई इन सब जातियों की 'परजा' है। कथिक और कलवार उससे भी नीचे हैं।

अहीर अपने को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्नशील हैं। वह अपने गुरुजी द्वारा दी गई कण्ठी पहनते तथा अपने को भगत कहते हैं। यह शाकाहारी हैं और किसी अन्य जाति, यहाँ तक कि ठाकुरों तक, के हाथ का भी खाना स्वीकार नहीं करते। जबकि ठाकुर अहीर के हाथ का पानी पी लेते हैं, अहीर ठाकुर के छुए बर्तन का भी पानी ग्रहण नहीं करते। अहीरों और ठाकुरों के अन्तर्जातीय सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण नहीं हैं।

अहीर और कुर्मियों की सामाजिक और जाति स्थिति के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। कुर्मी एकान्ततः कृषक जाति है और गाँव में एक मात्र कुर्मी को ही सभी जातियों के सदस्य सम्मान से देखते हैं। यद्यपि कुम्हार की तुलना में कुर्मी निस्सन्देह श्रेष्ठ हैं पर कुम्हार उनके पास इनाम नहीं लेने जाते और अपने को उनके बराबर कहलाने का प्रयत्न करते हैं।

गड़रियों के चार परिवारों का अपना पृथक् टोला नहीं है। उनमें से दो अहीरन और पासियन टोला में रहते हैं। भेड़-बकरियाँ उनका जाति-कर्म है। किन्तु गाँव में अब किसी गड़रिये के पास भेड़ें नहीं हैं यद्यपि उनके पास कुछ बकरियाँ हैं। किन्तु कुछ अन्य जाति के लोगों ने भी बकरियाँ रखना शुरू कर दिया है। गड़रियों ने अब

खेती को अपना लिया है। गड़रिया एक साफ जाति मानी जाती है। इसके सदस्य ठाकुरों से और ठाकुर इनसे पक्का भोजन ग्रहण करते हैं। चमार और पासी इनसे कच्चा भोजन भी ग्रहण कर लेते हैं।

दस्तकार जातियों के तीन समूहों में बढ़ई, लुहार और कुम्हार से श्रेष्ठ हैं जैसा कि विभिन्न जातियों के उनसे प्रचलित सम्बन्धों से स्पष्ट है। ठाकुर, बढ़ई और लुहार से पक्का भोजन ग्रहण करते हैं, पर कुम्हार से नहीं।

तीनों बढ़ई परिवार किसी पृथक् मोहल्ले में नहीं रहतें। बढ़ईगिरी की आमदनी पर्याप्त न होने के कारण, वह भी खेती की ओर जा रहे हैं और बढ़ईगिरी उनका गौण पेशा बन गया है। गाँव में लुहार का केवल एक परिवार है। वह भी अनुभव करता है कि लुहारी उसकी पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अपर्याप्त है। वह भी खेती की ओर मुड़ रहा है।

पाँचों कुम्हार परिवारों के घर पासियन टोला में है। इनमें से चार तो खेती करते हैं, केवल एक परिवार मिट्टी के बर्तन बनाने का आनुवंशिक पेशा करता है।

चूँकि दस्तकार समूह की सभी जातियाँ अपने काम को अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अपर्याप्त पा रही हैं, वह अपने जाति कर्म को केवल अपनी अतिरिक्त आमदनी का साधन बनाए हुए हैं।

नाई, कथिक (पेशेवर नाचनेवाले) और कलवार (बनिया) माध्यमिक स्तर की अन्य जातियाँ हैं। नाई, जिसका पैतृक पेशा बाल काटना है, जजमानी व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। चमार और भकसोर को छोड़ कर वह सभी जातियों की सेवा करता है। और उसके जजमान पास के गाँवों तक फैले हुए हैं।

गाँव में एक मात्र कथिक परिवार का आगमन कुछ साल पहले हुआ। जाति-मान-चित्र पर उनका स्थान अनिश्चित है। वह वैवाहिक अवसरों पर बाजा बजाने और नाचने का काम करते हैं। माध्यमिक स्तर की समस्त जातियों में कलवार (दो परिवार) का स्थान सबसे नीचा है। यहाँ तक कि कभी-कभी पासी जाति का कोई-कोई सदस्य भी उसके हाथ का पानी ग्रहण नहीं करता।

निम्नजातियों में पासियों की जनसंख्या कुल गाँव का ४८·६ प्रतिशत है। दो परिवारों को छोड़ कर अन्य १९ परिवार अपने पृथक् मुहल्ले में रहते हैं। इस मुहल्ले का नाम पासियन टोला है। यह मिश्रित मोहल्ला है जिसमें कुम्हार, गड़रियों और लुहारों के भी घर हैं। ये जातियाँ पासियों से श्रेष्ठ मानी जाती हैं। पर शायद उनकी संख्या अधिक होने के कारण उस मुहल्ले का नाम उनके नाम पर पड़ा। परम्परा से पासियों का काम ताड़ी निकालना और सुअर चुगाना है, किन्तु आजकल इस गाँव का कोई भी पासी यह काम नहीं करता। सामूहिक रूप में पासी अपनी ईमानदारी और विश्वासपात्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। पहले ज़माने में वह गुप्त संवाद भेजने और

पहरेदार के काम पर नियुक्त किए जाते थे। वह ठाकुरों के गुरैत (सेवक) हैं और अपने मालिकों की सर्व प्रकार से सेवा करते हैं।

पासियों और धोबियों के सापेक्ष पद के बारे में गाँव वालों में कुछ मतभेद है। पासी धोबियों को मैले कपड़े धोने के कारण अपने से नीचा समझते हैं। पासी स्वयं उनसे अपने कपड़े धुलवाते हैं और उसके लिए फसल पर बँधा हुआ अनाज देते हैं। वह स्वयं धोबियों का कोई काम नहीं करते और न ही उनसे अन्न या जल ग्रहण करते हैं।

इसके विपरीत धोबी (७ परिवार) अपने को पासियों से ऊँचा मानते हैं, क्योंकि पासी सुअर चुगाते थे। यद्यपि मोहाना के पासियों ने यह धंधा छोड़ दिया है। उनकी बिरादरी के अन्य सदस्य दूसरे गाँवों में यह धंधा करते हैं और गाँव के ठाकुरों का रुख भी उनके प्रति ऐसा ही है। जबकि पासी ठाकुरों के गुरैत हैं, धोबी नहीं। धोबी को अपने जजमानों से फसल पर बँधा अनाज मिलता है।

चमार (२९ परिवार) गाँव की जातियों में बहुत नीचे समझे जाते हैं। वह सब प्रकार की मजदूरी करते हैं। कुछ बटाई और पाट के रूप में खेती करते हैं। चार चमार परिवार जानवरों का चमड़ा उतार कर उनकी खाल बाजार में बेचते हैं। ये लोग गोसी कहलाते हैं और अन्य चमार उन्हें अपने से नीचा मानते हैं।

गाँव के त्रिविभाजन में भकसोर (२ परिवार) का स्थान सबसे नीचा है। चमार तक भी उन्हें अपनी प्रजा समझते हैं। मोहाना में केवल यही एक ऐसी जाति है जो टोकरी, बेड़ी या सूप बनाने के अपने पैतृक पेशे पर एकांततः निर्भर है। यही एक ऐसी जाति है जो अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए खेती की ओर नहीं गई है। लेकिन यह गाने-बजाने का भी काम करते हैं और शादी-ब्याह के अवसरों पर इनके बैंड बाजे की बहुत मांग रहती है।

अध्याय १४

ग्राम्य जीवन का विश्लेषण

भारत में आज हर समाजशास्त्री और नृतत्त्ववेत्ता के सामने यह एक साधारण प्रश्न है कि किस तरह और किस सीमा तक उसकी गवेषणा व्यावहारिक उद्देश्यों और विकास-कार्यक्रमों के लिए प्रयुक्त की जा सकती है। देश के आयोजन में लगे हुए व्यक्तियों का कहना है कि वे भौतिक और जीवविज्ञानों के उद्देश्यों और क्षेत्र से परिचित हैं; वे यह भी जानते हैं कि अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, व्यावसायिक प्रशासन या क़ानूनशास्त्र से वे क्या ले सकते हैं, किन्तु वह नहीं जानते कि समाजशास्त्र और नृतत्त्व उन्हें क्या दे सकते हैं। लोगों का विचार था कि योजना-आयोग की गवेषणा कार्यक्रम समितियों में कुछ समाजशास्त्रियों और नृतत्त्ववेत्ताओं के ले लिए जाने से यह समस्या हल हो गई। पर उन्हें अपने साथी अर्थशास्त्रियों को अपनी सार्थकता सिद्ध करने में अत्यधिक कठिनाई उठानी पड़ी। सामान्यतः समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र का माल बेचने में सर्वत्र और विशेषतः भारत में व्यावसायिक बुद्धि का प्रदर्शन नहीं हुआ है और आज गोदामों में उनका माल बेकार पड़ा हुआ है। वह तात्कालिक समस्याओं और सामाजिक चिकित्सा के उपयोग का नहीं है। भारत में समाजशास्त्री और नृतत्त्व-वेत्ता अन्य देशों, विशेषतः अमरीका, में हुई समाजविज्ञान गवेषणा की देनों को हमारे सम्मुख रखते हैं, लेकिन उनके पास अपनी कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसका कि आयोजन और विकास कार्यक्रमों पर कोई असर पड़ सके या जो वर्तमान सामाजिक समस्याओं पर शासकों के दृष्टिकोण को बदल सके।

सामाजिक गवेषणा के छिद्र

आज संसार में सर्वत्र ही समाजवैज्ञानिक अपनी गवेषणा पद्धति और उद्देश्यों के बीच एक व्यवधान को अधिकाधिक जान रहे हैं। हमारे देश में गवेषणाएँ समस्योन्मुख नहीं हैं। कुछ साल पहले भारत की सब से पुरानी नृतत्त्व पत्रिका 'मैन इन इंडिया' ने विश्वविद्यालयों और सरकार के नृतत्त्व विभाग द्वारा की गई गवेषणाओं के प्रकार और विषयवस्तु के सम्बन्ध में एक पड़ताल की थी। उसमें प्राप्त उत्तरों से यह स्पष्ट है कि अभी तक हमारी गवेषणा का रुख कितना निरुद्देश्य रहा है, किस प्रकार हमारे कार्यक्रम

बिना सोचे समझे शुरू कर दिये गये हैं और वह हमारे विज्ञानों के विकास और उपयोगिता की दृष्टि से कितने बेकार रहे हैं। गवेषणा के लिए हमारा जोश अभी भी नौसिखुआ अनाड़ी है। योग्यता का अभाव है। गुण की तुलना में मात्रा का अधिक मूल्य है। जैसा कि कुछ अन्य देशों में किया गया, हम किसी समस्या के प्रति कोई एकीकृत दृष्टिकोण, कोई सैद्धान्तिक पक्ष या क्षेत्रीय पद्धति विकसित करने में सफल नहीं हुए हैं। अन्य स्थानों पर जन्मे सिद्धांत और व्यवहार की अन्ध-स्वीकृति, अपने पक्ष के समर्थन में लेखकों के असम्बद्ध विचारों और परस्पर विरोधी मतों के उद्धरणों ने हमारी गवेषणा को नौसिखुआ और अयोग्य बना दिया है। समाजशास्त्र और नृतत्त्व के क्षेत्र में सबसे बड़ी सफलता आज किसी विदेशी विद्वान के मत से अपने परिणामों का समर्थन मात्र रह गया है। सब गवेषणाओं के साथ ऐसा नहीं है। पर इसके अपवाद उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

इस कमी को कैसे दूर करें?

सुचारु रूप और शीघ्रता से इस अभाव की पूर्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं: (१) गवेषणा में संलग्न विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं के बीच सहयोग और एकीकरण, और (२) एक प्रकार के केन्द्रीय सम्मिलित कोष से गवेषणा के लिए धनराशि का न्यायपूर्ण वितरण। इस केन्द्रीय सम्मिलित कोष का शासन शैक्षणिक एवं उदार आधार पर होना चाहिए। आज यदि किसी अन्य नृतत्त्ववेत्ता से पूछें कि वह अमुक क़बीले का अध्ययन क्यों कर रहा है तो वह प्रायः अपनी आर्थिक असमर्थता को उसका कारण बतलायेगा। प्रायः यह सत्य भी है। विश्वविद्यालयों के पास समाजशास्त्र और नृतत्त्व की गवेषणा के लिए अर्थाभाव है। किन्तु भारत सरकार के नृतत्त्व विभाग के बारे में यह सही नहीं है। इस विभाग ने हाल में नागपुर में एक अध्ययन केन्द्र की स्थापना की, जबकि वहाँ पहले से एक योग्य संचालक के अंतर्गत एक क़बीली गवेषणा केन्द्र चल रहा है। इसी प्रकार बिहार सरकार द्वारा संचालित क़बीली गवेषणा संस्था और भारत सरकार द्वारा स्थापित सामुदायिक योजना और कल्याण-शासन द्वारा अधिकारियों के परीक्षण के लिए स्थापित ट्रेनिंग इनिस्टीटयूट रांची में स्थित बिहार विश्वविद्यालय के नृतत्त्व विभाग के प्रतियोगी हैं। एकीकरण और आयोजन का अभाव है और यह भय है कि व्यक्तिगत झगड़ों और संशयात्मक स्पर्धा में योग्यता और गवेषणा के अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहते हैं तो एक जैसी दो संस्थाओं और गवेषणों का होना तथा राज्य और केन्द्रीय संस्थाओं और विश्वविद्यालयों की प्रतियोगिता तत्काल बन्द होनी चाहिए। इसके लिए नृतत्त्व विशेषज्ञों के एक सलाहकार बोर्ड की आवश्यकता है जो कि प्रादेशिक आधार पर विभिन्न संस्थाओं और विश्वविद्यालयों के बीच एकीकरण स्थापित कर सके और गवेषणा के विषय निश्चित कर सके।

अर्थाभाव से पीड़ित पर-सेवा के लिए तत्पर विश्वविद्यालयों के नृतत्त्व विभागों को साधन सम्पन्न सरकारी संस्थाओं की प्रतियोगिता से वास्तविक भय है। पहले ही उनसे गवेषणा का पर्याप्त क्षेत्र छीना जा चुका है।

अधिक संचार की आवश्यकता

उपर्युक्त अवरोधों के उपरांत भी हमारे हाथ में दीर्घ संभावना-युक्त अनेक महत्त्वपूर्ण गवेषणा-योजनाएँ हैं, किन्तु गवेषणा कार्यकर्त्ताओं और उन व्यक्तियों के बीच जिन्हें उनकी आवश्यकता है या जो उसका उपयोग करने की स्थिति में हैं संचार के अभाव में उनकी उपयोगिता बहुत कम हो जाती है। कुछ समय से भारत में युद्धनीति और युद्ध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामाजिक गवेषणा की पर्याप्त निन्दा हुई है। पाश्चात्य देशों के समाज-वैज्ञानिकों ने हमारे सामने इस बात की एक लम्बी सूची रखी है कि किस प्रकार पिछले युद्ध में उनकी गवेषणाओं का सफल प्रयोग हुआ और वे भविष्य में भी ऐसी आपद्कालीन समस्या के लिए तैयार हैं। इसने सामाजिक गवेषणा, विशेष कर संचार सम्बन्धी अध्ययनों के प्रति जनता के मन में पर्याप्त शंकाएँ उत्पन्न कर दी हैं।

गवेषणा के शांतिकालीन उपयोग के प्रदर्शन तथा समाज वैज्ञानिकों द्वारा प्रशासन और कल्याण-संगठनों की समस्याओं की गवेषणा और मूल्यांकन की आवश्यकता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जहाँ गवेषणा समस्योन्मुख भी रही है, गवेषकों ने अपने निदान और चिकित्सा पर स्वयं अमल नहीं किया है। इसलिए हमारे पास उनकी गवेषणा के परिणामों के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं है। इसके लिए गवेषणा के प्रयोग की सफलता और सफलता के अभाव के माप की आवश्यकता है। यह तब तक संभव नहीं जब तक कि गवेषक का कार्य अपनी खोजों को उसके प्रयोक्ताओं को दे देना मात्र है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक गवेषक स्वयं सामाजिक इंजीनियरों का भी काम करें। सामाजिक वैज्ञानिक को अपनी योग्यता में आत्म-विश्वास प्राप्त करने के लिए उस योजना के आयोजकों के साथ, जिसमें कि उसने काम किया है, तब तक रहना चाहिए जब तक वह समाप्त नहीं हो जाती। इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि सभी गवेषणाओं का चिकित्सात्मक मूल्य है या उनका उपयोग किया जा सकता है। सैद्धान्तिक गवेषणा का अपना महत्त्व है और उसका कार्य व्यावहारिक गवेषणा की पृष्ठभूमि प्रदान करना है। हमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्योन्मुख या कर्मोन्मुख गवेषणा के बीच भेद करने की आवश्यकता नहीं। इससे हम सामाजिक विज्ञानों में गवेषणा की भूमिका और कार्य में व्यर्थ की बहस से बच सकते हैं। कुछ गवेषणा व्यावहारिक हो सकती है, पर कार्योन्मुख न होने के कारण उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

अब वह समय आ गया है जब समाजशास्त्रियों और नृतत्त्ववेत्ताओं को अपनी पुरानी अटारी छोड़कर वर्तमान समस्याओं का सामना करना चाहिये जिनके समाधान के लिए

सूक्ष्म गवेषणा की आवश्यकता है। अपनी गवेषणा को उपयोगी बनाने के मार्ग की एक बाधा पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की है। इसलिए यह परमावश्यक है कि हम विभिन्न शब्दों की परिभाषाएँ निश्चित करें।

ग्राम्य विश्लेषण का जटिल स्वरूप

नृतत्त्ववेत्ता प्रायः अपनी गवेषणा दृष्टि को समग्र (Total) कह कर सम्बोधित करते हैं, किन्तु वह इसमें बहुत तर्कसंगत नहीं होते। वे ग्राम्य जीवन के अध्ययनों में उस पद्धति का अनुसरण करते हैं जिसके अनुसार किसी सामाजिक ढाँचे की एक छोटी इकाई के विश्लेषण से ही सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं के पूरे ताने-बाने का बोध हो जाए। ऐसे अध्ययनों को माइक्रोकॉस्मिक (Microcosmic) अध्ययन कहा गया है। लेकिन ये अध्ययन उस समग्र ढाँचे के साथ, जिसको कि हम जानना चाहते हैं, न्याय नहीं करते। उदाहरणार्थ हम सामाजिक ढाँचे के मूल आधार जाने बिना एकांगी रूप से रक्त सम्बन्धियों, परिवार या गोत्र का अध्ययन कर सकते हैं। हम धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों में व्यक्ति या समूहों की भूमिका समझे बिना धर्म का अध्ययन कर सकते हैं। इस परिवार या संयुक्त परिवार के बड़े समूह का पृथक्करण किए बिना विवाह व्यवस्था का अध्ययन करते हैं। हम .अन्तर्वैयक्तिक या अन्तर्जातीय सम्बन्धों का स्वरूप समझे बिना जाति-व्यवस्था का अध्ययन करते हैं। क्रियात्मक स्कूल (Functional School) का ऊँचा दावा है कि वह निर्धारित वातावरण में सम्बन्धों, परिवर्त्तनों और पारस्परिक प्रत्युत्तरों का अध्ययन करता है, किन्तु किसी क्रियात्मकतावादी (Functionalist) ने किसी क़बीले या समुदाय में सम्पूर्ण अन्तः सम्बन्धों के ताने-बाने का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। चाहे हमारे यन्त्र कितने ही तीखे क्यों न हों यह संभव नहीं है। हमें अपनी परंपरागत माइक्रो-कॉस्मिक और समग्र दृष्टिभंगी (Total Approach) का प्रलोभन छोड़ देना चाहिए क्योंकि कोई भी ग्राम-समुदाय न पहले एक बन्द इकाई था और न आज भी है। सम्बन्धों या कड़ियों और ग्राम्य-सम्बन्धों को समझने के लिए एक ऐतिहासिक दृष्टि ज़रूरी है, क्योंकि गाँव लोगों ने बसाये हैं, वह उनसे पहले स्थित नहीं थे। अनेक भागों में हम ऐसे समूह पाते हैं, जो कि एक कार्यशील और जीवित इकाई की तरह रहते हैं और अन्य स्थानों पर हम यह भी देखते हैं कि एक ही पूर्वज के वंशजों ने अनेक गाँवों की नींव रक्खी। गाँव के इतिहास को जाने बिना गाँव के नेतृत्व और गुटबन्दी इत्यादि तथ्यों की समीचीन व्याख्या नहीं हो सकती।

परिमाणात्मक सूचनाओं (Quantification) *की आवश्यकता*

क़बीलों और गाँवों के अधिकांश अध्ययन गुणात्मक (Qualitative) हुए है। अब

हम विस्तृत सूचनाओं के संकलन की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। तत्ववेत्ता को, जब तक कि वह क़बीली समूह के प्रवास या जनसंख्या के ह्रास का ही अध्ययन न कर रहा हो, जनसंख्या के आँकड़ों के संकलन में कोई दिलचस्पी न थी। क़बीली जनसंख्या-शास्त्र (Tribal Demography) पर बहुत कम पुस्तकें हैं। लुडविक, क्रिजीविकी और हाल ही में फ्रैंक लौरीमोर द्वारा सम्पादित दो पुस्तकें इस दिशा में महत्त्वपूर्ण हैं। इससे पहले कि हम ग्राम्य-अध्ययन करें, वहाँ की जनगणना सबसे ज़रूरी है। बुनियादी तथ्यों के लिए परिमाणात्मक (Quantitative) दृष्टिकोण आवश्यक है और ग्राम्य समस्याओं के प्रसंग में यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न जातियों, उनमें स्त्री-पुरुषों, विभिन्न आयु-वर्गों की संख्या, उनके पेशे, आमदनी, जन्म-मृत्यु की दर, साक्षरता और शिक्षा आदि के प्रसार के सम्पूर्ण आँकड़े किसी भी ग्राम्य अध्ययन के लिए अनिवार्य कहे जा सकते है।

आयोजना के लिए अभिनवीकरण

गाँवों में परिवर्तन और प्रतिरोध के अध्ययन के लिए परिमाणात्मक दृष्टिकोण इच्छित ही नहीं, अनिवार्य है। संस्कृति में परिवर्तन और संक्रमण का अध्ययन नृतत्त्ववेत्ता और समाजशास्त्री की अभिरुचि का मुख्य विषय बन गया है। अब हम प्राक्अक्षर (Pre-literate) और ग्राम्य समुदायों के सांस्कृतिक विवरणों से संतुष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि प्रगति के लिये आयोजन और पुनर्वासन अब अछूते क़बीलों और ग्राम समुदायों तक पहुँच चुके हैं। सामाजिक परिवर्तन इतनी तेज़ी से घटित हो रहे हैं कि जब तक सामाजिक गवेषणा समस्या का सामना करने योग्य होती है, समस्या का स्वरूप, संगति, प्रसंग, उसकी दिशा और तीव्रता, सभी इस बीच बदल गए हो सकते हैं। तीसरा विकल्प इच्छित संस्थान (Pattern) या लक्ष्य के अनुरूप परिवर्त्तन का संचालन है। परिवर्तन प्रत्येक ढाँचे से अन्तर्हित है और यह बाहर से लाया जा सकता है। दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों के अन्योन्याश्रित प्रतिरोध है। प्रतिरोध का स्वरूप अवश्य सांस्कृतिक संस्थान या परिवर्तन के प्रभाव पर निर्भर होता है। इसलिए पुनर्निर्माण में सहायता देने के लिए हमें विभिन्न समुदायों और विभिन्न वर्गों में सामाजिक परिवर्तन के लक्षणों या गुणों की खोज करनी होगी। यद्यपि अभिनवीकरण (Innovation) प्रायः सदैव प्रतिरोध की सृष्टि करते हैं, तथापि परिवर्तन के मूलाधार वही हैं। यदि ये जनता की सांस्कृतिक मूल धारणाओं से असंगत हो तो इनका भीषण प्रतिरोध होगा। यदि ये जनता की मूल धारणाओं के ही विरुद्ध हों, तो उनकी स्वीकृति की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। आयोजित पुनर्निर्माण के उद्देश्यों को स्पष्ट भाषा में व्यक्त करना आवश्यक है, ताकि जिन समूहों के लिए यह प्रस्तावित हैं उन व्यक्तियों और समूहों पर उनकी प्रतिक्रियाओं का

का अवलोकन किया जा सके। यह इतने लचीले होने चाहिए की जनता की आवश्यकताओं और प्रत्युत्तरों के अनुरूप उनमें इच्छित परिवर्त्तन किए जा सके।

भारतीय जीवन विविधता से परिपूर्ण है। अतएव यदि हमें योजना की आवश्यकता है तो हमें विभिन्न समुदायों और प्रदेशों के लिए कई और वैकल्पिक योजनाओं की आवश्यकता होगी। ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाले नृतत्त्ववेत्ताओं ने परिवर्तन के प्रवेश और परिवर्तन की स्वीकृति के बीच कालिक पश्चायन (Time-Lag) की सूचना दी है। विभिन्न प्रकार के परिवर्तन सफल होने में विभिन्न समय माँगते हैं और सामान्यतः किसी परिवर्त्तन या नये आविष्कार की स्वीकृति में लगने वाला समय विभिन्न संस्कृतियों के संस्थानों के साथ बदलना रहता है। यदि हम जनता की कुछ भलाई करना चाहते हैं तो हमें सांस्कृतिक परिवर्त्तन और मूल्यांकन कार्यक्रमों के प्रयोगसिद्ध (Empirical) अध्ययन को अपनी योजना में मुख्य प्राथमिकता देनी चाहिए।

प्रशासन और गवेषणा में सहयोग

जबकि हमें अपने नुस्खे पर विश्वास है, इस तथ्य से दृष्टि ओझल नहीं करनी चाहिए कि उन संस्थाओं का, जिन्हें कि गवेषणा के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, गवेषणा के प्रति गहरा पूर्वाग्रह है। गवेषणा का प्रयोग करने वाले प्रशासन और कल्याणवर्धक संगठनों की यह धारणा है कि गवेषणा उनकी पद्धतियों और नीतियों की आलोचना करेंगी और इसलिए उनके लिए गवेषणा को शैक्षणिक या 'बौद्धिक-विलास' कह कर लांछित करना एक फ़ैशन हो गया है। गवेषणा के लिए यह एक प्रकार की प्रशंसा हो सकती है। किन्तु गवेषक और उसके प्रयोक्ता के बीच ज्ञान का संचार इस प्रकार कठिन और संकुचित होता जाता है। प्रयोक्ता को गवेषणा की सम्भावनाओं से अवगत कराने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा दृष्टिकोण और खोजें सक्षम हों। जनता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के गंभीर ज्ञान के अभाव में भ्रान्त वक्तव्य केवल निन्दा ही नहीं देते, बल्कि गवेषणा के प्रति दुर्भावना की सृष्टि भी करते हैं।

डा. ऑस्कर ल्यूइस जिन्होंने एक विशेषज्ञ विश्लेषक की हैसियत से कुछ महीने दिल्ली के समीप एक गाँव में कार्य किया था अपने एक लेख 'भारत और मैक्सिको में किसान संस्कृति' में सांस्कृतिक दृष्टि से दो ध्रुवों के समान पृथक् टैपोज़लान और रानी-खेड़ा गाँवों के सम्बन्ध में अपनी तुलनात्मक खोजें दी हैं। एक ही सामाजिक वैज्ञानिक ने इस दोनों गाँवों का अध्ययन किया है। किन्तु लेखक के ही शब्दों में 'अगर टैपो-ज़लान और रानी-खेड़ा की सूचनाओं को हम राष्ट्रों के रूप में मैक्सिको और भारत पर समान रूप से लागू कर सकें, जो कि एक आनुभविक या प्रयोगसिद्ध (Empirical) प्रश्न है, तो हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जहाँ तक रक्त सम्बन्ध

की भूमिका का प्रश्न है, भारत मैक्सिको की तुलना में अधिक आदिम (Primitive) है और समाज-सांस्कृतिक विकास की भिन्न अवस्था को व्यक्त करता है।' इस दर्शनीय खोज़ के आधार पर डा० ल्यूइस का मत है, कि 'मतदान, चुनावों और व्यक्तिवाद की भावना पर आधारित आधुनिक पाश्चात्य लोकतन्त्रीय प्रक्रिया का प्रारम्भ मैक्सिकी संस्कृति की तुलना में समकालीन भारतीय संस्कृति के लिए अधिक विदेशी है।' यदि ग्राम्य-विश्लेषण इतने शीघ्र परिणाम प्रस्तुत करने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं कि समाजशास्त्रियों और नृतत्त्ववेत्ताओं को ग्राम्यगवेषणा पर हाथ रखने से मना कर किया जाए। अतः इस बात की बहुत आवश्यकता है कि ग्राम्य जीवन और उसकी समस्याओं का विश्लेषण और व्याख्या करने से पहले समाजशास्त्री और नृतत्त्ववेत्ता भारतीय संस्कृति की धारणाओं, मूल्यों, प्रादेशिक और सामूहिक विशेषताओं के पृष्ठभूमिक ज्ञान का समुचित अर्जन करें।

पद्धति-शास्त्र (Methodolgy)

अन्त में ग्राम्य विश्लेषण के अध्ययन की पद्धति के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द कहना आवश्यक है। जैसा कि हम निर्देश कर चुके हैं भारत में विशेषकर समाज-विज्ञानों के क्षेत्र में समुचित रूप से विकसित अवधारणाओं (Hypotheses) का अभाव है। इसका कारण सम्भवतः महत्त्वपूर्ण मूलभूत तथ्यों का अभाव है। अग्रणी नृतत्त्ववेत्ताओं के प्रयत्नों से जबकि क़बीली क्षेत्र में, हमारे पास भारतीय क़बीली जन-संख्या के सम्बन्ध में अच्छे सांस्कृतिक विवरण हैं, भारतीय गाँवों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। गाँवों के बारे में ऐसी मूलभूत सूचनाओं का सर्वथा प्रभाव है, जिन्हें परीक्षात्मक या कार्यक्रमों में प्रयोग किया जा सके। निस्संदेह भारत में जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक, आध्यात्मिक और काल्पनिक उद्भव पर अवश्य कुछ साहित्य उपलब्ध है किन्तु देश की वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था में उसका क्या सही सही कार्य है इसके अध्ययन की ओर अब तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। समुदाय की जीवन-प्रणाली के प्रसंग में जाति-सम्बन्धों के परिवर्तन के अध्ययन इस व्यवस्था के ढाँचे और प्रक्रिया के वर्तमान कार्यात्मक पहलू पर प्रकाश डाल सकता है। समाजशास्त्रियों और नृतत्त्ववेत्ताओं द्वारा अब यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि अधिक सही अन्वेषणों और संगत अवधारणाओं के भावी विकास के लिए, जिससे कि समाज सुधार के लिए विशिष्ट प्राथमिकताएँ निर्धारित करना संभव हो, समस्याओं को प्रस्तुत करने में प्रारम्भिक गवेषणा पहला क़दम होगा।

ग्राम्य गवेषणाओं के एक ही पहलू को लें। ग्राम्य सामाजिक संगठन के गुणात्मक चित्र के लिए अनुसूचियों और प्रश्नावलियों के बजाय प्रत्यक्ष सक्रिय-अवलोकन (Participant Observation), पूर्वनियोजित साक्षात्कार (Structured Interviews)

और केस-अध्ययन की गवेषणा पद्धतियों पर ज़ोर देना ज़रूरी हैं। विस्तृतक्षेत्रीय (Macrocosmic) अध्ययनों के क्षेत्र में प्रश्नावलि-पद्धति की समस्त उपयोगिताएँ होने के बावजूद हमारा ऐसा अनुमान है कि यह पद्धति ग्राम्य अध्ययन, विशेषकर भारतीय गाँवों के लिए, अपेक्षतया बहुत कम उपयोगी है। ऐसा देखा गया है कि निरक्षर सूचनादाताओं को बन्द प्रश्न (Closed Questions) जिनमें कि पहले से दिये गए उत्तरों में चुनाव करना पड़ता है, समझ में नहीं आते; और खुले प्रश्न (Open Questions) बिना साक्षात्कार के लाभों के, साक्षात्कार का रूप धारण कर लेते हैं। ग्रामवासियों के लिए निश्चित-स्थिति प्रश्नों के बीच अपने प्रत्युत्तरों को बैठाना कठिन हो जाता है, उनके उत्तर हाँ, ना 'संदेहास्पद' या 'मैं नहीं जानता' जैसे सामान्य वर्गीकरण में नहीं आते।

एकत्रित सूचना की कड़ी जाँच करने में समस्त संभव उपायों की खोज आवश्यक है। ज़मीन, गाँव के इतिहास, जन्म-मृत्यु के आँकड़ों के संकलन के साथ, जहाँ संभव हो, उन सूचनाओं का, प्राप्त सरकारी लेखों से मिलान कर लेना चाहिए। एक परिमाणात्मक अध्ययन में अध्ययन के क्षेत्र और ग्राम्य समस्याओं की जटिलता की वृद्धि के साथ साथ अन्वेषक का दायित्व बढ़ जाता है। अध्येताओं का विश्वास अनिवार्य और दीर्घकालीन मसला है। समुचित समय-विभाग का निर्धारण शुद्धता के नियन्त्रण के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत सदिच्छा और विश्वास पारस्परिक सम्मान और विश्वास की सृष्टि करते हैं, जब कि आर्थिक प्रलोभन सूचनादाता और गवेषक के अच्छे सम्बन्धों में अन्तर डालते हैं। इस बात पर अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं कि भारत जैसे गरीब देश में कुछ ऐसे लोगों का मिलना मुश्किल नहीं जो कि लालच से दिलचस्प किन्तु भ्रामक सूचना देने को तत्पर हों। पैसे देकर प्रश्नावलियाँ भराना एक आपत्तिजनक तरीक़ा है। अन्वेषक या सूचनादाता की विश्वस्तता पर संदेह होने पर तो अकेले ही काम करना अच्छा है। इसमें समय की भले ही हानि हो लेकिन सूचनाओं की शुद्धता का लाभ होगा। बुनियादी और सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों के ही सम्बन्ध में यह समान रूप से सत्य है।

सहायक पुस्तक सूची

अध्याय १

Ashley-Montagu, M. F.: *Man's Most Dangerous Myth, The Fallacy of Race* (1947)
An Introduction to Physical Anthropology (1951)
Boas, F. (ed.): *General Anthropology* (1938)
Gates, R.: *Human Ancestry* (1948)
Huxley, J.: *Evolution in Action* (1955)
Keith, Sir A.: "Race and Nation", *Man* (1940), 76
Penniman, T. Y. K.: *A Hundred Years af Anthropology* (1935)
Piddington, R.: "Race and Nation", *Man* (1940), 122
Sarkar, S. S.: *The Aboriginal Races of India* (1954)

अध्याय २

de Terra H., and T. T. Paterson: *Studies on the Ice Age in India and Associated Human Cultures* (1939)
Guha, B. S.: "Negrito Racial Strain in India", *Nature* (1929)
"The Aboriginal Races of India", *Science and Culture* (1935)
The Census of India, 1931, *Report*, vol. I, part 3 (1935)
The Racial Elements in Indian Population (O. U. P.)
Haddon, A. C.: *The Wanderings of Peoples* (1919)
Keith, Sir A.: "The Bayana and Sialkot Crania", *Jr. Anthr. Soc. of Bombay*, vol. IX, no. 6.
Risley, Sir H. H.: *The People of India* (1915)
Sahni, M. R.: *Man in Evolution* (1951)
Sankalia, H. D.: *Investigations into Prehistoric Archaeology of Gujarat* (1946)

Wheeler, Sir R. E. M.: "Harappa, The Defences and Cemetery", *Ancient India*, no. 3 (147)
The Indus Civilization (1953)
Zeuner, F. E.: *Dating the Past* (1945)
Prehistory in India (1951)
Zuckerman, S.: "The Adichanallur Skulls", *Bull. Madras Govt. Mus.*, N. S., 2:1, 1-24

अध्याय ३

Bijlmar, H. J. T.: "The Relation of Blood Groups to Race and Some Particulars of the South-West Pacific", *J.R.A.I.*, LXV (1935)
Boyd, W. C., et. al.: *Blood Groups*
Fisher, R. A.: "The Coefficient of Racial Likeness and the Future of Craniometry", *J.R.A.I.*, LXVI (1936)
Gates, R.: "Recent Problems in Blood Groups Investigations", *Genetica*, XVIII (1936)
"Tibetan Blood Groups", *Man* (1936)
"The Blood Groups and Other Features of the Mic-Mac Indians", *J.R.A.I.*, LXVIII (1938)
Macfarlane, E. W. E.: "Preliminary Notes on the Blood Groups of Some of the Cochin Castes", *Current Science*, vol. IV, no. 9
"Blood Grouping in the Deccan and Eastern Ghats", *J.R.A.S.B.* (*Sc.*), vol. VI (1941)
Mahalanobis, P. C., D. N. Majumdar and C. R. Rao: "Report on the Anthropometric Survey of the U. P., 1941", *Sankhya*, vol. IX (1949)
Majumdar, D. N.: *Race Realities in Cultural Gujarat* (1950)
"The Blood Groups of the Criminal Tribes of U. P.", *Science and Culture* (1942)
"The Blood Groups of the Doms", *Current Science* (1932)
"The Blood Groups of the Bhils of Gujarat", *Current Science* (1942)
"Blood Groups of Tribes and Castes of the U. P.", *J.A.S.B.* (*Sc.*), vol. IX (1943)

"Rh Frequency in the People of Lucknow", vol. II, vol. II, part 3 (1948)
"ABO Blood in India", *Eastern Anthr.*, vol. V (1951-52)
Malone, R. H. and M. N. Lahiri : "The Distribution of the Blood Groups in Certain Races and Castes of India", *Jr. Med. Res.*, vol. XVI (1929)
Mourant, A. E. : *Blood Groups* (1954)
Wiener, W. : *Blood Groups and Blood Transfusion* (1939)

अध्याय ४

Anshen, R. N. (ed.) : *The Family, Its Functions and Destiny* (1949)
Lowie, R. H. : *Primitive Society* (1949)
Majumdar, D. N. : "Family and Marriage in a Polyandrous Society", *Eastern Anthr.*, vol. VIII (1955)
Malinowski, B. : *Sex and Repression in a Savage Society* (1927)
The Father in Primitive Psychology (1927)
Marx, K. and F. Engels : *Origin of the Family and Private Property*
Morgan, L. H. : *Ancient Society* (1877)
Westermarck, E. : *A Short History of Human Marriage* (1926)

अध्याय ५

Boas, F. (ed.) : *General Anthropology* (1938)
Frazer, Sir J. G. : *Golden Bough,* Abridged Edition (1947)
Haddon, A. C. : *The Wanderings of Peoples* (1919)
Majumdar, D. N. : *Races and Cultures of India* (1958)
Risley, Sir H. H. : *The People of India* (1915)
Roy, S. C. : *The Oraons of Chotanagpur* (1915)
Oraon Religion and Customs (1928)
Wundt, W. : *Elements of Folk Psychology* (1921)

अध्याय ६

Freud, S. : *Totem and Taboo* (1950)

Flugel, J. C.: *Man, Morals and Society*
Hutton, J. H.: *The Sema Nagas* (1921)
Majumdar, D. N.: *The Matrix of Indian Culture* (1948)
Steiner, F.: *Taboo* (1956)

अध्याय ७

Aiyappan, A.: *Anthropology of the Nayadis* (1937)
Bailey, F. G.: *Caste and the Economic Frontier* (1957)
Dutt, N. K.: *Origin and Growth of Caste in India* (1931)
Ghurye, G. S.: *Caste and Class in India* (1956)
Hutton, J. H.: *Caste in India* (1951)
Ketkar, S. V.: *The History of Caste in India* (1909)
O'Malley, L. S. S.: *Caste Customs* (1932)
India's Social Heritage (1934)
Roy, S. C.: "Caste in India", *Man in India*, vol. XIV (1934)
Risley, Sir H. H.: *The People of India* (1915)

अध्याय ८

Culshaw, J. B.: *Tribal Heritage*
Hodson, T. C.: *The Primitive Culture of India*
Hutton, J. H.: *Census of India, 1931, Report*, vol. I, part 3 (1935)

अध्याय ९

Firth, R.: *Primitive Economics of the New Zealand Maories* (1929)
Forde, D.: *Habitat, Economy and Society* (1934)
Ginsberg, M., Wheeler and Hobhouse: *Material Culture of Simpler Societies* (1930)
Herskovits, M. J.: *Economic Anthropology* (1953)
Hodson, T. C.: *Primitive Culture of India*
Morgan, L. H.: *Ancient Society* (1877)
Nag, D. S.: *Tribal Economy* (1957)
Thurnwald, R.: *Economics of Primitive Communities* (1932)

अध्याय १०

Majumdar, D. N.: *The Matrix of Indian Culture* (1948)
Mills, J. P., D. N. Majumdar, et. al. (ed.) : *Essays in Anthropology Presented to S. C. Roy* (1942)

अध्याय ११

Elwin, V. : *The Aboriginals* (O. U. P.)
Loss of Nerves
A New Philosophy for the NEFA (1958)
Majumdar, D. N. : *The Matrix of Indian Culture* (1948)
"Tribal Rehabilitation in India", *UNESCO Bulletin* (1951)
Majumdar, D. N. (ed.) : *The Eastern Anthropologist*, Tribal Number, vol. III (1949)
Nadel, S. F.: "Social Symbiosis", *J.R.A.I.*

अध्याय १२

Bhargava, B. S.: *The Criminal Tribes* (1949)
Majumdar, D. N. : *The Fortunes of Primitive Tribes* (1944)
Government of India: *Report of the Criminal Tribes Act Enquiry Committee* (1949-50)
U. P. Government: *Criminal Tribes Enquiry Committee Report*

अध्याय १३

Baden-Powell : *Indian Village Communities*
Dube, S. C.: *Indian Village* (1955)
Maine, Sir H.: *Village Communities in East and West*
Majumdar, D. N. (ed.) : *Rural Profiles* (1956)
Marriot, M. (ed.) : *Village India* (1955)
Srinivas, M. N., et. al.: *India's Villages* (1955)

अध्याय १४

Majumdar, D. N.: "Rural Analysis—Problems and Prospects", *Eastern Anthr.*, vol. IX (1955-56)

"What the Sociologists can do, What they must do, How they can do, and How they should do it ?", *Eastern Anthr.*, vol. X (1956-57)

Caste and Communication in an Indian Village (1958)

Redfield, R.: *The Little Community* (1955)

Peasant Society and Culture (1956)

गहन अध्ययन के लिए प्रस्तावित अध्ययन परिचय

Aiyappan, A.: *Anthropology of the Nayadis* (1937)

Baines, A.: *Ethnography* (1912)

Crooke, Sir W.: *Tribes and Castes of the N. W. Provinces and Oudh* (1896)

Culshaw, J. B.: *Tribal Heritage*

Das, T. C.: *The Purums*

Das, T. C. and A. N. Chatterjee: *The Hos of Seraikela* (1927)

Datta-Majumdar, N.: *The Santal, A Study in Culture Change* (1956)

Elwin, V.: *The Baiga* (1939)

The Muria and Their Ghotul (1947)

Bondo Highlander (1951)

Religion of an Indian Tribe (1954)

Fürer-Haimendorf, C. von: *The Chenchus* (1943)

The Reddis (1945)

Tribal Hyderabad

The Naked Nagas of Assam (1946)

Grigson, W. V.: *The Maria Gonds of Bastar* (1938)

Gurdon, P. R. T.: *The Khasis* (1914)

Hodson, T. C.: *The Naga Tribes of Manipur* (1911)

Hutton, J. H.: *Sema Nagas* (1921)

The Angami Nagas (1921)

Majumdar, D. N.: *Fortunes of Primitive Tribes* (1944)
The Affairs of a Tribe (1950)
Caste and Communication in an Indian Village (1958)

Mills, J. P.: *The Lhota Nagas* (1922)
The Ao Nagas (1926)

Naik, T. B.: *The Bhil* (1956)

Risley, Sir H. H.: *Tribes and Castes of Bengal* (1891)

Rivers, W. H. R.: *The Todas* (1906)

Save, T. N.: *The Warlis*

Shah, P. G.: *The Dublas* (1958)

Shakespeare, J.: *The Lushai Kuki Clans* (1912)

सिद्धान्त सम्बन्धी तथा अन्य पुस्तकें

Ashley-Montagu, M. F.: *Man's Most Dangerous Myth, The Fallacy of Race* (1947)
Introduction to Physical Anthropology (1951)

Boas, F.: *Anthropology and Modern Life* (1928)

Calverton, V. F. (ed.): *The Making of Man* (1931)

Chappel and Coon, C.: *Principles of Anthropology*

Coon, C.: *Races of Europe* (1948)

Durkheim, E.: *Elementary Forms of Religious Life* (1954)

Firth, R.: *Elements of Social Organization* (1951)
Human Types (2nd ed., 1956)

Frazer, Sir J. G.: *The Golden Bough*, Abridged Edition (1947)

Freud, S.: *Totem and Taboo* (1950)

Goldenweiser, A.: *Anthropology* (1946)

Guha, B. S.: *Census of India*, 1931, *Report*, vol. I, part 3 (1935)

Haddon, Sir A. C., et. al.: *We Europeans* (1935)

Herskovits, M. J.: *Man and His Works* (1947)
Cultural Anthropology (1955)

Hooton, E. A.: *Up from the Ape* (1946)
Kluckhohn, C.: *Mirror for Man* (1950)
Kroeber, A. L.: *Anthropology* (1948)
Linton, R.: *Cultural Background of Personality* (1952)
    The Study of Man (1936)
Lowie, R. H.: *Introduction to Cultural Anthropology* (1934)
    Primitive Religion (1924)
    Primitive Society (1949)
    Social Organisation
Majumdar, D. N.: *Matrix of Indian Culture* (1948)
Majumdar, D. N. and C. R. Rao: *Race Elements in Bengal* (1958)
Malinowski, B.: *A Scientific Theory of Culture* (1944)
    Crime and Custom in Savage Society (1946)
    Dynamics of Culture Change
    Magic, Science and Religion (1948)
Mills, J. P., D. N. Majumdar, et. al. (ed.): *Essays in Anthropology Presented to S. C. Roy* (1942)
Murdock, G. P.: *Social Structure* (1949)
Mourant, A. E.: *Blood Groups* (1954)
Nadel, S. F.: *Foundations of Social Anthropology* (1951)
    Anthropology and Modern Life (1952)
Nag, D. S.: *Tribal Economy* (1958)
Piddington, R.: *Introduction to Social Anthropology*, vol. I (1950) ; vol. II (1957)
Radcliffe-Brown, A. R.: *Structure and Function in Primitive Society* (1952)
Redfield, R.: *The Little Community* (1955)
Rivers, W. H. R.: *Social Organization* (1915)
    Kinship and Social Organisation
Sarkar, S. S.: *The Aboriginal Races of India* (1953)
Tylor, Sir E. B.: *Primitive Culture*
    Anthropology
Westermarck, E.: *A Short History of Human Marriage* (1926)
White, L.: *The Science of Culture* (1949)

पारिभाषिक शब्दावली

अधिवृक्क ग्रंथि	endocrine gland
अननुकूलीकरण	maladaptation
अनर्हता	incompetence
अनुकूलन	adaptation
अनुजातीय	intra-caste
अनुवंश विद्या	genetics
अनुसूची	schedule, list
अनुसूचित जाति	scheduled caste
अनुसूचित क़बीले	scheduled tribe
अनुलोम	hypergamy
अनुबद्ध-श्रमिक	indentured labour
अन्तर्जनित	inbred
अन्तरालीय	interstilial
अपराधोपजीवी	habitual criminal
अपहरण विवाह	marriage by capture
अभिवृत्ति	attitude
अमूर्तिपूजक	aniconic
अलगाव	avoidance
अवधारणा	hypothesis
अवैध	illegitimate
अर्ध-सामुदायिक	quasi-communal
असुरक्षा	insecurity
आकृतिरूप	phenotype
आकृतिशास्त्र	physiognomy
आग्रहण	adoption
आत्मा-पदार्थ	soul-substance

आत्मप्रकाश	assertion
आदमख़ोरी	cannibalism
आदिम	primitive
आदिवासी	aborigine, aboriginal
आनुवंशिक	hereditary
आनुवंशिकता	inheritance
आनुष्ठानिक सूचिता	ceremonial purity
आरोपण	superimposition
आयोग	commission
उंगलियों का असाधारण रूप से छोटा होना	brachydactyly
उत्परिवर्त्तन	mutation
उत्तल कृषि	terrace cultivation
उपकरण	tool
एकता की चेतना	consciousness of kind
एकमार्गीय	unilinear
एकमूलवादी	monogenist
कंकालीय	skeletal
कपाल	cranium, skull
कपालीय	cranial
कपालमिति	craniometry
कपाल की मेहराब	cranial vault
क़बीला	tribe
क़बीली गवेषणा केन्द्र	Tribal Research Institute
कांस्ययुग	bronze age
कापालिक परिमिति	cephalic index
कामाचार	promiscuity
कारक	factor
कार्यों का विशेषीकरण	specialization of functions
कुदुषुजननिक	cacogenic
कुप्रसंगज, रतिज	venereal

कुल	clan
कुलवृंद	phratry
कुलीनता	hypergamy
क्रम	phase
क्रियात्मक अनुदान	functional role
क्रियात्मक विश्लेषण	functional analysis
खानाबदोश	nomad
खुले प्रश्न	open questions
गतिशास्त्र	dynamics
गवेषणा-पद्धति	research technique
गुण	trait, character
गुदना	tattoo
गौण	recessive
चूने का प्रारंगीय	lime carbonate
चेता संहति	nervous system
जनक	genic
जननिक	genetic
जनसंख्या शास्त्र	demography
जलोढ़	alluvial
जाति	caste
जादू	magic
जीव रसायनिक	biochemic
जीव रसायनिक देशनांक	biochemical index
जीवाश्म	fossil
जीवाश्मन	fossilization
जीवाश्मित	fossilized
जैविकीय	biological
जैविकीय नृतत्ववेत्ता	physical anthropologist

टोटमवाद	totemism
तत्त्व	element
ताम्रपाषाण	chalcolithic
दलित जाति	depressed caste
दास	serf
दीर्घकपालता	dolichocephaly
देशनांक	index
दैहिकी	physiology
धर्मविधि	sacrament
धारा	strain
धार्मिक पूजा-पद्धति	cult
नगर	town
नर-बलि	human sacrifice
नदी-उत्तल	river-terrace
नव पाषाण-युग	neolithic age
नातेदारी	kinship
नासिकीय	nasal
निकटाभिगमन	incest
निर्वैयक्तिक	impersonal
निर्हस्तक्षेप	non-interference
निषेध	taboo
निष्कासन	ostracism
नैतिक मूल्य	moral value
न्यादर्श	sample
न्यास	data
पद	status
पद्धति-शास्त्र	methodology
परदारागमन	adultery

पर-संस्कृति-धरण	acculturation
पर-संस्कृति-धरण-विरोध	contra-acculturation
परस्पर-विरोधी धारणा	ambivalent attitude
परिमाणात्मक	quantitative
परिवार	family
परिवीक्षाधीन	probationary
पारिवारिक-संगति	continuum
पितृकेन्द्रीकरण	father-fixation
पितृतंत्री, पितृक	patriarchal
पितृस्थानीय	patrilocal
पुनर्वासन	rehabilitation
पुरा-आस्ट्रेलीय	proto-australoid
पुराइतिहास	protohistory
पुरा ऐतिहासिक	protohistoric
पुरातन-पाषाण	palaeolithic
पुरातत्त्व	archaeology
पुरानवपाषाण	proto-neolithic
पुरावृत्त	myth
पुरासात्विक	palaeontological
पूर्वाग्रह	prejudice
पैतृक	patriarchal
पौषाणिक	pituitary
प्रकार	type
प्रक्रिया	process
प्रजनन	reproduction
प्रजनन-क्षमता	fecundity
प्रजननत्व	fertility
प्रजननरूप	genotype
प्रजननेन्द्रिय	genital organ
प्रजा	tenant
प्रजाति	race
प्रजातिवाद	racism

प्रजातिवैज्ञानिक	ethnologist
प्रजातीय धारायें	racial strains
प्रजातीय मूलशास्त्र	ethnogenics
प्रजात्यंतरवर्त्ती	intra-racial
प्रतिलोम	hypogamy
प्रत्यक्ष प्राप्ति	direct appropriation
प्रत्यक्षसक्रियावलोकन	participant observation
पृथक्करण	segregation, isolation
पृथुकपालता	brachycephaly
प्रभावमुक्त	immunised
प्रमुख	dominant
प्रयोग-सिद्ध	empirical
प्रवास	emigration
प्रविधि	technique
प्रसार	diffusion
प्रागैतिहासिक	prehistoric
प्रादेशिक	territorial
फलक	blade
वधूमूल्य	bride-price
बन्दप्रश्न	closed question
बहुपतिक	polyandrous
बहुपत्नीक	polygynous
बहु-साहचर्य	plural association
बहुमार्गीय	multilinear
बहूदेशीय समाज	plural society
बीजकोष	germ-cell
भविष्य-ज्ञान	divination
भूतपूर्व-अराधोपजीवी क़बीला	ex-criminal tribe
भूमध्यसागरीय	mediterranean
भ्रातृबहुपति प्रथा	fraternal polyandry

भ्रूणहत्या	abortion
मध्यपाषाणकाल	mesolithic time
मनोगत	subjective
मनोविश्लेषण	psychoanalysis
महानगरी	metropolis
मातृक, मातृतंत्री	matriarchal
मातृस्थानीय	matrilocal
मानक	standard
मानवमिति	anthropometry
मानवमितिक	anthropometric
मानवशरीरमिति	somatometry
मानवसम	anthropoid
मिश्रण	cross
मिश्रण की प्रक्रिया	melting-pot process
मूर्तिपूजक	iconic
मूलवाही	aboriginal, autochthone
युक्तीकरण	rationalization
यूथ	herd
यौन व्यवहार	sexual behaviour
यौन साम्यवाद	sexual communism
रक्त-समूह	blood-group
रतिज	venereal
रस्म, संस्कार	ceremony
रूढ़ि	custom
लघु पाषाण	microlithic
लघु पाषाण उपकरण	microlith
लसीय	serological
लसीय-शास्त्र	serology

वंशानुक्रम	lineage
वर्णसंकर	hybrid
वर्णसूत्र	chromosome
वहिर्विवाही	exogamous
वानर	ape
वारंवारता वितरण	frequency distribution
वाहकाणु	gene
विकबीलीकरण	detribalization
विकासवाद	evolutionism
विग्रह	disintegration
विघटन	disorganization
विजातीयता, विजातिता	heterogeneity
विधिक्रिया	ritual
विपर्यय	variation
विवाहपूर्व यौनस्वच्छन्दता	pre-marital sexual freedom
विस्तृतक्षेत्रीय	macrocosmic
विषमायोजन	mal-adjustment
वृक्कोपरि	suprarenal
वृत्ति	instinct
व्यावहारिक गवेषणा	applied research
शरीर निर्माण क्रिया	metabolism
शरीर रचना	morphology
शारीरिकी	anatomy
शिशुहत्या	infanticide
संकरता	hybridization
संघ	confederation
संकुल	complex
संचय	accumulation
संचयात्मक	collectivistic
संचार	communication
संचार सम्बन्धी अध्ययन	communication studies

सुप्रजननशास्त्रविरोधी-चयन	diseugenic selection
स्कन्ध (प्रजातीय)	stock (racial)
स्तर	stage, level
स्तरीय	stratigraphical
स्तनधारी	mammalian
स्थानिक	spatial
स्थानीय प्रशासन	local administration
स्फटिक	felspar
स्वनामी	eponymous
स्वाभाविक अपराधी	habitual offender
स्वीकृति	sanction, acceptance
हिमायन	glaciation
हिमावर्तन	glacial
हिम-प्रत्यावर्तन	inter-glacial

अनुक्रमणिका

फ

ब

भ

म

र

व

श

स